भगवान श्री कुन्द कुन्द-कहान जैन शास्त्रमाला
पुष्प ७१

मोक्षमार्ग प्रकाशक की किरणें

[भाग दूसरा अध्याय सातवाँ]

पं० प्रवर श्री टोडरमलजी कृत मोक्षमार्ग प्रकाशक शास्त्र पर
पूज्य श्री कानजी स्वामी के प्रवचनों का सार

★

अनुवादक
मगनलाल जैन

★

प्रकाशक
श्री दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

प्रथम संस्करण वीर नि० सं० २४८३ प्रति १०००
द्वितीय संस्करण वीर नि० सं० २४८६ प्रति १०००

★

मु य २)

★

मुद्रक : नेमीचन्द बाकलीवाल
कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)

निवेदन

श्रीमान् पण्डित प्रवर श्री टोडरमल जी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रन्थ की रचना की है। उसका सातवाँ अधिकार अत्यन्त उपयोगी है, क्योंकि वस्तुस्वरूप जैन धर्म है, तथापि उसके अनुयायी उसे कुलधर्म मान बैठते हैं और स्वयं वस्तुस्वरूप धर्म के अनुयायी हैं—ऐसा मानकर श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र, तप, स्वाध्याय, प्रत्याख्यान, पुण्य, नवतत्त्व, अनुप्रेक्षा, निश्चय और व्यवहारादि में कैसी गम्भीर भूलें करते हैं—उसका इस सातवें अधिकार में अत्यन्त सुन्दर निरूपण किया गया है। इस अधिकार पर पूज्य श्री कानजी स्वामी ने अपनी अत्यन्त रोचक शैली में विशद रीति से वीर सं० २४७६ में प्रवचन किये थे और वे सोनगढ़ से प्रकाशित होने वाली "श्री सद्गुरु प्रवचन प्रसाद" नामकी हस्तलिखित (गुजराती) दैनिक पत्रिका में क्रमशः दिये जा चुके हैं। उन्हीं को संक्षिप्त करके यह पुस्तक प्रकाशित की गई है।

मोक्षमार्ग प्रकाशक के प्रथम छह अधिकारों के प्रवचनों का संक्षिप्त सार "मोक्षमार्ग प्रकाशक की किरणें" (भाग–१) के रूप में श्री दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट की ओर से वीर सं० २४७६ में प्रकाशित हो चुका है, और दूसरा भाग आपके हाथ में है। पूज्य गुरुदेव के श्रीमुख से प्रगट हुई इन किरणों द्वारा मोक्ष का मार्ग सदैव प्रकाशमान रहे।

आचार्यकल्प पण्डितवर्य श्री टोडरमलजी साहब का महान उपकार है कि जिन्होंने इतनी सरलता से उन सब बातों को बहुत ही सुन्दर ढङ्ग से स्पष्ट किया है कि जो मोक्षमार्ग के साधक जीव को

साधना के मार्ग में अटक जाने के स्थान आते हैं जिसमें कि साधक कहीं भी न अटक कर यथार्थ मार्ग में लग जावे।

दूसरा उपकार है पूज्य श्री गुरुदेव का जिन्होंने श्री पण्डितजी के विषय को विशदरूप से स्पष्टीकरण करके हम साधकों के लिये मार्ग को और भी सरल बनाया।

"श्री सद्गुरु प्रवचन प्रसाद' में प्रकाशित प्रवचनों को संक्षिप्त करने में भाई श्री शिवलाल देवचन्द दोशी वकील राजकोटवालों ने अच्छा सहयोग दिया है उसके लिये उनका आभार मानते है।

गुजराती पुस्तक का हिन्दी अनुवाद भा० श्री मगनलालजी जैन ने किया उसको आद्योपान्त मिलान करने आदि का कार्य ब्रह्मचारी भाई गुलाबचन्दजी ने किया उसके लिये उनका भी आभार मानते हैं।

सोनगढ़
वीर सं० २४८६
पौष वदी १४

रामजी माणेकचन्द दोशी
प्रमुख—श्री दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)



विषय-सूची

[५] जैनाभासोंकी सुदेव-गुरु-शास्त्र भक्ति का मिथ्यापना १६३ से १८९

(६) तत्त्वार्थ श्रद्धान की अयथार्थता १९० से २४९



❀ श्री सिद्धेभ्य नमः ❀

❀ श्री मोक्षमार्गप्रकाशकाय नमः ❀

७
अध्याय सातवाँ

जैनमतानुयायी मिथ्यादृष्टियों का स्वरूप

[वीर सं० २४७६ माघ शुक्ला १०, शनि, २४-१-५३]

दिगम्बर सम्प्रदायमें सच्चे देव-गुरु-शास्त्रकी मान्यता होने पर भी जीव मिथ्यादृष्टि किस प्रकार है? यह कहते हैं। जो वेदान्त, बौद्ध, श्वेताम्बर, स्थानकवासी आदि हैं वे जैन मतका अनुसरण करनेवाले नहीं हैं—यह बात तो इस शास्त्रके पाँचवें अधिकारमें कही जा चुकी है। यहाँ तो यह कहते हैं कि—जो वीतरागकी प्रतिमाको पूजते हैं, २८ मूल गुण धारक नग्न भावलिंगी मुनिको मानते हैं उनके कहे हुए शास्त्रोंका अभ्यास करते हैं—ऐसे जैन-मतानुयायी भी किस प्रकार मिथ्यादृष्टि हैं।

"सत्ता स्वरूप" में श्री भागचन्दजी छाजड़ने कहा है कि दिगम्बर जैन कहते हैं कि—हम तो सच्चे देवादिको मानते हैं इस लिये हमारा गृहीत मिथ्यात्व तो छूट ही गया है। तो कहते हैं कि—नहीं, तुम्हारा गृहीत मिथ्यात्व नहीं छूटा है, क्योंकि तुम गृहीत मिथ्यात्वको जानते ही नहीं। अन्य देवादिको मानना ही गृहीत मिथ्यात्वका स्वरूप नहीं है। सच्चे देव-गुरु-शास्त्रकी श्रद्धा

भी यथार्थ व्यवहार जानकर करना चाहिये, सच्चे व्यवहारको जाने बिना कोई देवादिकी श्रद्धा करे तो वह भी गृहीत मिथ्यादृष्टि है। यहाँ तो अगृहीत मिथ्यात्वकी बात करते हैं—

इस भव तरुका मूल इक जानहु मिथ्या भाव।
ताकौं करि निर्मूल अब, करिए मोक्ष उपाव॥ १॥

—इस संसाररूपी वृक्षकी जड़ एक मिथ्यात्व भाव ही है, उस मिथ्यात्व भावका यदि समूल नाश करदे तो मोक्षका उपाय होता है।

जो सच्चे देवादिको मानते हैं वे जन हैं उनके अतिरिक्त अन्य जीव तो जैन भी नहीं कहलाते, और जो जन हैं तथा जिन आज्ञाको मानते हैं उनके भी मिथ्यात्व रहता है।—उसका यहाँ वर्णन करते हैं। जिन्होंने दिगम्बर सनातन जनकुलमें जन्म लिया हो, वे जिन-आज्ञाका पालन करते हैं, किन्तु देवादिका यथार्थ स्वरूप कैसा होता है उसकी उन्हें खबर नहीं है इसलिये उनके भी मिथ्यात्व होता है। अठारह दोष रहित सर्वज्ञ वीतरागको देव मानते हैं, नग्न दिगम्बर अट्ठाईस मूल गुणोंके धारी जो मुनि—उन्हें गुरु मानते हैं और उनके कहे हुए शास्त्रोंको मानते हैं,—उन्हें भी आत्माके यथार्थ स्वरूपका भान न होनेसे मिथ्यात्व होता है। जिन्हें सच्चे देवादिकी खबर नहीं है उनकी तो यहाँ बात ही नहीं है। जिन्हें आत्माका यथार्थ भान हुआ हो उन्हें तो सच्चे देवादिकी सच्ची श्रद्धा और भक्ति आदि आये बिना नहीं रहते। भले ही नाम न लें, किन्तु उनके अंतरमें तो भक्ति भाव होता है। यहाँ तो उन मिथ्यादृष्टियोंकी बात करते हैं जिन्हें—दिगम्बर जन सम्प्रदायमें जन्म लेकर—सच्चे देवादिकी श्रद्धा होती है किन्तु यथार्थ आत्माका भान नहीं होता।

हम तो सनातन जैन धर्मावलम्बी हैं और वीतरागकी आज्ञाका पालन करते हैं—ऐसा माननेवाले जैन भी मिथ्यादृष्टि होते हैं। उस मिथ्यात्वका अंश भी बुरा है, इसलिये वह सूक्ष्म मिथ्यात्व भी छोड़ने योग्य है।

अब कहते हैं कि जिनागममें निश्चय-व्यवहाररूप वर्णन है, उसमें यथार्थका नाम निश्चय और उपचारका नाम व्यवहार है। षट्खण्डागम और समयसारादिको आगम कहा जाता है, उसमें जैसा निश्चय-व्यवहारका स्वरूप कहा गया है वैसा स्वरूपको जो यथावत् नहीं जानते और विपरीत मानते हैं वे भी मिथ्यादृष्टि हैं। उनकी यहाँ बात करते हैं।

मात्र निश्चयनयावलम्बी जैनाभासोंका वर्णन

जो अकेले निश्चयनयको मानते हैं किन्तु व्यवहारको मानते ही नहीं—ऐसे मिथ्यादृष्टि जीवोंका स्वरूप कहते हैं। कोई कोई जीव निश्चयको न जानकर मात्र निश्चयाभासके श्रद्धानी बनकर अपनेको मोक्षमार्गी मानते हैं वे निश्चयके स्वरूपको नहीं जानते। हमें मोक्ष मार्ग प्रगट हुआ है—ऐसा वे मानते हैं और अपने आत्माका सिद्ध समान अनुभव करते हैं, किन्तु स्वयं प्रत्यक्ष संसारी होने पर भी भ्रमसे अपनेको वर्तमान पर्यायमें सिद्ध समान मान रहे हैं वही मिथ्यादृष्टि—निश्चयाभासी हैं। जैन कुलमें जन्म लेकर, समय सारादि शास्त्र पढ़कर भी जो अपनी मति कल्पनासे पर्यायमें होनेवाले विकारको नहीं मानते वे मिथ्यादृष्टि हैं।

संसारपर्यायमें मोक्षपर्यायकी मान्यता वह भ्रम है

आत्माकी पर्यायमें रागादि हैं वह संसार है, वह प्रत्यक्ष होने

पर भी ससारपर्यायको मोक्षपर्याय मानना सो भ्रम है। एक समयमे दो पर्यायें नही होती—ससारपर्यायके समय सिद्धपर्याय नही होती और सिद्धपर्यायके समय ससारपर्याय नही होती। आत्मामे राग या विकारी पर्याय अपने कारणसे—अपने अपराधसे होती है, उसे कर्मके कारण माने—अथवा अपने परिणाम न माने, किन्तु जडके परिणाम माने वह निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि है। "सिद्धसमान सदा पद मेरो" शास्त्रमे आत्माको सिद्ध समान कहा है वह कथन द्रव्य दृष्टिसे है। आत्मामे सिद्ध होनेकी शक्ति त्रिकाल विद्यमान है इस अपेक्षासे कहा है किन्तु पर्याय अपेक्षासे सिद्ध समान नहीं कहा। स्वभावकी दृष्टिसे विकारका नाश हो जाता है,—इस अपेक्षासे विकारको अभूतार्थ—व्यवहार कहा है।

अन्तरमे छट्ठे गुणस्थानकी मुनिदशा होती है तब बाह्यमे यथार्थ नग्नता होती है।—इसे यथार्थ समझना चाहिये। मात्र नग्न हो जाये वह मुनित्व नही है, तीन कषायोका नाश होने पर नग्नदशा तो सहज ही होती है, किन्तु नग्नदशा न हो और मुनिपना मानले, तो वह भी ठीक नही है।

पर्यायकी अपेक्षासे ससारी और सिद्ध एक समान नही हैं। जिसप्रकार राजा और रक मनुष्यताकी अपेक्षा समान हैं, उसीप्रकार सिद्ध और ससारी जीवत्वकी अपेक्षासे एक-से हैं। मतिश्रुतादि चार ज्ञान भी पूर्ण केवलज्ञानरूप दशाकी अपेक्षासे अनन्तवें भागरूप हैं, तो फिर मिथ्यात्वकी पर्याय जो कि ससारभाव है उसे और सिद्ध पर्यायको समान मानना वह भ्रमणा है। पर्यायमे अनादिसे शुद्धदशा

ही हो तो ससार कसा ? चौदहवें गुणस्थानमें भी ग्रौदयिकभाव—ग्रसिद्धत्व है । इसलिय वतमान प्रगट पर्यायमे 'हम सिद्ध हैं'—एसा जो मानता है वह मिथ्यादृष्टि है ।

जीवक दो भेद हैं—सिद्ध ग्रौर ससारी । जीव चौदहवें गुण स्थान तक ससारी कहलाता है । शास्त्रमें पर्याय बुद्धि छुड़ानेके लिये द्रव्य दृष्टिकी बात कही हो वहाँ निश्चयाभासी जीव वतमान पर्यायको नही मानता इसप्रकार वह द्रव्यकी भूल करता है, यह बात कही । ग्रब, केवलज्ञान पर्यायमे क्यो भूल करता है वह बात करते हैं ।

ग्रौर कोई ग्रपने में केवलज्ञानादिका सद्भाव मानता है, ग्रनन्ता नन्द–वीय ग्रादि वतमानमे प्रगट हैं एसा मानता है, किन्तु वतमान पर्यायमें तो ग्रपने में क्षायोपशमिक भावरूप मति–श्रुतादि ज्ञानका सद्भाव है ग्रौर क्षायिक भाव तो कर्मोंका क्षय होने पर ही होता है, तथापि भ्रमस कमक्षयक बिना भी ग्रपने में क्षायिकभाव मानता है वह भी मिथ्यादृष्टि है । जो इस पर्यायक स्वरूपको नही जानते ऐसे जीव जन मतमे होने पर भी मिथ्यादृष्टि हैं—वह बात कही ।

× × ×

[वीर स० २४७६ माघ शुक्ला ११ रविवार २५–१–५३]

शास्त्रम केवलज्ञान, केवलदशन, ग्रनन्तानन्द ग्रादि स्वभाव शक्ति–ग्रपेक्षासे कहे हैं, क्योंकि सब जीवोंम उन रूप होनेकी शक्ति है ।

तीन प्रकारकी विपरीत मान्यता

(१) ग्रात्माका स्वभाव कवलज्ञान शक्तिरूपसे है, उसे कोई

व्यक्त-पर्यायमें है ऐसा माने तो वह निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि है।

(२) आत्मामें केवलज्ञान सत्तारूप है, अर्थात् पर्यायमें वह प्रगट है किन्तु कर्मके कारण रुका हुआ है—ऐसा जो मानता है वह व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि है, क्योंकि जड़कर्मके कारण पर्याय रुकी है—ऐसा मानना वह मिथ्यात्व है।

(३) आत्मा शक्तिसे केवलज्ञान स्वरूप है—ऐसा जो मानता है, किन्तु ऐसा मानता है कि निमित्त या शुभभाव हो तो वह प्रगटे, वह भी व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि है। क्योंकि जो शक्तिरूपसे ध्रुव है उसमें एकाग्र होनेसे वह प्रगट होगा—ऐसा वह नहीं मानता इसलिये वह दिगम्बर जैन सम्प्रदायमें होने पर भी व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि है।

—उपरोक्त तीन प्रकारकी विपरीत मान्यता जिसके विद्यमान है उसका मिथ्यात्व दूर नहीं हुआ है, इसलिये उसे सम्यक्त्व नहीं है।

श्वेताम्बर मानते हैं कि केवलज्ञान सत्तारूपसे है किन्तु कर्माच्छादनके कारण प्रगट नहीं है, वह भ्रम है और इसीलिये वे व्यवहाराभासी हैं। कोई-कोई दिगम्बर सम्प्रदायवाले ऐसा कहते हैं कि केवलज्ञान शक्तिरूपसे है, किन्तु व्यवहाररत्नत्रय हो तो निश्चय रत्नत्रय प्रगट हो। पंच महाव्रतादि शुभराग हो तो शुद्धभाव हो—ऐसा कोई मानें तो वे रागको केवलज्ञान प्रगट करनेका साधन मानते हैं। शक्तिरूपसे केवलज्ञान है और वह अन्तरावलम्बनसे प्रगट होता है—ऐसा नहीं मानते इसलिये वे भी व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि हैं।

शक्तिमें से व्यक्ति

लेंडी पीपरमे चौसठपुटी चरपराहट शक्तिरूपसे है, किन्तु प्रगट रूपमे नही है। उसे वर्तमानमें प्रगटरूपसे माने तो वह मूर्ख है। और कोई चौसठपुटी माने तथा ऊपर डिब्बी या किसी अन्य वस्तुका आवरण है ऐसा माने तो वह भी मूर्ख है। और कोई ऐसा माने कि—शक्तिरूपसे वह पत्थरके या अन्य किसी निमित्तके कारण प्रगट होती है तो वह भी मूर्ख है। चौसठपुटी चरपराहट तो शक्तिरूपसे है और उसीमें से प्रगट होती है—ऐसा मानना बुद्धिमत्ता पूर्ण है। उसीप्रकार आत्मामें भी केवलज्ञानादि शक्तिरूपसे विद्यमान हैं उस पर दृष्टि जाना चाहिये। दियासलाईमें अग्नि प्रगटरूप नही है किन्तु शक्तिरूप है उसीमें से वह प्रगट होती है—बाहरसे नही आती। उसीप्रकार शक्तिमें केवलज्ञान है उसका जिसे विश्वास नही है वह भले ही जैन दिगम्बर साधु या श्रावक नाम धारण करता हो तथापि मिथ्या दृष्टि है।

'एक होय त्रण कालमा परमारथनो पंथ।" आम्रवृक्षमें आमो की ही उत्पत्ति हो—ऐसा एक ही प्रकार होता है। उसीप्रकार आत्मा का यथार्थ धर्म तो एक ही प्रकारसे होता है। शुभसे या निमित्तसे धर्म होता है—ऐसा माननेवाला यह नही मानता कि—वास्तवमें शक्ति विद्यमान है उसीमें से व्यक्तरूप होती है, इसलिये वह मिथ्यादृष्टि है। द्रव्यमें त्रिकाल केवलज्ञानकी शक्ति विद्यमान है उसका विश्वास आये और निमित्त—व्यवहारकी दृष्टि छूटे तो सम्यग्दर्शनादि प्रगट होते है। जो ऐसा नही मानता कि—आत्माके पुरुषार्थ द्वारा शक्तिमें से केवलज्ञान प्रगट होगा, उसके तो सम्यक्त्वका भी पुरुषार्थ नही

होता। केवलज्ञान तो तीनकाल–तीनलोकको एक समयमें जानता है, वह कर्मच्छादनके कारण अटके–ऐसा नहीं हो सकता, किन्तु अपनी पर्यायमें इतनी निर्बलता है, इसलिये व्यक्त नहीं है, उसमें कर्म निमित्त मात्र है। कोई कहे कि कर्म हैं ही नहीं तो ऐसा भी नहीं है। आत्मा स्वयं अपने स्वभावका लक्ष नहीं करता तब परके ऊपर लक्ष जाता है, उसमें कर्म निमित्त मात्र है, किन्तु कर्मके कारण आत्माकी पर्याय रागरूप या अपूर्णदशारूप है—ऐसा नहीं है। वर्तमान पर्यायमें अपने कारण केवलज्ञानादि नहीं हैं, उसमें वर्तमान कर्मका निमित्त है ऐसा मानना चाहिये। इसके अतिरिक्त उल्टा–सीधा माने तो वह वस्तुके स्वभावको नहीं मानता है। निमित्त निमित्तमें है और आत्मामें नैमित्तिकभाव अपने कारण है, उसका यथावत् ज्ञान करना चाहिये।

आत्माका परमपारिणामिक भाव

आत्माका परमपारिणामिक भाव त्रिकाल है। केवलज्ञान त्रिकाल शक्तिरूपसे है। केवलज्ञानकी पर्याय त्रिकाल नहीं होती, किन्तु नवीन उत्पन्न होती है जो शक्तिरूप है वह व्यक्तरूप होती है, और जब वह प्रगट होती है तब कर्मोंका स्वयं अभाव होता है। पूर्ण पर्यायको क्षायिकभाव कहते हैं, वह पारिणामिकभाव नहीं है। क्षायोपशमिक भाव अपूर्ण दशा है, उसका अभाव होकर क्षायिकभाव प्रगट होता है वह पारिणामिकभाव नहीं है। जिसमें सब भेद गर्भित हैं—ऐसा चैतन्यभाव ही पारिणामिकभाव है।

आत्माका चैतन्य स्वभाव त्रिकाल है, निगोदमें भी चैतन्यभाव है। मति–श्रुतज्ञानादि जो प्रगटरूप हैं वे पारिणामिकभाव नहीं हैं।

धनन्यभाव अनादि–अनन्त है। सम्यक्मति–श्रुत–अवधि–मन पर्यय ज्ञान आदि और अंतवाले भाव हैं और केवलज्ञान पर्यायकी आदि है किन्तु अन्त नहीं है। समयसारकी छट्ठी गाथामें कहा है कि आत्मा ज्ञायक है वह प्रमत्त नहीं है और अप्रमत्त भी नहीं है, ज्ञायक तो एक ज्ञायक ही है। ज्ञायकभाव कहो या परमपारिणामिकभाव कहो– वे एक ही हैं। ध्रुव एकरूप शक्तिरूपसे है उसकी बात है। नियमसारमें उसे कारणपरमात्मा कहा है उसके अवलम्बनसे केवलज्ञान नवीन प्रगट होता है, किन्तु केवलज्ञानादिका सद्भाव सर्वदा मानने योग्य नहीं है।

× × ×

[वीर सं० २४७६ माघ शुक्ला १२ सोमवार २६–१–५०]

स्वभावमें से केवलज्ञान प्रगट होता है

कर्म या शरीरमें से केवलज्ञान प्रगट नहीं होता। आत्मा कर्म और शरीरसे भिन्न है, राग–द्वेष तथा अल्पज्ञता तो पर्यायमें है। जिसे राग–द्वेष और अल्पज्ञता दूर करना हो उसे निर्णय करना चाहिये कि मेरा स्वभाव ज्ञान और आनन्दसे परिपूर्ण है। ऐसी मान्यतासे वीतरागता और केवलज्ञान प्रगट होता है। देहकी या विकारकी क्रियासे शांति नहीं आती विकार तो अशांति है। अशांतिमें से शांति नहीं आती। ज्ञान आनन्द और शांति शक्ति स्वभावमें भरे हैं, उसमें एकाग्र होने से ज्ञान और शांति प्रगट होती है।

एक समयमें तीनकाल–तीनलोकको जानलें—ऐसे भगवान् किस प्रकार हुए? अंतरंग स्वभावमें एकाग्रता करने से हुए हैं। उसीप्रकार

अपने आत्माकी श्रद्धा–ज्ञान करने से केवलज्ञान प्रगट किया जा सकता है—ऐसा मानना चाहिये।

सूर्य और मेघपटलका दृष्टांत

शास्त्रमें सूर्यका दृष्टान्त दिया है। उसका इतना परमार्थ समझना चाहिये कि जिसप्रकार मेघपटलके दूर होने पर सूर्यका प्रकाश प्रगट होता है उसीप्रकार कर्मोदय दूर होने पर केवलज्ञान होता है। कर्म तो जड़ है। आत्मा अपने में एकाग्र हो और केवलज्ञान प्रगट करे तो कर्म स्वयं अपने कारण दूर होते हैं। दृष्टान्तमें सूर्य जाज्वल्यमान है और मेघोंसे आच्छादित है, उसीप्रकार आत्मामें केवलज्ञान प्रगटरूप जाज्वल्यमान अथवा प्रकाशरूप है और ऊपर कर्मरूपी मेघोंके आजाने से ढँक गया है—ऐसा नहीं है। वर्तमान पर्यायमें तो मति–श्रुतज्ञान हैं। जीवका कर्मोंकी ओर झुकाव है, जबतक वह स्वोन्मुख नहीं होगा तबतक पर्यायमें केवलज्ञान प्रगट नहीं हो सकता और तभीतक कर्म निमित्तरूपसे होते हैं।

आत्मामें केवलज्ञानकी शक्ति है

जिसप्रकार अग्निकी ज्वाला पर कोई बरतन ढँक दे, उसीप्रकार आत्माके भीतर केवलज्ञानकी ज्वाला जल रही है और ऊपर कर्मोंके आवरणने उसे ढँक लिया है—ऐसा नहीं समझना चाहिये। किन्तु जिसप्रकार दियासलाईके सिरेमें अग्नि प्रगट होने की शक्ति है। उसीप्रकार आत्मामें केवलज्ञानकी शक्ति है। अपने में एकाग्र हो तो केवलज्ञानरूपी ज्वाला प्रगट होकर कर्मरूपी मेघ छिन्नभिन्न हो जावें।

तदनुसार सब गुणोंमें समझना। शरीरकी क्रियासे या पंच महाव्रतसे चारित्र प्रगट नहीं होता। वस्तुमें चारित्रशक्ति भरी है, उसमें एकाग्र होने से चारित्रदशा प्रगट होती है। प्रथम चारित्र शक्ति की प्रतीति होना चाहिये और फिर एकाग्रता करना चाहिये। कोई कहे कि वस्त्र-पात्रादि होने पर भी मुनिपना प्रगट होगया, तो यह बात मिथ्या है। और कोई मुनि निर्दोष आहार ले अपने लिये बनाया हुआ आहार न ले, तथापि वह वृत्ति धर्म नहीं है, उससे चारित्र प्रगट नहीं होता। अन्तरमें एकाग्र होने पर चारित्र तथा शांति प्रगट होती है, और जब ऐसी अन्तरदशा प्रगट हो तब बाह्यमें नग्न दशा न हो—ऐसा नहीं हो सकता और बाह्यमें नग्नदशा तथा पंच महाव्रतादिके परिणाम हुए इसलिये चारित्र प्रगट होता है—ऐसा भी नहीं है।

पंचमहाव्रतादिके परिणाम राग है

यहाँ कहते हैं कि पंचमहाव्रतादिके परिणाम राग हैं। उनमें आनन्द नहीं है। आनन्द तो अन्तरमें भरा पड़ा है, इसलिये विकार और परपदार्थोंकी रुचि छोड़कर अपने स्वभावकी रुचि करना चाहिये, फिर स्थिरता करनेसे आनन्द प्रगट होता है। आत्मामें दर्शन-ज्ञान चारित्र त्रिकाल विद्यमान हैं, उसीमें से उनकी दशा प्रगट होती है, दया-दानादिसे या परमें से दर्शन-ज्ञान-चारित्रदशा प्रगट नहीं होती। इसलिये निमित्तकी, विकारकी और अल्पज्ञ-पर्यायकी रुचि छोड़कर स्वभावकी रुचि करना चाहिये। स्वभावकी रुचि करते ही वर्तमान में केवलज्ञान प्रगट होगया—ऐसा नहीं है, किन्तु क्रमशः केवलज्ञान प्रगट होता है।

पर्यायमे मतिज्ञानके समय केवलज्ञान प्रगट हो ऐसा नही हो सकता, और केवलज्ञानके समय मतिज्ञान रहे—ऐसा भी नही हो सकता।

अल्प पर्याय होने पर भी पूर्ण पर्याय मानना वह असत्य है। असत्य अर्थात् अधर्म है। आत्मामें ज्ञान गुण त्रिकाल है, उसके आश्रयसे पूर्ण पर्याय प्रगट होती है। अपूर्ण पर्यायमे पूर्ण पर्याय न मानना वह सत्य है, धर्म है और अहिंसा है। और निमित्त, शरीर या रागमें से धर्म होगा—ऐसा मानना वह अधर्म है, हिंसा है। ससार और मोक्ष दोनो विपक्ष हैं। जिस पद पर ससार है उस पर मोक्ष नही है, और जिस पर मोक्ष है उस पर ससार नही है।

प्रश्न —आवरणका अर्थ तो वस्तुको आच्छादित कर लेना है। अब, यदि पर्यायमें केवलज्ञान प्रगट है ही नही तो केवलज्ञानावरणीय क्यो कहते हैं? वर्तमानमे अल्पज्ञ पर्याय है और सर्वज्ञदशा प्रगट नहीं है, तो फिर केवलज्ञानावरणीय कर्म क्यो कहते हैं?

और कोई जीव ऐसा तो नही मानता कि अभव्यको केवलज्ञानावरणीय कर्म होता है, किन्तु ऐसा मानता है कि उसके मन-पर्यय ज्ञानावरणीय और केवलज्ञानावरणीय कर्म नही होते। उसकी दलीलमे वह कहता है कि अभव्यको मन पर्यय और केवलज्ञान प्रगट नहीं होना है इसलिये उसके यह दोनो आवरण नही होते। किन्तु यह बात मिथ्या है।

अभव्य हो या अनादिकालीन मिथ्यादृष्टि हो—दोनों को पाँचों ज्ञानावरणीय कर्म प्रकृतियाँ निमित्तरूप होती हैं।

× × ×

[वीर सं० २४७९ माघ शुक्ला १३ मंगलवार २७-१-५३]

प्रश्न—आवरण शक्तिमें तो होता नहीं है, व्यक्त (प्रगट) पर्यायमें होता है, इसलिये केवलज्ञानका प्रगट मानें तो क्या आपत्ति है ?

उत्तर—शक्तिको व्यक्त न होने दे उस अपेक्षासे आवरण कहा है। शास्त्रमें निमित्तकर्ताकी बात है। निमित्तकर्ता कहो या व्यवहार कर्ता कहो—दोनों एक ही हैं। अर्थात् उसका ऐसा अर्थ समझना कि निश्चयसे निमित्त कर्ता नहीं है। निमित्तकी अपेक्षारूप केवलज्ञानावरणीय है, वह केवलज्ञान प्रगट न होनेमें निमित्त कारण है—ऐसा यहाँ उपचारसे कहा जाता है। व्यवहारसे निमित्त कर्ता, करण, अधिकरण आदि कहे जाते हैं व निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धका ज्ञान करानेको कहे हैं। किन्तु प्रथम निरपेक्ष स्वयं अपनेसे कर्ता–करणादि है—ऐसा निर्णय करनेके पश्चात् उपचारसे निमित्तमें सापेक्षतासे कर्ता, करणादि कहे जाते हैं। छहों कारक निमित्तमें लागू होते हैं। निश्चय–व्यवहारको यथावत् जानना चाहिये। जिस समय उपादानमें छह कारक लागू होते हैं उसी समय निमित्तमें उपचारसे छह कारक लागू होते हैं। निमित्त है इसलिये उपादानमें कर्ता–करणादि हैं ऐसा नहीं है, किन्तु निमित्त की उपस्थिति है ऐसा बतलाते हैं।

निमित्त और उपादान

यहाँ, आत्माम जो शक्ति है उसे व्यक्त न करे वहाँ तक कम निमित्तरूपसे कारण है—ऐसा कहा जाता है स्वयं शक्तिम केवलज्ञान है, उस आत्मा व्यक्त नहीं करता, तब निमित्तसे ऐसा कहा है कि केवलज्ञानावरणीय कर्म व्यक्त नहीं होने देता। आत्मा स्वयं केवल ज्ञान प्रगट करे तब कर्मको अभावरूप निमित्तकर्ता कहा जाता है। इसीप्रकार कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण—यह छहों कारक लागू होते हैं। साधन दो प्रकार के हैं—निश्चय साधन किया तब व्यवहार साधन हुआ कहा जाता है। यदि निमित्त उपादानका कार्य करे तो दो साधन नहीं रहते।

निमित्त और नैमित्तिक

आत्मा स्वभावका अवलम्बन लेकर शुद्धता प्रगट करे तो पंच महाव्रतादिको व्यवहार साधक कहा जाता है। वास्तवमें तो शुभभाव बाधक हैं, तथापि आत्मा अपनी साधना करके शुद्धभाव प्रगट करे तो शुभभावको निमित्तसे साधक कहा जाता है। निमित्त ने नहीं होने दिया—ऐसा कहा हो उसका यह अर्थ है कि जीवने अपनी नैमित्तिक अवस्था प्रगट नहीं की तो उस निमित्तने प्रगट नहीं होने दिया। किन्तु वास्तवमें तो निमित्त ऐसा घोषित करता है कि नैमित्तिक स्वतंत्र अपने कारणसे परिणमन कर रहा है, उस समय जो दूसरी अनुकूल वस्तु उपस्थित होती है उसे निमित्त कहा जाता है। नैमित्तिक पर्याय हो तब निमित्तमें निमित्तकर्ताका आरोप

आता है। उस अपेक्षासे ऐसा कहा है कि कर्मने आवरण किया।

अब दृष्टांत देते हैं। आत्मामें सम्यग्दर्शन प्रगट होनेके पश्चात् देशचारित्र अर्थात् पाँचवाँ गुणस्थान प्रगट न होने देनेकी अपेक्षा से अप्रत्याख्यानावरण कषाय कहो है। किंचित् भी प्रत्याख्यान न होने दे अर्थात् अशंत भी स्थिरता न होने दे उसमें अप्रत्याख्याना वरण कषायकर्म निमित्त है। प्रगट दशा है और कर्मने आवरण किया है ऐसा नहीं है, किंतु आत्मा स्वयं स्वभावकी लीनता करके अशंत चारित्रकी दशा प्रगट नहीं करता, इसलिये निमित्तसे ऐसा कहा जाता है कि—अप्रत्याख्यानावरणीय कर्मने चारित्र प्रगट नहीं होने दिया।

प्रश्नकारने प्रश्न किया था कि हम केवलज्ञानको प्रगट मानते हैं और कर्मने उसे रोक रखा है, क्योंकि केवलज्ञानावरणीय कर्म नाम है, तो उससे कहते हैं कि भाई ! जिसप्रकार चौथे गुणस्थानमें देश चारित्रकी दशा नहीं है, वहाँ व्यवहारसे ऐसा कहा जाता है कि अप्रत्या ख्यानावरणीय कर्म देश चारित्रकी पर्यायको प्रगट नहीं होने देता, किन्तु वहाँ देशचारित्र प्रगट है और उसे अप्रत्याख्यानावरणीय कर्मने रोक रखा है–ऐसा नहीं है। आत्मामें यथाख्यातचारित्र प्रगट हो ऐसा स्वभाव तो शक्तिरूपसे त्रिकाल है, किन्तु उसे प्रगट न करे वहाँ तक निमित्तरूप कर्म है—ऐसा कहा है। स्वयं नैमित्तिकभाव प्रगट नहीं करता, इसलिये कर्म पर आरोप आता है। यहाँ तो कर्म निमित्त है उसका ज्ञान कराते हैं, किन्तु उस निमित्तके कारण आत्माका देश चारित्र रुका है ऐसा नहीं है।

जब आत्मामें मुनिपना प्रगट होता है, उस समय निमित्तरूपसे पंच महाव्रत, अट्ठाईस मूल गुणका विकल्प होता है, इसलिये उसे निमित्तकर्ता भी कहा जाता है। शरीरमें नग्नदशा हुए बिना आत्मामें मुनिपना नहीं होता—ऐसा निमित्तकर्ता रूपसे यथार्थ है, किन्तु उसका अर्थ ऐसा है कि आत्मामें मुनिपनेकी नैमित्तिक पर्याय प्रगट करे तो नग्नतामें निमित्तकर्तापनेका आरोप लागू होता है। मोक्षमार्ग प्रकाशकके ४१५ वें पृष्ठमें कहा है कि—मुनिलिंग धारण किये बिना तीन कालमें मोक्ष नहीं हो सकता। आत्मा केवलज्ञानका पुरुषार्थ करे और नग्नदशा न हो ऐसा नहीं हो सकता। इसलिये ऐसा कहा है कि मुनिलिंगके बिना मोक्ष नहीं हो सकता, किन्तु उसका यह तात्पर्य नहीं है कि नग्नदशाके कारण मोक्ष होता है।

आत्मामें चारित्रदशा हुए बिना मोक्ष नहीं होता। वह चारित्र तो आत्माके आश्रयसे प्रगट होता है। आत्माके स्वभावको यथार्थ जानकर उसमें लीन होने से जब जीव स्वयं यथार्थ चारित्र प्रगट करता है तब निमित्तरूपसे नग्नदशा होती है—ऐसा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। किन्तु आत्माके भान बिना मात्र नग्नदशा धारण करले तो वह कहीं मुनिपना नहीं है इसलिये निश्चय-व्यवहारका यथार्थ ज्ञान करना चाहिये।

सर्वज्ञ परमात्मा देवाधिदेवने जो मार्ग कहा है—उससे विरुद्ध जिसकी प्ररूपणा है उसे परम्परा मार्ग नहीं कहा जा सकता। उसे तो व्यवहार मार्गका भी यथार्थ ज्ञान नहीं है। वह मुनिनाम रखकर मात्र नग्नदशा धारण करे तो उसे मुनि मानना वह भ्रमणा है। उसकी विनय सत्कारादि करने से गृहीत मिथ्यात्वका पोषण होता है।

सागार धर्मामृतके ८१ वें पृष्ठकी टिप्पणीमें उद्धृत श्लोकमें सामन्त आचार्यने कहा है कि जिसप्रकार जिन बिम्ब पूजनीय है उसीप्रकार पूर्व मुनियोंकी स्थापना करके आधुनिक मुनि भी पूज्य हैं। इसलिये मुनिका द्रव्यलिंग बाह्यमें बराबर होना चाहिये। उसे व्यवहारसे पूजनीक कहा है, किन्तु आत्मभान न हो और व्यवहारका भी ठिकाना न हो और मुनि माने तो गृहीत मिथ्यादृष्टि है। निश्चय मुनिपना भले ही प्रगट न हुआ हो, किन्तु व्यवहार तो बराबर होना चाहिये। तभी उनका व्यवहारसे सत्कार किया जा सकता है। यदि व्यवहार भी बराबर न हो तो उन्हें द्रव्यलिंगी भी नहीं मानना चाहिये। मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ १६४ में कहा है कि पद्मपुराणमें एक कथा है कि—किसी श्रेष्ठी धर्मात्माने चारण मुनियोंको भ्रमसे भ्रष्ट जानकर आहार नहीं दिया, तो फिर जो प्रत्यक्ष भ्रष्ट हो उसे भक्तिसे आहारादि देना कैसे सम्भव हो सकता है? इसलिये जो भ्रष्ट हो उसे कोई पूजनीक मानकर अथवा तो मुनि समझकर दानादि दे तो वह मिथ्यादृष्टि है। इसलिये प्रथम यथार्थ ज्ञान करना चाहिये। भूल करे और भूलको स्वीकार न करे तो भूल दूर नहीं हो सकती। प्रथम भूलको भूलरूपसे जाने तभी वह दूर हो सकती है।

यहाँ कहते हैं कि आत्मामें देशचारित्र प्रगट न होने में अप्रत्याख्यानावरणीय कषाय निमित्त है। वस्तुमें पर निमित्तसे जो भाव होते हैं उनका नाम औपाधिकभाव है, तथा पर निमित्तके बिना जो भाव होते हैं उनका नाम स्वभावभाव है। आत्मामें शक्तिरूपसे जो स्वभाव है उसके अवलम्बनसे जो निर्मल भाव होते हैं वे स्वभावभाव हैं, किन्तु अपना आश्रय न करके पर द्रव्यके आलम्बनसे जो

भाव होते हैं। वे औपाधिकभाव हैं। इसमें निमित्तकी अपेक्षा है, इसलिये जहाँ जैसा है वैसा समझना चाहिये।

जिसप्रकार जलमें अपनी योग्यतारूप निज शक्तिसे उष्णता हुई, अर्थात् पानी उष्णरूप हुआ है उसमें अग्नि निमित्त है। पानीकी उष्ण दशाके समय शीतलताकी अवस्था नहीं है, किन्तु अग्निका निमित्त मिटने पर पानीकी अवस्था ठण्डी हो जाती है, इसलिये पानीका स्वभाव शीतल है—ऐसा सिद्ध होता है। वर्तमानमें उष्ण होने पर भी स्वभाव तो शीतल ही है, किन्तु उष्ण पर्यायके समय शीतलता प्रगट नहीं है, तथापि शक्तिरूपसे तो त्रिकाल है। वह शक्ति जब व्यक्तरूप होती है तब स्वभाव व्यक्त हुआ कहा जाता है।

× × ×

[वीर सं० २४७६ माघ शुक्ला १४ बुधवार २९–१–५१]

आत्मा जिसप्रकार स्वभावसे शुद्ध है उसीप्रकार पर्यायमें भी (वर्तमानदशामें) शुद्ध है—ऐसा कोई माने तो वह भ्रांति है। पर्यायमें यदि प्रगट शुद्धता हो तो कुछ करना नहीं रहता।

यहाँ पानीका दृष्टान्त दिया है कि पानीका स्वभाव तो शीतल है, किन्तु वर्तमान उष्णदशा है वह पानीका असली स्वभाव नहीं है। उसीप्रकार आत्मामें वर्तमान पर्यायमें अल्पज्ञता है विकार है वहाँ तो केवलज्ञानका अभाव ही है किन्तु जब कर्मके निमित्तकी ओर झुकाव न करके पूर्ण वीतरागता प्रगट करते हैं तब केवलज्ञान होता है। यहाँ कर्मका निमित्त मिटने पर केवलज्ञान होता है ऐसा कहा है, उसका अर्थ यह है कि आत्मा केवलज्ञानका पुरुषार्थ करे तब केवल

ज्ञान प्रगट होता है और उस समय कर्मका निमित्त नहीं रहता। इसलिये ऐसा कहा है कि निमित्तका अभाव होने पर स्वभाव प्रगट होता है।

आत्मा केवलज्ञान शक्तिको प्रगट करता है, इसलिये उसका सदाकाल केवलज्ञान स्वभाव है—ऐसा कहा जाता है। ऐसी शक्ति तो आत्मामें सदा होती है, किन्तु जब वह प्रगट हो तब प्रगट हुआ कहलाता है। जिसप्रकार पानी वर्तमानमें उष्ण हो, और उसे कोई वर्तमानमें ठण्डा मानकर पी ले तो मुँह जल जायगा, उसीप्रकार केवलज्ञान स्वभाव द्वारा अशुद्ध आत्माको भी वर्तमानमें केवलज्ञानी मानकर उसका अनुभवन करे तो उससे दुःखी ही होगा। इसप्रकार जो आत्माका केवलज्ञानादिरूप अनुभवन करता है वह मिथ्यादृष्टि है। और कोई अपने को रागादिभाव प्रत्यक्ष होने पर भी भ्रमसे रागादि रहित मानता है वह मिथ्यादृष्टि है। वर्तमान पर्यायमें रागादि नहीं हैं—ऐसा जो मानता है वह, और कोई जनामें भी रागादि परिणाम कर्मके कारण होते हैं,—ऐसा माने तो वह—दोनों एक-से मिथ्यादृष्टि हैं।

व्यवहारके कथनका आशय

आत्मामें शुभाशुभभाव वर्तमानमें होते हैं, तथापि जो आत्माको रागादिरहित मानता है उससे हम पूछते हैं कि यह जो रागादि होते दिखाई देते हैं वे किसमें होते हैं? यदि वे शरीरमें या कर्ममें होते हों तो वे भाव अचेतन और मूर्तिक होना चाहिये, किन्तु वे रागादिभाव तो प्रत्यक्ष अमूर्तिक ज्ञात होते हैं, इसलिये सिद्ध होता है

कि वे आत्माके ही भाव हैं। एक भाई ऐसा कहते थे कि यह जो क्रोध हुआ है वह कर्मोदयके कारण हुआ है, क्योंकि गोम्मटसारमें लिखा है कि कर्मोंका प्रबल उदय आता है इसलिये क्रोधादि होते हैं। वह गोम्मटसारके भावार्थको समझता ही नहीं है, क्योंकि क्रोधादि होते हैं वे तो आत्मामें करनेसे होते हैं, वह आत्माकी विकारी पर्याय है। कर्ममें वे नहीं होते, क्योंकि कर्म तो अचेतन और मूर्त हैं। और विकार तो चेतन भूमिमें होता है, इसलिये वह चेतन और अमूर्तिक है। तथापि कर्मके कारण विकार होता है—ऐसा जो मानता है वह मिथ्यादृष्टि है, वह वस्तुके स्वतन्त्र परिणमन स्वभावको नहीं जानता।

शास्त्रमें विकारको पुद्गलजन्य कहा है उसका आशय

जो क्रोधादिभाव होते हैं वे औपाधिक भाव हैं। वे आत्माकी भूमिकामें होते हैं, क्योंकि वह चेतनका आभास है, वे अचेतन मूर्तिक जड़के नहीं हैं। चारित्रमोहनीय कर्मके कारण वे विकारी भाव नहीं हैं। संज्वलनके तीव्र उदयसे छट्ठा गुणस्थान होता है और मन्द उदयसे सातवाँ गुणस्थान होता है—ऐसा नहीं है। कर्मके कारण आत्माकी शुद्धता या अशुद्धता नहीं है। आत्माकी पर्याय जड़के कारण तीन कालमें नहीं होती। शास्त्रमें विकारको पुद्गलजन्य कहा है, वह तो यह बतलानेके लिये कहा है कि विकार आत्माका नित्य स्वभाव नहीं है तथा विकार दूर हो जाता है, किन्तु प्रथम आत्मामें अपने कारण विकार होता है ऐसा माने, फिर आत्माका वह मूल स्वभाव नहीं है—ऐसी स्वभावदृष्टि करनेके लिये और

विकारको हटा देनेके लिये वह पुद्गलका विकार है—ऐसा कहा है। श्री समयसारके कलशमें भी कहा है कि —

कार्यत्वादकृतं न कर्म न च तज्जीवप्रकृत्योर्द्वयो-
रज्ञायाः प्रकृतेः स्वकार्यफलभुग्भावानुषङ्गात्कृतिः।
नैकस्याः प्रकृतेरचित्त्वलसनाज्जीवोऽस्य कर्ता ततो
जीवस्यैव च कर्म तच्चिदनुगं ज्ञाता न यत्पुद्गलः ॥२०३॥

यह रागादिरूप भावकर्म किसीने नहीं किये—ऐसा नहीं है, क्योंकि वे कार्यभूत हैं। रागादि आत्माके त्रिकाली स्वभावमें नहीं हैं किन्तु पर्यायमें नये-नये भाव जीव स्वयं करता है। तत्त्वार्थसूत्रमें औदयिक भावको जीवका स्वतत्त्व कहा है, अर्थात् आत्माका वह कार्य है उसका कर्ता आत्मा है इसलिये रागादिभाव कार्य नहीं हैं—ऐसा नहीं है और उन्हें किसीने नहीं किया है—ऐसा भी नहीं है।

और वह, जीव तथा कर्मप्रकृति इन दोनोंका भी कर्तव्य नहीं है

जीव और जड दोनों एकत्रित होकर रागादिभाव करते हैं—ऐसा भी नहीं है। आत्मा स्वयं अपने अपराधसे क्रोधादि विकारीभाव करता है उसमें कर्म निमित्त है, किन्तु वास्तवमें दोनों एकत्रित होकर यदि रागादि करें तो उस भाव कर्मका फल जो सुख-दुःखादि हैं वे कर्मको भी भोगना पड़ेंगे, किन्तु ऐसा नहीं होता। हल्दी और फिटकरी—दोनोंके मिश्रणसे लाल रंग हो जाता है, उसीप्रकार कर्म और जीव मिलकर रागादि करते हैं ऐसा कोई माने तो वह बात

मिथ्या है। हल्दी और फिटकरीमें भी दोनोंके रजकण अपनी–अपनी योग्यतानुसार लाल रंगरूप परिणमित होते हैं। उसीप्रकार आत्मा पर्यायमें स्वयं विकार करता है, कर्मने विकार नहीं कराया। अन्य मती मानते हैं कि ईश्वर कर्ता है और कोई–कोई जैनी ऐसा मानते हैं कि कर्मके कारण विकार होता है, तो दोनों की एक ही प्रकारकी मान्यता हुई, इसलिये वे मिथ्यादृष्टि हैं। अन्यमती तो अपने दोषमें किसी ईश्वरको कर्तारूप मानता है और यह जैनी तो अचेतन–जड़को अपने भावका कर्ता मानता है, इसलिये वह तो अन्यमतीकी मान्यताकी अपेक्षा महान विपरीत मान्यतावाला हुआ। उसे जैन वीतराग मार्गकी खबर नहीं है।

और रागादि अकेली कर्मप्रकृतिका भी कार्य नहीं है

कर्म तो अचेतन जड़ है और विकारीभाव चेतन हैं, इसलिये उन भावोंका कर्ता जीव स्वयं ही है और वे रागादिक जीवका ही कर्म हैं, क्योंकि भावकर्म तो चेतनका अनुसरण करनेवाले हैं—चेतनाके बिना नहीं होते, और पुद्गल ज्ञाता नहीं है। इसप्रकार रागादिभाव जीवमें होते हैं। कोई ऐसा कहे कि रामचन्द्रजी छह महीने तक वासुदेवका मृत कलेवर लेकर फिरे थे वह सब चारित्र मोह कर्मके कारण था, किन्तु वह बात बिलकुल मिथ्या है। आत्माकी रागादि-पर्याय और कर्म अचेतन पर्यायके बीच अत्यन्त–अभाव है। अत्यन्त अभावरूपी वज्रका महान दुर्ग बीचमें खड़ा है, इसलिये कर्मकी पर्यायके कारण आत्माके विकारीभाव नहीं होते—ऐसा समझना चाहिये। आत्मा स्वयं अपने स्वभावको भूलकर रागादि परिणाम करता है,

किन्तु यदि भेदज्ञानके बल द्वारा स्वभावका भान करके स्वरूपमें लीन हो तो रागादिभाव नहीं होते—ऐसा जानना ।

जो रागादिमें कर्मका कारण मानता है उसने व्यवहार रत्नत्रय को—जो कि राग है उस—कर्मके कारणसे माना । और व्यवहारके कारण निश्चय प्रगट होता है—ऐसा जिसने माना, उसने यही स्वीकार किया है कि निश्चय धर्म भी कर्मसे प्रगट होता है ।

प्रथम तो आत्मा स्वयं स्वतन्त्ररूपसे विकार करता है ऐसा मानना । कोई कहे कि दो हाथोंसे ताली बजती है, तो वह बात भी मिथ्या है, क्योंकि वास्तविक दृष्टिसे देखो तो एक हाथ दूसरे हाथका स्पर्श नहीं करता, और जो आवाज होती है वह हाथके कारण नहीं होती किन्तु उस स्थान पर शब्द वर्गणाके रजकण हैं उनकी अवस्था उनके अपने कारण उससमय होती है । विकार तो चेतन ऐसे आत्मा का अनुसरण करके होता है, अर्थात् आत्मा स्वयं अनुसरे—करे तो होता है । जड़ कर्म रागादिमें अनुसरण नहीं करते, कर्मकी भूमिका में वे नहीं होते । अब, इसका तात्पर्य यह है कि रागादिभाव तू स्वतन्त्र करे तो होते हैं किन्तु कर्मके कारण नहीं होते, यदि विकारको स्वतन्त्र माने तो उसे नष्ट करनेका उपाय स्वयं स्वतन्त्ररूपसे कर सकता है—ऐसा निश्चित है ।

रागादिभाव आत्मामें ही होते हैं

संसार, पुण्य-पाप आत्माके बिना नहीं होते, जड़ कर्मोंमें या शरीरमें वे भाव नहीं हैं, इसलिये आत्मामें वे भाव होते हैं ऐसा मानना चाहिये, किन्तु जो कर्मोंको ही रागादिभावोंका निमित्त मान-

कर अपनेको रागादिका अकर्ता मानते हैं, वे स्वयं कर्ता होने पर भी अपनको अकर्ता मानकर, निरुद्यमी बनकर, प्रमादी रहना चाहते हैं इसीलिये कर्मोंका दोष निकालते हैं, किंतु यह उनका दुःखदायी भ्रम है।

आत्मा स्वयं विकार तथा दोष करता है—ऐसा न मानकर जो कर्मों पर डालता है वह प्रमादी होकर मिथ्यादृष्टि रहता है। समयसार नाटकमें बनारसीदासजी ने कहा है कि—दो द्रव्य मिलकर एक परिणाम नहीं करते और दो परिणाम एक द्रव्यसे नहीं होते। इसलिये कर्मके कारण दोष होता है—ऐसा नहीं मानना चाहिये।

× × ×

[वीर सं० २४७६ फाल्गुन कृष्णा १ शुक्रवार ३०-१-५३]

कर्म राग नहीं कराते

जो ऐसा मानता है कि कर्मसे निमित्तसे विकार होता है वह निश्चय और व्यवहार दोनोंका आभासी है। कर्म प्रेरक होकर राग नहीं कराते, तथापि अज्ञानी मूढ़ ऐसा मानता है कि कर्म प्रेरक होकर जबरन् राग कराते हैं, इसलिये वह मिथ्यादृष्टि है।

श्री समयसारके कलशमें भी कहा है कि—

"रागजन्मनि निमित्तता परद्रव्यमेव कलयंति ये तु ते।
उत्तरन्ति न मोहवाहिनीं शुद्धबोधविधुरान्धबुद्धयः॥" (२२१)

अर्थ—जो जीव रागादिकी उत्पत्तिमें पर द्रव्यका ही निमित्तपना मानता है वह भी शुद्ध ज्ञानसे रहित है, अन्ध बुद्धि है जिसकी—

ऐसा बनकर मोह नदीके पार नहीं उतरता। समयसारमें ऐसा भी आता है कि विकार और कर्मको व्याप्य व्यापकभाव है, किन्तु वह तो विकारको आत्मामें से निकाल देने के लिये—त्रिकाल स्वभावदृष्टि करानेको कहा है। वास्तवमें विकार कहीं कर्ममें व्याप्त नहीं होता। मैं ज्ञानानन्द शुद्ध चैतन्य हूँ, ऐसे भान बिना उपवासादि करे, तथापि विकार अपने कारण अपनी पर्यायमें होता है—ऐसा वह जीव नहीं मानता, इसलिये वह अंधा है। उसका मोह नष्ट नहीं होता।

कोई ऐसा कहे कि—जितना कर्मका उदय हो उतना राग होता है जैसे कि—जितना बुखार हो उतना ही डिग्री थर्मामीटरमें आता है। चार डिग्री बुखार हो तो मापमें चार डिग्री आता है, किन्तु वह भ्रमणा है। और वह दृष्टान्त भी देता है कि—स्फटिकमें जैसा रंग आये वैसी झाँई दिखाई देती है, उसीप्रकार जैसे कर्मका उदय हो तदनुसार विकार होता है,—ऐसा वह मानता है किन्तु वह महान भूल है। जो ऐसा मानता है वह अंधा है उसे सम्यक् श्रुतज्ञान नहीं है, उसका मिथ्यात्वभाव कभी नष्ट नहीं होता।

कर्म प्रभावके कारण विकार करना पड़ता है—ऐसा एक समय भी माने तो उसे कभी भी आत्माका पुरुषार्थ करके संसार नाश होने का अवसर नहीं रहता। इसलिये कर्मके कारण आत्मामें विकार नहीं होता—ऐसा मानना चाहिये।

और जो आत्माको सर्वथा अकर्ता मानता है उससे कहते हैं कि—कर्म ही जगाता है, कर्म ही सुलाता है, परघात कर्मसे हिंसा है, वेद कर्मसे अब्रह्म है, इसलिये कर्म ही कर्ता है—ऐसा मानने वाले जैन को भी श्री समयसारके दर्शनविशुद्धज्ञान अधिकारमें सांख्य

मती कहा है। दर्शनावरणीय कर्मका उदय होने से निद्रा आती है और उसका क्षयोपशम होने पर जाग उठते हैं, ज्ञानावरणीय कर्मका उदय हो तो हमारा ज्ञान हीन होता है और उसका क्षयोपशम हो तो ज्ञानका विकास होता है—ऐसा जो मानता है वह सांख्यमती है, क्योंकि कर्मके दोषके कारण तीन कालमें भी आत्माको पर्यायमें दोष नहीं होता। पुनश्च, वह कहता है कि हमारा हिंसाभाव नहीं है, किन्तु परघात कर्मका उदय आता है इसलिये हिंसा होती है। पुरुषवेद—स्त्रीवेद का उदय आता है तब हमारे विषय भोगका भाव होता है, इसलिये कर्म ही कर्ता है। जैन होकर भी जो ऐसा मानता है उसे सांख्यमती कहा है।

किसी पदार्थका प्रभाव दूसरे पदार्थ पर नहीं पड़ता। अग्निके प्रभावके कारण वस्त्र जलता है ऐसा नहीं है, वस्त्र तो अपनी योग्यता से जलता है, अग्नि तो निमित्तमात्र है, जो कोई ऐसा माने कि कर्म के प्रभावके कारण विकार होता है तो वह सांख्यमती जैसा है। जिसप्रकार सांख्यमती आत्माको शुद्ध मानकर स्वच्छन्दी बनता है वैसा ही यह भी हुआ। वैरागी—त्यागी हो, तथापि जो ऐसा मानता है कि कर्मके कारण विकार होता है, वह जैनी होने पर भी सांख्य मती है—दोनोंमें कोई अन्तर नहीं रहता। कोई ईश्वरको जगतका कर्ता माने और जैन कहे कि पर जीवोंकी दया मैं पाल सकता हूँ तो वे दोनों मिथ्यादृष्टि है। दोनोंकी कर्तृत्वकी मान्यता एक-सी है। कर्मके उदयसे विकार होता है—ऐसी श्रद्धासे यह दोष हुआ कि अपने अपराधसे रागादिकका होना नहीं माना, किन्तु अपनेको उनका अकर्ता समझा, इसलिये रागादिक होनेका भय नहीं रहा, अथवा

रागादिको दूर करनेका उपाय भी उसे करना नही रहा, इसलिये वह स्वच्छन्दी होकर बुरे कर्म बांधकर अनन्तससारमे भटकता है ।

देव–गुरु–शास्त्रकी श्रद्धा आत्मा करता है—ऐसा माने और फिर कहे कि रागादि कर्मके कारण होते हैं तो वहाँ कोई मेल नही रहता, क्योंकि देवादिकी श्रद्धा भी राग है, उस श्रद्धाको भी कर्मके कारण माना, तो वह शुभभाव भी आत्मा नही कर सकता—ऐसी उसकी मान्यता है । इसलिये यदि रागको कर्मके कारण माने तो राग दूर करके स्वभावदृष्टि करनेका अवसर नही रहता और स्वच्छन्दी होता है ।

समयसारादि ग्रन्थ पढते हैं इसलिये ऐसा तो कह नहीं सक्ते कि कर्म आत्माको राग कराते हैं, किन्तु कर्मके निमित्त बिना किसी को कुछ भी राग नही होता, इसलिये कर्मोंका प्रभाव होता है, निमित्त का प्रभाव होता है, वह तो होना ही चाहिये—ऐसा कुछ लोग मानते हैं । किन्तु जीवपर एक समय भी परका प्रभाव माना गया तो उसे सदवके लिए—कोई समय कर्मोदयके बिना नहीं रहता इसलिये—कर्मका प्रभाव हुआ, अर्थात् उसे कभी भी पुरुषार्थ करनेका समय नहीं रहता, इसलिये वह स्वच्छन्दी होकर चार गतिमे परिभ्रमण करता है ।

समयसार नाटकमे बन्ध अधिकारमे तथा इष्टोपदेशमे आता है कि कर्मकी बलवत्ता है । किसी समय आत्माकी बलवत्ता है और कभी कर्मकी, किन्तु इसका अर्थ ऐसा है कि जब स्वभावसे च्युत होकर रागादिभाव करता है तब कर्मकी बलवत्ता कहलाती है । कर्म बलवान होकर रागादि नही कराते ।

प्रश्न —समयसारमें ही ऐसा कहा है कि—वर्णाद्या वा राग मोहादयो वा, भिन्ना भावा सर्व्व एवास्य पुंस ।

अर्थ —जो वर्णादि या रागादिभाव है वे सब इस आत्मासे भिन्न है । और वहीं रागादिको भी पुद्गलमय कहा है ।

देखो, यहाँ इसप्रकार प्रश्नकारकी ओरसे प्रश्न करता है कि—रागादि और शरीरादि, दया-दानका भाव व्यवहार रत्नत्रयका भाव आत्मासे भिन्न है और पुद्गलमय है—ऐसा कहा है । रागसे आत्मा और आत्मासे राग परस्पर भिन्न है —ऐसा दूसरे शास्त्रमें भी आता है, वह किसप्रकार ?

रागादिभाव औपाधिकभाव हैं

उत्तर —परद्रव्यके निमित्तसे ये रागादिभाव औपाधिकभाव हैं । आत्मामें जितना उपाधिभाव होता है वह सब परद्रव्यके आश्रयसे होता है । कर्मके निमित्तके समय आत्मा स्वयं नैमित्तिकभाव रागादि करता है, इसलिये वे उपाधिभाव हैं । अब, यदि यह जीव उन्हें स्वभाव समझे तो बुरा क्यों मानेगा ? अथवा नाशका उपाय भी किस तरह करेगा अर्थात् यदि जीव रागादि उपाधिभावोंको कथंचित् हितकर माने तो वह उन्हें नाश करनेका उपाय नहीं करता । मुनिको छट्ठे गुणस्थानमें अट्ठाईस मूल गुणोंका विकल्प आता है वह उपाधिभाव है, विकारभाव है, वास्तवमें निश्चयसे—अधर्मभाव है । सम्यग्दृष्टिके व्यवहार रत्नत्रयको उपचारसे धर्म कहा जाता है, किंतु वास्तवमें तो व्यवहार रत्नत्रयका भाव भी अधर्मभाव है । अगर जीव उस रागको अपना स्वभाव माने तो उसे नाश करनेका उपाय क्यों करेगा ? इस लिये निमित्तकी मुख्यतासे रागको पुद्गलका कहा है ।

निमित्तकी मुख्यतासे रागादिभाव पुद्गलमय हैं

देव–गुरु–शास्त्रकी श्रद्धा, आगमज्ञान और कषायकी मन्दता वह व्यवहार है, उपाधि है मलिन है। अज्ञानी उस श्रद्धा मानता है इसलिये वह उसके नाशका पुरुषार्थ नहीं करता। जिससे लाभ माने उसका नाश क्यों करेगा? स्वभावकी रुचि करूँ तो मिथ्यात्व का नाश होता है और स्वभावमें स्थिर होऊँ तो अस्थिरतारूप रागका नाश होता है। इसलिये उन उपाधिभावोंको छुड़ानेके लिये ऐसा कहा है कि—वे सब आत्मासे भिन्न हैं, और निमित्तकी मुख्यतासे पुद्गल मय हैं विकार रखनेके लिये भिन्न नहीं कहा है।

गोम्मटसारमें आता है कि—दर्शनमोहके उदयसे मिथ्यात्व होता है। वहाँ आत्मा स्वयं मिथ्यात्वभाव करता है उसमें दर्शनमोह निमित्त है—ऐसा ज्ञान करानेके लिये कहता है, किन्तु यहाँ रागादि को आत्मासे भिन्न और पुद्गलमय क्यों कहा है? तो कहते हैं कि रागादिको छुड़ानेके लिये उन रागादिको निमित्तकी मुख्यतासे— अर्थात् विकारमें कर्म निमित्त है ऐसी मुख्यतासे कथन करके वीत रागता प्रगट करनेके लिये रागादि उपाधिभावोंको आत्मासे भिन्न और पुद्गलमय कहा है।

अब कहते हैं कि—जिसप्रकार वैद्यका हेतु रोग मिटानेका है, वह शीतकी अधिकता देखने पर रोगीको उष्ण औषधि देता है और उष्णताकी अधिकता देखे तो शीत औषधि बतलाता है। उसीप्रकार श्रीगुरु विकार छुड़ाना चाहते हैं इसलिये जो रागादिका पर मानकर स्वच्छंदी बनकर निरुद्यमी होता है उसे उपादान कारणकी मुख्यतासे "रागादि आत्माके हैं"—ऐसा श्रद्धान कराया, तथा जो रागादिको

अपना स्वभाव मानकर—हितकर मानकर उनके नाशका उद्यम नहीं करता उस निमित्त कारणकी मुख्यतासे "रागादि पर भाव हैं"—ऐसा श्रद्धान कराया है।

विभावभावके नाशका उद्यम करना योग्य है

यहाँ अज्ञानी घोटाला करता है कि—रागादि आत्माके हैं और पुद्गलके भी हैं, तो यह बात ठीक नहीं है। वास्तवमें तो प्रगट दशामें रागादि उपाधिभाव आत्माके ही हैं, किन्तु उन्हें छुड़ानेके हेतुसे पुद्गलका कहा है—ऐसा समझना चाहिये। रागादि आत्माके भी हैं और पुद्गलके भी हैं—यह दोना विपरीत श्रद्धान हैं। उन मिथ्या श्रद्धान रहित जो होता है वह आत्मा। ऐसा माने कि—यह रागादिभाव आत्माका स्वभाव तो नहीं है किन्तु कर्मके निमित्तके समय आत्मा स्वयं अपने अपराधसे रागादि करता है तब वह विभाव पर्याय होती है। वह आत्मा स्वयं नैमित्तिक विकार न करे तो उस समय कर्म निमित्त नहीं कहलाते। इसलिये यहाँ कहा है कि वह निमित्त मिटने पर—उसका नाश होने पर—स्वभावभाव रह जाता है। यहाँ विभावभाव है तब सामने कर्मोंका निमित्त है, और यहाँ विभाव नहीं होता तब वह निमित्त भी नहीं है। इसलिये विभाव भावोंके नाशका उद्यम करना योग्य है।

× × ×

[फाल्गुन कृष्णा २ शनिवार ता० ३१-१-५२]

निश्चयाभासीकी भूलके चार प्रकार

देखो, निश्चयाभासी चार प्रकारसे भूल करता है वह बात यहाँ कही गई है। पहले तो यह बात कही थी कि—वह आत्माको संसार

पर्यायमें वर्तमान सिद्धपर्याय नहीं है तथापि सिद्धदशा मानता है। दूसरी बात यह कही कि वह वर्तमान अल्पज्ञदशामें केवलज्ञान मानता है। तीसरी बात—कोई ऐसा मानता है कि रागादि वर्तमान पर्यायमें नहीं होते। और चौथी बात यह कही कि विकार निमित्तके कारणसे होता है—ऐसा कोई मानता है।—इन चारों अभिप्रायवाले मिथ्यादृष्टि हैं।

पहले बोलमें, द्रव्यपर्याय अर्थात् सिद्धपर्याय वर्तमान न होने पर भी उसे वर्तमान मानता है। दूसरेमें, ज्ञानगुणकी पर्याय पूर्ण शुद्ध न होने पर भी पूर्ण शुद्ध मानता है। तीसरी बातमें वर्तमान रागादि विकारी पर्याय होती ही नहीं—ऐसा मानता है, और चौथी बातमें, कर्मके निमित्तके कारणसे राग होता है—ऐसा मानता है,—वे सब मिथ्यादृष्टि हैं।

अब प्रश्न करते हैं कि—यदि कर्मोंके निमित्तसे रागादि होते हैं तो जबतक कर्मका उदय रहेगा तबतक विभाव किसप्रकार दूर होगा? इसलिये उसका उद्यम करना तो निरर्थक है? देखो, जो राग द्वेषका होना आत्माके कारणसे नहीं मानते किन्तु निमित्तके कारणसे मानते हैं—ऐसी मान्यतावालेकी कैसी भूल होती है?—इस बातका निर्णय प्रश्न उठाकर कराते हैं। वह ऐसा मानता है कि कर्मका उदय हो तबतक रागके नाशका उद्यम नहीं होता, तो फिर उद्यम कैसे करें?

उत्तर—एक कार्य होनेमें अनेक कारणोंकी आवश्यकता है। उनमें जो कारण बुद्धिपूर्वक के हों उन्हें तो स्वयं उद्यम करके प्राप्त

करे और अबुद्धिपूर्वकके कारण स्वयं प्राप्त हों तब कार्यसिद्धि होती है।

बुद्धिपूर्वक और अबुद्धिपूर्वक का पुरुषार्थ

यहाँ दो बातें कही हैं—बुद्धिपूर्वकके कारण स्वयं उद्यम करके प्राप्त करे और अबुद्धिपूर्वक के कारण तो अपने आप स्वयं प्राप्त हो जाते हैं। जैसे कि—पुत्र प्राप्त करनेका कारण बुद्धिपूर्वक तो विवाहादि करना है, तथा अबुद्धिपूर्वक कारण भवितव्य है। अब, पुत्रका अर्थी विवाहादिकका तो उद्यम करे और भवितव्य स्वयं हो तब पुत्र होता है उसीप्रकार विभाव अर्थात् मिथ्यात्वादि दूर करनेका कारण बुद्धिपूर्वक तत्त्वकी रुचि, ज्ञान, और रमणता है। मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषायादिको दूर करनेका कारण तो तत्त्वकी रुचि विचार और लीनता है, वह तो बुद्धिपूर्वक करना चाहिये। तत्त्वका यथार्थ विचार सम्यग्दर्शनका कारण है। तत्त्व विचार तथा तत्त्वकी रमणता स्वयं पुरुषार्थ कर तो होती है। और जब ऐसा पुरुषार्थ करता है तब मोह कर्मका उपशम, क्षयोपशम या क्षय स्वयं हो जाता है। मोहकर्म के उपशमादि अबुद्धिपूर्वक होते हैं। अबुद्धिपूर्वकका अर्थ ऐसा है कि—आत्माका पुरुषार्थ जड़कर्मके उपशमादिको नहीं करता, क्योंकि मोहकर्मके उपशमादि स्वयं (जड़कर्मके अपने कारण) होते हैं,—ऐसा यहाँ कहते हैं।

अब, जिसे आत्माको रुचि, ज्ञान और रमणता करना हो वह तत्त्वादिके विचारादिका उद्यम करे तथा मोहकर्मके उपशमादिक स्वयं हो तब रागादि दूर होते हैं, अर्थात् तत्त्वादिका विचार करता

है तब मोहकर्मके उपशमादि स्वयं होते हैं किन्तु आत्माके पुरुषार्थके कारण मोहकर्मके उपशमादि नहीं होते। इसलिये ऐसा कहा है कि अबुद्धिपूर्वक स्वयं उसके उपशमादि होते हैं, और रागादि भी नहीं होते। रागादि नहीं होते, इसमें भी यही बात है कि बुद्धिपूर्वक रागादिका नाश होना है तब निमित्तरूप कर्मके स्वयं अपने कारण से उपशमादि हो जाता है। इसका सार यह है कि आत्मा तत्त्वादिके विचार पूर्वक सम्यग्दर्शनादिका पुरुषार्थ करता है तब कर्मके उपशमादि आत्माके पुरुषार्थ बिना स्वयं उनके अपने कारण होते हैं—ऐसा निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध है। पुनश्च, निमित्त मिटने पर रागादिका नाश होता है और तत्त्वादिका विचार होने पर मोहकर्म के उपशमादि होते हैं, इसका अर्थ यह नहीं है कि वे एक दूसरे के कारणसे होते हैं।

कई लोग ऐसा मानते हैं कि आत्मा तो बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ करे, किन्तु कर्मोंका नाश हो या न भी हो, किन्तु ऐसा नहीं है। आत्मा पुरुषार्थ करे और कर्मोंका नाश न हो ऐसा हो ही नहीं सकता, और आत्माने पुरुषार्थ किया है इसलिये पुरुषार्थसे कर्मोंका नाश हुआ है—ऐसा भी नहीं है। आत्माका सम्यग्दर्शनका काल है उस समय दर्शनमोहके नाश आदिका भी काल है। जब यहाँ ज्ञानके विकासका काल है, उसी समय ज्ञानावरणीयके क्षयोपशमका काल है, और आत्मामें रागादिके अभावका काल है उस समय चारित्रमोहके नाश का काल है, किन्तु कर्मोंके कारणसे वह नहीं है और आत्माके पुरुषार्थके कारण कर्मोंका नाश नहीं है—ऐसा समझना।

ज्ञानावरणका क्षयोपशम

अब प्रश्न करते हैं कि जिसप्रकार विवाहादि भवितव्याधीन हैं, उसीप्रकार तत्त्व विचारादि भी कर्मके क्षयोपशमादिकके आधीन है, इसलिये उद्यम करना व्यर्थ है ?

उत्तर —तत्त्वविचारादि करने योग्य ज्ञानावरणका क्षयोपशम तो तुझे हुआ है, इसीलिये उपयोगको वहाँ लगानेका उद्यम कराते हैं असंज्ञी जीवोंका क्षयोपशम ऐसा नहीं है, तो फिर उन्हें किसलिये उपदेश दें ?—नहीं देते। आत्माका उपयोग अज्ञानसे परमें लग गया है उसकी हम दिशा बदलाना चाहते हैं तत्त्वादिके विचारका और श्रद्धाका पुरुषार्थ कर सके इतना तुझे वर्तमान विकास है, इसलिये हम तुझे उपदेश दे रहे हैं। असंज्ञी जीवोंकी वर्तमान योग्यता उनके अपने कारण नहीं है, इसलिये उपदेश नहीं देते। वहाँ कर्मों का जोर हो ऐसी बात नहीं है, किन्तु उन जीवोंकी योग्यता ही ऐसी है।

प्रश्न —होनहार हो तो उपयोग आत्मामें लगे, होनहारके बिना कैसे लग सकता है ?—भला होना हो तभी हमारा पुरुषार्थ कार्य करेगा न ?

उत्तर—यदि ऐसा श्रद्धान है तो सर्वदा किसी भी कार्यका उद्यम तू न कर ! खान-पान, व्यापारादिका उद्यम तो तू करता है और यहाँ होनहार बतलाता है, इसलिये मालूम होता है कि तेरा अनुराग ही यहाँ नहीं है, मात्र मानादिके लिये ऐसी बातें करता है। जो होना है सो होगा—ऐसा तू मानता है तो फिर सर्वत्र मानना चाहिये, लेकिन घरके और व्यापारादिके कार्योंमें तो पुरुषार्थको

मानता है और जब धर्मकी बात आता है तब होना होगा तो हो जायगा—ऐसी बातें करता है। इससे निश्चित होता है कि धर्मके प्रति तुझे प्रेम ही नहीं है। जहाँ प्रेम हो वहाँ पुरुषार्थ हुए बिना नहीं रहता। यदि सर्वत्र 'होना है वह होगा'—ऐसा माने तो तू ज्ञाता हो जाता है, किन्तु तुझे धर्मकी रुचि नहीं है, मात्र मानादिसे ही झूठी बातें करता है।

कर्म-नोकर्मका निमित्तरूपसे प्रत्यक्ष बंधन

और वह पर्यायमें कर्म-नोकर्मका संबंध निमित्तरूपसे होनेपर भी आत्माको निर्बंध मानता है। चौदहवें गुणस्थान तक कर्मके साथ निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध होता है। द्रव्य दृष्टिसे तो आत्मा निर्बंध है किन्तु यहाँ तो पर्यायमें संसारदशामें पर्याय दृष्टिसे कर्म-नोकर्मके साथ सम्बन्ध है, तथापि ऐसा माने कि बिलकुल सम्बन्ध नहीं है, तो वह भी मिथ्यादृष्टि है क्योंकि कर्म-नोकर्मका निमित्तरूपसे बंधन तो प्रत्यक्ष देख रहे हैं।

आत्मा और शरीर दोनोंकी स्वतंत्र अवस्था

ज्ञानावरणादिकसे ज्ञानादिक घात देखते हैं अर्थात् उनका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध यहाँ बतलाते हैं कि—आत्मामें जब ज्ञान की पूर्णदशा नहीं है उससमय निमित्तरूपसे ज्ञानावरणीय कर्म है। और, आत्मा तथा शरीरका भी निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, क्योंकि शरीर द्वारा उसीके अनुसार होनेवाली अवस्था देखते हैं। शरीरके हलने-चलने अनुसार आत्माके प्रदेशोंकी अवस्था होती दिखाई देती है। आत्माकी अवस्थामें शरीरका निमित्त तो प्रत्यक्ष

दिखाई देता है। शरीरके कारण आत्माकी अवस्था होती है–ऐसा नही है, किन्तु दोनोकी अवस्था स्वतन्त्र अपनी–अपनी योग्यतासे होती है, उसमें निमित्त–नमित्तिक सम्बन्ध है।

शरीरकी अवस्थानुसार आत्माकी अवस्था होती है—ऐसा यहाँ कहा है। हाथ ऊँचा होता है तो आत्माके प्रदेश भी तदनुसार ऊपर उठते हैं। वहाँ आत्माकी अवस्था तो अपने कारण होती है, किन्तु संसारदशामें शरीरका सम्बन्ध है, इसलिये वहाँतक निमित्त नमित्तिक सम्बन्ध है ऐसा भलीभाँति मानना चाहिये। यदि बिलकुल सम्बन्ध ही न हो तो ऐसी जो अवस्था दिखाई देती है वह न हो। सम्बन्ध होने पर भी सम्बन्ध रहित माने तो ज्ञान मिथ्या होता है और निमित्त नमित्तिक सम्बन्धको कर्त्ता कर्म सम्बन्ध माने तो भी मिथ्या होता है। इसलिये जसा है वैसा मानना चाहिये।

द्रव्यदृष्टिसे रागादि और कर्म–नोकर्मका सम्बन्ध अभूतार्थ है

ज्ञान तो स्व–पर प्रकाशक है। उसका विवेक ऐसा होता है कि द्रव्यदृष्टिसे आत्माके निमित्त–नमित्तिक सम्बन्ध है ही नही, किन्तु पर्याय दृष्टिसे कर्म–नोकर्मके साथ बिलकुल निमित्त–नमित्तिक संबंध है ही नही–ऐसा नही है। हाँ, सामान्य स्वभावदृष्टिमें सिद्धदशा रागादि और कर्म–नोकर्मका सम्बन्ध सब अभूतार्थ है। द्रव्यदृष्टिसे यह सब नही है, किन्तु पर्यायदृष्टिसे है—ऐसा न जाने तो एकान्त होता है। इसलिये जसा है वसा जानना चाहिये, तभी ज्ञान सम्यक् होता है। पर्याय दृष्टिसे कर्म–नोकर्मका सम्बन्ध न माने तो वह मिथ्यादृष्टि है। यदि बिलकुल सम्बन्ध न हो तो वर्तमान सिद्धदशा होना चाहिये, किन्तु वर्तमान सिद्धदशा नही है, अर्थात् वर्तमान

शरीरके निमित्तसे आत्मामें अवस्था होती है—ऐसा कर्म-नोकर्मका सम्बन्ध है, और पर्याय दृष्टिसे वर्तमानमें बंध है ऐसा जानना चाहिये।

अब यदि वर्तमान पर्यायमें सर्वथा बंध हो न हो तो मोक्षमार्गी उसके नाशका उद्यम किसलिये करता है ? वर्तमान पर्यायमें विकार हो न हो और उसका निमित्त ऐसा मोहकर्म यदि न हो तो पुरुषार्थ करके उसका नाश करना नहीं रहता, और स्वभावसे मुक्त होना भी नहीं रहता। ज्ञानी तो स्वभावोन्मुख होकर रागादिका नाश करता है, इसलिये ऐसा मानना चाहिये कि आत्माको बंधन है।

× × ×

[फाल्गुन कृष्णा २ रविवार ता० १-२-५१]

आत्मामें वर्तमान विभावभाव होता है और उसमें कर्म-नोकर्मका सम्बन्ध है उसे तो मानता नहीं है और कहता है कि—शास्त्रमें तो आत्माको कर्म-नोकर्मसे भिन्न अबद्धस्पृष्ट कहा है वह किसप्रकार है ?—उसका उत्तर देते हैं।

आत्माका कर्म और नोकर्मके साथ तादात्मसम्बन्ध नहीं है, किन्तु निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है

सम्बन्ध अनेक प्रकारके हैं। वहाँ तादात्म्यसम्बन्धकी अपेक्षा से आत्माको कर्म-नोकर्मसे भिन्न कहा है, इसलिये आत्मा कर्ममें और शरीरमें एकमेक हो जाये ऐसा नहीं होता, तथापि पर्यायमें आत्मा और शरीरका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध नहीं है-ऐसा नहीं है। पुनश्च, द्रव्य पलट कर, एक-दूसरे से मिलकर एक नहीं हो जाता इसलिये उसे अपेक्षासे आत्माको अबद्धस्पृष्ट कहा है। आत्मा

परके साथ एकमेक नहीं होता इसलिये अबद्धस्पृष्ट कहा है। पर्यायमें स्वतःस्वरूप से विकार करता है तब कर्म निमित्त है, और आत्माका क्षेत्रान्तर होता है उसमें शरीरका निमित्त है, इसलिये निमित्त—नैमित्तिक सम्बन्ध की अपेक्षासे आत्माको बन्धन है और कर्म नोकर्म के निमित्तके आलंबनसे वह अनेक अवस्थाओंको धारण करता है। इसलिये जो आत्माको सर्वथा निर्बन्ध मानता है वह मिथ्यादृष्टि है। यदि निमित्त-नैमित्तिक संबंध सर्वथा छूट जाये तब तो सिद्धदशा होना चाहिये। केवलीको भी कर्म-नोकर्मके साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। यहाँ कहा है कि—कर्म और शरीरके निमित्तके आश्रय से आत्मा विकार और क्षेत्रान्तरकी क्रिया धारण करता है,—इसमें ऐसा ज्ञान कराया है कि आत्माकी योग्यताके समय ऐसा निमित्त होता है। निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि जो निमित्तको मानता ही नहीं—उसे निमित्तका ज्ञान करानेकी अपेक्षासे कहा है किन्तु उसका यह तात्पर्य नहीं है कि निमित्तके कारण आत्माकी अवस्था होती है। आत्माको सर्वथा निर्बन्ध मानना वह भ्रमणा है—ऐसा कहा है।

तो फिर प्रश्न करते हैं कि-हमें बंध-मोक्षका विकल्प तो करना नहीं है, क्योंकि शास्त्रमें कहा है कि—'जो बंधउ मुक्कउ मुणइ, सो बंधइ ण भंति। अर्थात् जो जीव बँधा तथा मुक्त हुआ मानता है वह निस्संदेह बँधता है।"

एक दखिये जानिये, रमि रहिये इक ठौर।
समल विमल न विचारिये, यहै सिद्धि नहिं और॥

—ऐसा कहा है, इसलिये हमें बंध-मोक्षका विचार ही नहीं करना है।

उत्तर—जो जीव मात्र पर्यायदृष्टि होकर बंध–मुक्त अवस्था को ही मानता है, अकेली पर्यायको ही मानता है और द्रव्यस्वभावको ग्रहण नहीं करता, उसके लिये कहा है और उसीको उपदेश दिया है कि—द्रव्यस्वभावको न जाननेवाला ऐसा जीव बँधा–मुक्त हुआ मानता है वही बंध है। यदि सर्वथा बंध हो न हो तो यह जीव बँधा है—ऐसा किसलिये कहा जाता है? जो जीव अपना नित्य सामान्य स्वभावको नहीं मानता वह अकेला पर्यायदृष्टि है, उसे बंध हुए बिना नहीं रहता, क्योंकि बंधके नाशका कारण* तो त्रिकाल ज्ञायक एकरूप स्वभाव है। उस त्रिकाली स्वभावमें बंध–मोक्ष–ऐसे दो प्रकार हैं ही नहीं, किन्तु उसके पर्यायमें अनेकता है ही नहीं—ऐसा नहीं है। एकान्त द्रव्यस्वभावको माने और पर्यायको बिलकुल न माने तो वह मिथ्यादृष्टि है। यदि वर्तमान पर्यायमें बंध–मोक्ष सर्वथा न हों, यानी बंध है और उसका अभाव करने पर मोक्ष होता है—ऐसा न मानें तो वह जीव "बंध है"—ऐसा क्यों कहता है? और बंधके नाशका तथा मुक्त होनेका उद्यम भी किसलिये किया जाता है? इसलिए पर्यायमें विकार और बंध है—ऐसा मानना चाहिये। त्रिकाली स्वभावको मुख्य करके बतलाते समय, पर्यायको गौण करके, व्यवहार कहकर अभाव है–ऐसा कहा है। यदि पर्याय में बंध न हो तो बंधका नाश और मोक्षका उत्पाद करनेका उपाय किसलिये करना चाहिये? और आत्माका अनुभव भी क्यों किया जाता है? इसलिये द्रव्यदृष्टि द्वारा तो एक दशा है और पर्यायदृष्टि द्वारा अनेक अवस्थाएँ होती हैं—ऐसा मानना योग्य है।

---

* देखो, भाव पाहुड गाथा ६२

सामान्यको स्वीकार करे विशेषका न करे वह निश्चयाभासी है, तथा विशेषको स्वीकार करे किन्तु सामान्य न करे तो वह व्यवहाराभासी है —वे दोनों मिथ्यादृष्टि हैं। इसलिये सामान्य और विशेष—दोनोंका यथार्थ ज्ञान करना चाहिये।

इन निश्चय-व्यवहारका यथार्थ ज्ञान करना प्रयोजनभूत है। मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रन्थम पृष्ठ २६४ में कहा है कि—जीवादि द्रव्यों अथवा तत्त्वोंको पहिचानना चाहिये जो त्यागने योग्य मिथ्यात्वादि हैं उन्हें जानना चाहिये तथा ग्रहण करने योग्य सम्यग्दर्शनादिको भी अच्छी तरह समझना चाहिये और निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धको भी भलीभांति जानना चाहिये, क्योंकि उसे जानने से मोक्षमार्गमें प्रवृत्ति होती है। नय-प्रमाण-युक्ति द्वारा वस्तुको जानना चाहिये। मात्र निश्चयको न मानकर दोनों नयोंका यथार्थ ज्ञान करना चाहिये। जो अकेले निश्चयको स्वीकार करता है वह भी मिथ्यादृष्टि है।

इसीप्रकार वह अनेक प्रकारसे मात्र निश्चयनयके अभिप्रायसे विरुद्ध श्रद्धानादिक करता है। जिनवाणीमें तो नाना नयोंकी अपेक्षा से कहीं कैसा और कहीं कैसा निरूपण किया है, उसे बराबर न समझकर वह अज्ञानी अपने अभिप्रायसे जहां निश्चयनयकी मुख्यतासे कथन किया हो उसीको ग्रहण करके मिथ्यादृष्टिपनेको धारण करता है, अर्थात् एकान्त—एक ही पक्षको वह ग्रहण करता है। आत्माकी पर्यायमें विकार है और निमित्त कर्म है—ऐसा जानना सो व्यवहार है किन्तु उसे आदरणीय मानना वह व्यवहार नयका सच्चा ज्ञान नहीं है। निश्चयनयका विषय त्रिकाल ज्ञाता स्वभाव है, उसका आश्रय

करने से राग-विकारका नाश होता है, ऐसा जानना वह निश्चयनय का यथार्थ ज्ञान है। निश्चयनय आदरणीय है और व्यवहारनय जानने योग्य है—ऐसा समझना वह दोनों नयोंका सच्चा ज्ञान है। इसप्रकार दोनोंका ज्ञान करना वह प्रमाण है। कोई ऐसा कहे कि दोनों नय समकक्षी हैं, इसलिये निश्चयनयकी भाँति व्यवहारनय भी आदरणीय है, तो वह बात मिथ्या है।

त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव तो ऐसा कहते हैं कि स्वभाव का आश्रय लेकर व्यवहारका छोड़ो और अज्ञानी कहते हैं कि व्यवहार का आदर करो, इसलिये अज्ञानीकी बात मिथ्या है।

पुनश्च, जिनवाणीमें तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी एकताको मोक्षमार्ग कहा है। अब, सम्यग्दर्शन-ज्ञानमें तो सात तत्त्वोंका यथार्थ श्रद्धान-ज्ञान होना चाहिये, किन्तु उसका तो इसे कुछ विचार नहीं है, तथा सम्यक्चारित्रमें रागादि दूर करना चाहिये, उसका भी इसके उद्यम नहीं है। सम्यग्दर्शनमें तो सातों तत्त्व भलीभाँति जानना चाहिये, किन्तु निश्चयाभासी उन्हें नहीं जानता। जीव-अजीव तत्त्व हैं, पर्यायमें आस्रवादि हैं उन्हें तो स्वीकार नहीं करता और अकेले आत्माकी बात करता है, और आत्माके आश्रयसे रागका नाश होना चाहिये उसका पुरुषार्थ नहीं करता। चारित्रका अर्थ है विकारका (रागादिका) नाश करना, किन्तु उसके नाशका उद्यम नहीं करता और मात्र एक अपने आत्माका शुद्ध अनुभवन करनेको ही मोक्षमार्ग मानकर संतुष्ट हुआ है, तथा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी एकता होना वह मोक्षमार्ग है उसे मानता नहीं है। राग है और उसका

अभाव करने से शुद्ध आत्माका अनुभव होता है, किन्तु यदि रागका ही न माने तो शुद्ध आत्माका अनुभव करना भी नहीं रहता। इसलिये सातों तत्त्वोंका यथार्थ ज्ञान करना चाहिये। उन्हें यथावत् न जाने तो सम्यग्ज्ञान नहीं होता।

शुद्ध–अशुद्धपर्यायका पिण्ड वह द्रव्य है

पुनश्च, वह आत्माका चिन्तवन किसप्रकार करता है यह कहते हैं। आत्माका अनुभव करने के लिये यह चिन्तवन करता है कि "मैं सिद्ध समान शुद्ध हूँ।"—यह भी उसकी भूल है ऐसा कहेंगे, क्योंकि वह पर्यायको नहीं मानता। "मैं त्रिकाल शुद्ध हूँ"—यह बात भी उसको सच नहीं है। वह कहता है कि—(१) मैं सिद्ध समान शुद्ध हूँ, (२) केवलज्ञानादि सहित हूँ, (३) द्रव्यकर्म–नोकर्मसे रहित हूँ, (४) परमानन्दमय हूँ, (५) जन्म–मरणादि दुःख मुझे नहीं हैं,—इसतरह अनेक प्रकार से चिंतवन करता है, किन्तु यह उसका भ्रम है क्योंकि यदि यह चिंतवन द्रव्यदृष्टिसे करता है, तो द्रव्य तो शुद्ध–अशुद्ध सब पर्यायोंका पिण्ड है, उसे तो वह जानता नहीं है। जो अशुद्ध संसारपर्याय बीत गई है उसे भी यहाँ द्रव्यमें लिया है, क्योंकि पर्यायको वह बिलकुल मानता ही नहीं। इसलिये उसे समझानेके लिये—पर्यायका स्वीकार करानेके लिये इस ढंगसे बात कही है। उससे कहते हैं कि तेरी द्रव्य दृष्टि भी सच्ची नहीं है। द्रव्यमें एकरूपता होने पर भी जिसे ऐसी खबर नहीं है कि शुद्ध अशुद्ध दोनों पर्यायें आत्माकी हैं, और न उसका स्वीकार करता है, उससे कहते हैं कि द्रव्य तो शुद्ध–अशुद्ध सब पर्यायोंका पिण्ड है। इसलिये द्रव्यदृष्टिसे तू जो यह चिंतवन करता है कि आत्मा सिद्धसमान है—यह बात

तेरा मिथ्या है, क्योंकि द्रव्य तो शुद्ध-अशुद्ध सब पर्यायों सहित है ऐसा मानना चाहिये। गई कलकी जो अशुद्ध पर्याय बीत गई है वह कहाँ गई ? उसका सवथा तुच्छाभाव नहीं है। वह कथंचित् द्रव्यमें है ऐसा न माने तो उसने द्रव्यको भी बराबर नहीं माना है। जिसे आत्मद्रव्यके साथ व स्वभावकी यथार्थ दृष्टि हुई है वह तो पर्याय को भलीभाँति जानता है।

यदि अशुद्ध पर्यायको न माना जाय तो अभीतक जो अशुद्ध पयाय बीती है वह कहाँ रही ? उसका कहीं तुच्छाभाव नहीं है। अनादि-अनन्त सब पर्यायोंका पिन्ड सो द्रव्य है। जो पर्यायें बीत गई हैं वे वर्तमान नहीं हैं और न वे द्रव्यमें ही हैं—ऐसा यदि मानोगे तो द्रव्य भी सिद्ध नहीं होगा। बीती हुई पर्यायोंका सर्वथा तुच्छाभाव नहीं है, इसलिए यहाँ कहा है कि यदि द्रव्यदृष्टि करना हो तो ऐसा मानो कि जितनी पूर्व पर्यायें होगई हैं वे द्रव्यकी हैं, तभी यथार्थ द्रव्यदृष्टि कहलाती है। अपेक्षाको बराबर समझना चाहिये।

× × ×

[फाल्गुन कृष्णा १ सोमवार ता० २-२-४१]

यह द्रव्य प्रमाणका विषय नहीं है। प्रमाणका विषय तो वर्तमान विशेष और त्रिकाली सामान्य ये दोनों हैं। उनमें द्रव्यार्थिक नयका विषय सामान्य अर्थात् शक्तिरूप सब पर्यायोंका समुदाय है, और दूसरा पर्यायार्थिकनय विशेष अर्थात् वर्तमान पर्यायको अपना विषय बनाता है। इसलिये यहाँ प्रमाणकी बात नहीं है।

आत्मा द्रव्य-पर्यायरूप है, वे दोनों प्रमाणका विषय हैं। यदि द्रव्यदृष्टिसे विचार किया जाये तो द्रव्य तो शुद्ध-अशुद्ध सब पर्यायों

का समुदाय है, वह द्रव्यदृष्टिका विषय है, और वर्तमान अशुद्ध पर्याय एक समयकी है वह पर्यायदृष्टिका विषय है।—यह दोनों मिलकर प्रमाणका विषय होता है, किंतु जो द्रव्यदृष्टिका विषय है वह प्रमाणका विषय नहीं है।

यहाँ तो कहते हैं कि—निश्चयाभासी ऐसा चिंतवन करते हैं कि "आत्मा शुद्ध है" वह भ्रमरूप है क्योंकि यदि तुम द्रव्यदृष्टिसे चिंतवन करते हो तो द्रव्य अकेला शुद्ध ही नहीं है किन्तु शुद्ध–अशुद्ध दोनों रूप है, और पर्यायदृष्टिसे चिंतवन करते हो तो वर्तमान पर्याय तो तुम्हारी अशुद्ध है, इसलिये दोनों प्रकारसे शुद्धका चिंतवन करना वह भ्रमणा है क्योंकि वर्तमान पर्याय तो निचली दशामें अशुद्ध है और द्रव्य तो शुद्ध–अशुद्ध दोनों रूप है, इसलिये शुद्ध चिंतवन तुम्हें किसी भी प्रकार उपयुक्त नहीं रहता। पर्यायमें शुद्धता है ऐसा भी नहीं मानना चाहिये। वर्तमान पर्याय अशुद्ध है तथापि उसे शुद्ध क्यों मानते हो? यदि तुम शक्ति अपेक्षासे शुद्ध मानते हो तो "मैं ऐसा होने योग्य हूँ"—ऐसा मानो 'मैं सिद्ध होने योग्य हूँ'—ऐसा मानो, किन्तु मैं ऐसा हूँ"—ऐसा मानना वह भ्रम है।

वर्तमान आत्माकी अपनी विकारी पर्याय उसके अपने कारण होती है उसमें कर्म निमित्त मात्र हैं—ऐसा मानना चाहिये। कर्म एक वस्तु है किन्तु उसका प्रभाव आत्मा पर पड़ता है—ऐसा नहीं है। कर्मोंके कारण ग्यारहवें गुणस्थानसे गिर जाते हैं—ऐसा अज्ञानी मानते हैं वह भी भ्रमणा है। वहाँ कषायकर्मका उदय है ही नहीं किंतु अपनी पर्यायकी योग्यताके कारण गिरते हैं उसके बदले कर्मों

र आरोप लगाते हैं वे भी मिथ्यादृष्टि हैं। यहाँ तो कहते हैं कि पर्यायमें अपूर्णता है, पूर्णता नहीं है। और यदि विकार तथा अपूर्णता है तो उसमें निमित्तरूप द्रव्यकर्म और नोकर्म हैं। यदि निमित्तरूपसे शरीरादि न हों तो वर्तमानमें सिद्धदशा अशरीरीदशा होना चाहिये, किन्तु वह दशा नहीं है, इसलिये मानना चाहिये कि कर्म–नोकर्मका सम्बन्ध भी है। यद्यपि आत्माकी विकारी पर्याय या अपूर्ण पर्यायके कारण से द्रव्यकर्म–नोकर्म नहीं हैं, किन्तु अपूर्णताके समय कर्म आदि उनके अपने कारण से होते हैं—ऐसा जानना चाहिये। और जब आत्माकी पूर्णदशा होती है तब निमित्तरूप जो कर्मादि थे वे उनके अपने कारण छूट जाते हैं उस समय निमित्तरूप कर्मादि नहीं होते ऐसा समझना चाहिये।

पुनश्च, यदि कर्म–नोकर्म निमित्तरूप न हों तो ज्ञानादिकी व्यक्तता क्यों नहीं है? ज्ञानादिकी व्यक्तता नहीं है इसलिये कर्म नोकर्म निमित्तरूपसे हैं। आत्मद्रव्यमें शक्तिरूपसे ज्ञानादि गुण हैं उनमें से व्यक्तरूप पर्याय होती है। वह पर्याय वर्तमानमें नहीं है इसलिये उसमें निमित्तरूपसे कर्मका मानना चाहिये। देखो, सम्यग्ज्ञान किसे कहते हैं वह बात यहाँ चल रही है। सम्यग्ज्ञानके बिना चारित्र नहीं होता। निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध क्या है? निश्चय–व्यवहार क्या है?—उसे जाने भी नहीं और त्यागी हो जाय तो उससे कहीं सच्चा चारित्र नहीं होता। अभी तो जिसके व्यवहारका ठिकाना नहीं है उसके द्रव्यचारित्र भी नहीं होता। और द्रव्यचारित्रके बिना भावचारित्र नहीं होता। इसलिये प्रथम चारित्रका स्वरूप भी जानना चाहिये।

स्व-परप्रकाशक शक्ति आत्माकी है

आत्मा स्वयं ज्ञान है स्व परप्रकाशक ज्ञानशक्ति आत्माकी है, इसलिये ज्ञान परसे नहीं होता, शास्त्र प्रतिमा वगैरह परवस्तुसे ज्ञान नहीं होता। स्वज्ञेय परज्ञेय दोनोंको जाननेकी शक्ति आत्मामें है। परज्ञेयसे स्वज्ञेयको जाननेकी शक्ति नहीं होती। आत्मामें स्व और परको जाननेकी शक्ति त्रिकाल है—ऐसी जिसे खबर नहीं है और परके कारण आत्मामें ज्ञानादिका होना मानता है वह मिथ्यादृष्टि है। और आत्माके ज्ञान बिना द्रव्यलिंग धारण करे, नग्न हो जाये वह मिथ्यादृष्टि है ही किन्तु अधःकर्मी तथा उद्देशिक आहार ले तो वह द्रव्यलिंगी भी नहीं है, और यथार्थ द्रव्यलिंगके बिना भावलिंगीपना भी नहीं होता। जो वस्त्र पात्रादि रखता है और अपनेको मुनि कहलवाता है, वह तो स्थूल गृहीत मिथ्यादृष्टि है।

अब, यहाँ निश्चयाभासी मानता है कि मैं वर्तमानमें परमानन्द मय हूँ। यदि वह परमानन्दमय हो तो उसे कुछ भी करना नहीं रहता, इसलिये सचमुच वर्तमानमें परमानन्दमय नहीं है। वर्तमान अवस्था में आनन्द प्रगट न होने पर भी अपने को आनन्दमय मानना वह भ्रम है। और वह मानता है कि जन्म मरणादि दुःख ही आत्माको नहीं हैं, तो वह बात भी मिथ्या है, क्योंकि वर्तमानमें दुःखी होता तो दिखाई देता है, इसलिये दुःखी होने पर भी दुःख नहीं है—सर्वथा ऐसा मानना वह भ्रम है यानी दूसरी अवस्थामें दूसरी अवस्था मानना वह भ्रम है।

परद्रव्य से भिन्न और अपने भावों से अभिन्न
वह द्रव्य की शुद्धता है

प्रश्न —तो फिर शास्त्र में शुद्ध चितवन करने का उपदेश किस लिये दिया है ? श्री समयसार प्रवचनसार में शुद्ध चितवन करने को तथा आस्रव शुभाशुभ भावों का चितवन छोड़ने को कहा है और आप तो यहाँ दोनों प्रकार से शुद्ध चितवन करने का इन्कार करते हैं, इसलिये भगवान ने जो शुद्ध चितवन करने का उपदेश दिया है वह निरर्थक सिद्ध होता है। तो इसमें यथार्थ क्या है ?

उत्तर — शुद्धत्व जिस प्रकार है वह कहते हैं। एक तो द्रव्य अपेक्षा से शुद्धत्व है और दूसरा पर्याय अपेक्षा से। उसमें द्रव्य अपेक्षा से तो पर द्रव्यों से भिन्नता और अपने भावों से अभिन्नता का नाम शुद्धत्व है। यह द्रव्य अपेक्षा से शुद्धत्व पहले जो सामान्य द्रव्य कहा वही है। अब यहाँ द्रव्य अपेक्षा से शुद्ध अशुद्ध सब पर्यायों के समुदाय का द्रव्य कहा है। वह द्रव्य अपने भावों से अभिन्न है और परद्रव्यभावों से भिन्न है। ऐसा द्रव्य का शुद्धत्व है। इसलिये अपेक्षा से बराबर समझना चाहिये। द्रव्य का जो शुद्धत्व ऊपर कहा था उसीप्रकार यहाँ सामान्य द्रव्य का शुद्धत्व कह कर, अपना स्वरूप परद्रव्य से भिन्न रूप है उसे शुद्धत्व कहा है इस अपेक्षा से शुद्धत्व भावना यथार्थ है।

× × ×

[फाल्गुन कृष्णा ४ मंगलवार ता १-२-५३]

सम्यग्दृष्टि ऐसा चितवन करता है कि मैं परद्रव्यसे त्रिकाल भिन्न हूँ। शरीर और कर्म जड़ हैं —अजीव है। उनके द्रव्य गुण पर्याय

से मैं भिन्न हूँ, इसलिये शरीर, कर्म, भावादि की पर्याय मुझसे नहीं होती। मेरी प्रेरणा से शरीर नहीं चलता क्योंकि वे पदार्थ मुझसे भिन्न हैं और मैं भी उनसे त्रिकाल हूँ, इसलिये आत्मा बोलने, चलने आदि क्रियाओं का कर्ता नहीं है। वर्तमान में लोगों की इतनी भारी भ्रमणा-गड़बड़ी होगई है कि 'शरीर की क्रिया आत्मा से होती है" —ऐसा वे मानते हैं, किन्तु यहाँ तो सम्यग्दृष्टि जानता है कि मेरा आत्मा पर से भिन्न है और जितनी मेरी त्रिकालवर्ती शुद्ध अशुद्ध पर्यायें हैं उन सबसे अभिन्न है। मैं अपने भावों से एकमेक हूँ, अपनी सब पर्यायों से अभिन्न हूँ—ऐसी दृष्टि करना वह द्रव्य अपेक्षा से शुद्धत्व है। लोगों को धर्म की खबर नहीं है। धर्म का स्वरूप तो ऐसा है कि यदि क्षणमात्र भी धर्म किया हो उसकी मुक्ति हुए बिना न रहे। जीव अनन्तकाल में अनन्त बार मुनित्व का पालन करके नवग्रैवेयक तक गया, किन्तु एक क्षणमात्र भी उसे धर्म नहीं हुआ। उस धर्म का स्वरूप भी लोगों ने नहीं सुना है।

आत्मा परद्रव्य से भिन्न और अपने भावों से अभिन्न है, उसे यहाँ द्रव्य का शुद्धत्व कहा है। उसी अपेक्षा से समझना चाहिये। भूतकाल में अशुद्ध पर्याय होगई वह मेरी योग्यता थी, विकार के समय भी "मेरा स्वभाव तो शुद्ध पर्याय होने की शक्ति वाला है"—ऐसी दृष्टि करे तो 'मैं हूँ सो हूँ—ऐसा सच्चा निर्णय किया कहलाता है। मैं परद्रव्य से भिन्न हूँ—ऐसा निश्चित किया इसलिये परद्रव्य और निमित्त का भाव मुझमें नहीं है ऐसा निर्णय होने से निमित्त और पर की दृष्टि छूट गई। अब, अपने भावों से अभिन्न

है—इसमें भूत भविष्य का यथावत् ज्ञान कराया है। आत्मा भूत भविष्य में ऐसी योग्यतावाला था और होगा—ऐसा विकल्प भी दृष्टि में नहीं होने, किन्तु जो जीव पर्याय को मानता ही नहीं उसे समझाने के लिये प्रथम भूत भविष्य की पर्यायों का यथार्थ ज्ञान कराते हैं। उस अर्थात् शुद्ध अशुद्ध सब पर्यायों के समुदाय को परद्रव्य भावों से भिन्न कह कर शुद्ध द्रव्य कहा है। ऐसे द्रव्य को जानकर दृष्टि त्रिकाल पर से भिन्न शुद्ध द्रव्य का स्वीकार करती है।

सम्यग्दृष्टि जानता है कि मेरी शक्ति तो सिद्ध ही होने की है

मेरा स्वभाव तो सदा सिद्ध समान है, इसलिये वास्तव में मेरी शक्ति तो सिद्ध ही होने की है। इसमें संसारपर्याय का आदर नहीं है, क्योंकि संसारपर्याय सिद्धपर्याय से अनन्तवें भाग अल्प है। मेरा स्वभाव शुद्धपर्याय ही प्रगट करने का है—ऐसा सम्यग्दृष्टि जानता है। शुद्ध होने की योग्यता निमित्त में से या राग में से नहीं आती ऐसा यह जानता है। भूतकाल में अशुद्ध पर्याय बीत गई है किन्तु वह द्रव्य में अन्तर्लीन है, इसलिये पर से भिन्न और स्व के भावों से अभिन्न द्रव्य को शुद्ध कहा है। जीव व्यापार धंधे के भावों में तथा पर के कार्यों में तो विचार करता है किन्तु यहाँ विचार नहीं करता, तो फिर आत्मा का सच्चा ज्ञान कैसे हो? इसलिये द्रव्यदृष्टि में पर से भिन्न तथा अपने भावों से अभिन्न को शुद्धत्व कहा है, और पर्याय अपेक्षा से तो वर्तमान पर्याय में उपाधिभाव का अभाव होना वह शुद्धत्व है।

पर्याय अपेक्षा से तो केवल ज्ञान ही वह शुद्धत्व है। साधक दशा में उपाधिभाव होता है, क्योंकि सर्वथा उपाधिभाव रहित नहीं हुआ है। नियमसारादि शास्त्रों में द्रव्यदृष्टि से पारिणामिक भाव के अतिरिक्त उदय, उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक—इन चारों भावों को वैभाविक भाव कहा है, वह दूसरी अपेक्षा है। यहाँ तो क्षायिक भाव के अतिरिक्त उदय, उपशम, क्षयोपशम—इन तीनों को उपाधिभाव कहा है। वर्तमान पर्याय अपेक्षा से शुद्धत्व तो हुआ नहीं है, इसलिये पर्याय अपेक्षा से शुद्धत्व मानना वह भ्रम है।

अब शुद्ध चिंतवन में तो द्रव्य अपेक्षा से शुद्धत्व ग्रहण किया है। उपरोक्त कथनानुसार शरीर कर्म से भिन्नत्व और शुद्ध अशुद्ध सब पर्यायों से अपने अभिन्नत्व को मुख्य करके यहाँ शुद्ध द्रव्य कहा है,—यह बात अच्छी तरह समझना चाहिये। इस प्रकार ज्ञानी त्रिकाली स्वभाव का चिंतवन करते हैं। श्री समयसार गाथा ६ की टीका में श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव ने कहा है कि—'प्रमत्तोऽप्रमत्तश्च न भवत्येष एवाशेषद्रव्यान्तरभावेभ्यो भिन्नत्वेनोपास्यमानः शुद्ध इत्यभिलप्यते।" अर्थात्—आत्मा प्रमत्त अप्रमत्त नहीं है यही सब परद्रव्यों के भावों से भिन्नत्व द्वारा सेवन करते हुए "शुद्ध" ऐसा कहते हैं। समयसार के प्रणेता श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव भावलिंगी मुनि थे और छट्ठे सातवें गुणस्थान में झूलते थे इसलिये मैं अप्रमत्त-प्रमत्त नहीं हूँ ऐसा कहा है, ऐसा नहीं कहा है कि मैं व्रत अव्रत और सयोग अयोग से रहित हूँ। वर्तमान पर्याय वर्तती है उसका निषेध करते हैं। अपनी वर्तमान पर्याय भेद का निषेध करते हैं, द्रव्य की दृष्टि कराई है।

परद्रव्य से भिन्न माने बिना, अपनी वर्तमान विकारी पर्यायसे त्रिकाली स्वभाव स्वयं भिन्न है ऐसा नही मान सकता। इसलिये यहाँ भी परद्रव्य से भिन्न को शुद्ध ही कहा है। परद्रव्य से भिन्न हुआ, —स्वसन्मुख हुआ इतनी तो पर्याय शुद्ध हुई है, किन्तु मुनिदशा में विशेष शुद्धता होती है। धर्म तो अभ्यंतर वस्तु है बाह्य वस्तु नहीं है, इसलिये ज्ञान को सूक्ष्म करके अंतर में देखना चाहिये, तभी यह बात समझ में आती है। द्रव्य क्या? पर्याय क्या? पर क्या?—इत्यादि सब बराबर जानना चाहिये और समझने का प्रयत्न करना चाहिये। अनादि काल से दूसरा सब कुछ किया किन्तु यथार्थ को समझने का प्रयत्न नहीं किया इसलिये धर्म नहीं हुआ। प्रथम यथार्थ समझने का ही प्रयत्न करना चाहिये।

× × ×

[वीर सं० २४७६ फाल्गुन कृष्णा ५ बुधवार ता०-४-२-५१]

आत्मा की निर्मल अनुभूति होकर अकषायभाव का होना वह पर्याय की शुद्धता है

यहाँ तक तो द्रव्य अपेक्षा शुद्धत्व की बात कही। अब पर्याय की शुद्धता की बात करते हैं। उसमें समयसार गाथा ७३ की श्री अमृतचन्द्राचार्य देव की टीका का आधार दिया है कि—सकलकारकचक्रप्रक्रियोत्तीर्णनिर्मलानुभूतिमात्रत्वाच्छुद्धः। अर्थात्—समस्त कर्ता कर्म आदि कारकों के समूह की प्रक्रिया से पारगत ऐसी जो निर्मल अनुभूति—अभेदज्ञान तन्मात्र है इसलिये वह शुद्ध है। अर्थात् मैं रागादि का कर्ता हूँ, राग मेरा कार्य है, मैं राग का आधार हूँ—ऐसी

छह कारकों की बुद्धि जिसके छूट गई है, उसके पर्याय की शुद्धता कहते हैं। जो ज्ञान का क्षयोपशम है उसे यहां शुद्धता नहीं कहा है, क्योंकि नित्यनिगोद के जीव का भी ज्ञान का विकास होता है। यदि इतना क्षयोपशम न हो तो जड़ होजाय इसलिये वह बात यहाँ नहीं है। सस्ती ग्रन्थमाला देहली प्रकाशित—मोक्षमार्ग प्रकाशक के पृष्ठ ३८ में क्षायोपशमिक ज्ञान को जीव के स्वभाव का अंश कहा है, उसका तो यह अर्थ है कि वहाँ ज्ञान का स्वभावभाव बतलाना है, किंतु वह बात यहाँ नहीं है। यहां तो परद्रव्यों का कर्ता आदि तो मैं नहीं हूँ, किंतु राग विकल्प पुण्य पापकी क्रियासे छूटकर—पार होकर आत्मा की निर्मल अनुभूति हुई, अकषायभाव हुआ उसे पर्याय अपेक्षा से शुद्धता कहा है।

छह कारकों की अशुद्धता के तीन प्रकार है। (१) आत्मा कर्ता और शरीर, कर्म आदि मेरा कार्य है —इस छह संयोगी कारकों की तो यहाँ बात ही नहीं है। आत्मा आधार है इसलिये शरीर का कार्य होता है—ऐसा नहीं है, किंतु यहाँ तो कहते हैं कि (२) रागादि मेरी पर्याय है, आत्मा उसका कर्ता है और वह आत्मा का कर्म इत्यादि भी नहीं है। (३) इसके अतिरिक्त आत्मा के आश्रय से शुद्ध निर्मल पर्याय प्रगट होती है उसका मैं कर्ता आदि हूँ ऐसा विकल्प भी यहाँ नहीं है। अभेद, अखण्ड, त्रिकाल शुद्ध स्वभाव के आश्रयसे निर्विकल्पदशा प्रगट हुई है उस पर्याय अपेक्षासे शुद्धता है—ऐसा समझना चाहिये। मैं अपनी वीतरागी पर्यायका कर्ता हूँ—ऐसा भेद जबतक है तबतक पर्यायकी शुद्धता नहीं हुई है।

अज्ञानी न तो द्रव्यकी शुद्धताको समझता है और न पर्यायकी शुद्धता को। छह कारकामें तीनप्रकार से अशुद्धता आती है। एक तो परद्रव्यका कर्ता आदि मानना, दूसरे रागादि विकारी पर्यायका कर्ता आदि मानना, और तीसरे मैं अपनी निर्मल पर्यायका कर्ता आदि हूँ—ऐसा भेद डालना—यह तीनों अशुद्धता हैं, मेरा स्वरूप उनसे रहित अभेद ज्ञानानंद चैतन्यस्वभावी एकरूप है, उसकी जिसे दृष्टि हुई है उसे पर्यायमें शुद्ध अनुभव—आनंददशा प्रगट होती है वह पर्यायकी शुद्धता है।

शास्त्रमें सम्यग्दृष्टिके शुभभावको मोक्षका व्यवहार-साधन कहा है, किंतु उसका अर्थ बराबर समझना चाहिये। पर की तो बात नहीं है किन्तु मैं शुभभावका कर्ता हूँ और शुभभाव मेरा कर्म है इत्यादि भी साधन नहीं है और मैं अपनी वीतरागी निर्मल दशाओंका कर्ता हूँ—ऐसा भेद भी साधन नहीं है। अभेद स्वभावके आश्रयसे ही पर्याय की शुद्धता प्रगट होती है निश्चय साधन प्रगट किये बिना शुभभावको व्यवहार साधन भी नहीं कहा जाता। इसलिये यथायोग्य समझना चाहिये।

सम्यग्दृष्टिका ध्येय कैसा होता है? उसका यहाँ वर्णन चल रहा है। उसमें ज्ञानी पर्यायकी शुद्धता किसे मानता है कि—छह कारकों की प्रक्रियासे पारगत ऐसी जो निर्मल अनुभूति अभेद ज्ञानमात्रदशा होती है उस पर्यायको शुद्धता कहते हैं। पहले द्रव्यकी शुद्धता बतलाते हुए जीवको अजीवसे भिन्न बतलाया था, और यहाँ पर्यायमें शुद्धता बतलाते हुए कर्ता कर्म आदि छह कारकोंके भेदके अभावसे प्रगट होनेवाली निर्मल अनुभूति बतलाई है। इसतरह दो प्रकारसे

शुद्धता जानना। पर से भिन्नत्व जानकर सामान्य स्वभाव के सन्मुख दृष्टि करना वह द्रव्यकी शुद्धता और पर्यायमें अभेद निर्मलदशा प्रगट होना उसे पर्यायकी शुद्धता मानना चाहिये।

अब केवलका अर्थ करते हैं। केवल शब्दका अर्थ भी इसी प्रकार जानना कि "परभावसे भिन्न निःकेवल स्वयं ही," उसका नाम केवल है। इसीप्रकार अन्य अर्थ भी अवधारण करना। जहाँ जहाँ जिसप्रकार अर्थ हो वहाँ वहाँ उसप्रकार जानना। द्रव्य अपेक्षासे सामान्य एकरूप ज्ञान, जिसमें त्रिकाल उपाधि नहीं है उसे केवलज्ञान स्वरूप मानना चाहिये। आत्मा मात्र ज्ञानस्वभावी है–ऐसा केवलका अर्थ मानना चाहिए, किन्तु केवल शब्दका अर्थ पर्याय अपेक्षासे केवली हुआ–ऐसा मानना वह विपरीतता है। पर्यायमें पूर्ण अभेदज्ञान सम्प्राप्त हुए बिना केवलज्ञान मान तो वह भ्रमणा है। इसलिये अपने को द्रव्य-पर्यायरूप अवलोकना। द्रव्यसे तो सामान्य स्वरूप अवलोकन करना तथा पर्यायसे अवस्था विशेष अवधारण करना। इसी प्रकार चिंतवन करने से सम्यग्दृष्टि होता है, क्योंकि सत्य जाने बिना सम्यग्दृष्टि नाम कैसे प्राप्त करेगा ? पर्यायमें तो, जैसी जैसी पर्याय हो वैसी हो मानना चाहिये।—इसप्रकार द्रव्य पर्यायका सच्चा चिंतवन करने से सम्यग्दृष्टि होता है। अवस्थाको यथावत् जाने तथा द्रव्यको द्रव्य सामान्य जानकर स्वसन्मुख हो तो उसको ज्ञान सच्चा कहलाता है। यहाँ ज्ञान–अपेक्षासे कथन है इसलिये उसे सम्यग्दृष्टि कहा है।

ज्ञानी को भी शास्त्राभ्यास आदि शुभ विकल्प होते हैं

और मोक्षमार्गमें तो रागादि मिटानेका श्रद्धान ज्ञान आचरण करना होता है, उसका तो निश्चयाभासीको विचार नहीं है। मात्र

अपना शुद्ध अनुभवन करके ही अपनेको सम्यग्दृष्टि मानता है और अन्य सब साधनोंका निषेध करता है। अपनेको शुद्धता प्रगट हुई हो और शुद्ध माने तब तो कोई आपत्ति नहीं है, किन्तु शुद्धता तो हुई नहीं है और "मैं पर्यायमें भी शुद्ध होगया हूँ, मुझे विकल्प उठता ही नहीं।"—इसप्रकार वह शुभभावका निषेध करता है और शास्त्राभ्यास करना निरर्थक बतलाता है, अर्थात् वह शास्त्राभ्यासको उपाधि मानता है, किन्तु पूर्णदशा न हुई हो तबतक ज्ञानीको शास्त्राभ्यासका विकल्प आये बिना नहीं रहता। वह मानता है कि हमें ऐसा विकल्प नहीं करना है, किन्तु शुद्धदशा सम्पूर्ण प्रगट नहीं हुई है निर्विकल्प उपयोग निरंतर नहीं है—और शुभ विकल्पमें न रहे तो अशुभ विकल्प हुए बिना नहीं रहेगा। इस बातको अज्ञानी नहीं समझता। भावलिंगी मुनियोंको भी छट्ठे गुणस्थानमें शुभ विकल्प आये बिना नहीं रहता। जिस धर्मकी पूर्ण पर्याय प्रगट नहीं हुई है उस विकल्प न आये ऐसा नहीं हो सकता।

और वह निश्चयाभासी द्रव्य गुणपर्यायके, गुणस्थान मार्गणास्थानके तथा त्रिलोकादिके विचारोंको विकल्प ठहराकर तीव्र प्रमादी बनता है। यहाँ जो मार्गणा कही है वह ज्ञानमार्गणा है क्योंकि यह जीवके स्वरूपकी बात है इस वह नहीं समझता। यहाँ तो कहते हैं कि सम्यग्ज्ञान चारित्रका लाभ तो आत्मासे होता है, बाहरसे नहीं होता। गुरुके पाससे ज्ञान नहीं आता, किन्तु जिसे पूर्णज्ञान नहीं हुआ है उसे शास्त्राभ्यासका उत्साह और विकल्प आये बिना नहीं रहता। शास्त्रमें ऐसा भी आता है कि—द्रव्य–गुण–पर्यायके भेदका चिंतन करना कर्तव्य नहीं है, वहाँ तो भेद डालकर विचार करने से रागी जीवका

विकल्प उठते हैं, इसलिये उसका निषेध किया है, किन्तु उसका अर्थ यह नही है कि साधकदशामें ऐसा विकल्प आता ही नही। साधक-दशामे वह विकल्प आये बिना नही रहता।

गुणस्थान–मार्गणास्थान आदि का विकल्प हमें नही करना है—ऐसा वह मानता है, किन्तु वह नही समझता कि साधक दशा में वह विचार और विकल्प आये बिना नही रहता। निश्चयाभासी तपश्चरण को वृथा क्लेश करना मानता है। धर्मात्मा को स्वभाव के लक्ष से जितने अंश मे अकषाय–वीतरागी दशा प्रगट हुई है उतने अंश मे आहारादि का विकल्प छूट जाता है, इसे वह नही समझता। इस प्रकार वह तपश्चरण के स्वरूप को भी नही समझता, इसलिये उसे क्लेश कहता है। और वह व्रतादि को बन्धन मे पड़ना कहता है, वह भी मिथ्या है, *क्योंकि भगवान की पूजादि का* छोड़ना योग्य है—ऐसा मानकर शुभ मे नही वर्तता, किन्तु अशुभ मे प्रवृत्ति करता है। शुद्धता मे आता हो तो उसे शुभभाव का निषेध ठीक है, किन्तु वह स्वरूप की दृष्टिपूर्वक स्थिरता तो करता नही है और प्रमादी होकर अशुभमे वर्तता है, वह निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि है।

अब उस बात का विशेष स्पष्टीकरण कहते है कि—शास्त्राभ्यास तो मुनि के भी होता है। छट्ठा सातवां गुणस्थान एकदिन मे अनेक बार आता है ऐसी दशा को मुनित्व कहते हैं। क्षण मे सातवां गुण-स्थान आजाता है, और क्षण मे विकल्प आये तब छट्ठा। छठवें गुण-स्थान में शास्त्राभ्यासादि करते हैं ऐसा मार्ग है, उसे तो अज्ञानी निश्चयाभासी समझता नही है। छट्ठे गुणस्थान की स्थिति भगवान

ने अन्तर्मुहूर्त की देखी है, किन्तु जितनी भगवान ने देखी है उतनी ही छट्ठे गुणस्थान की पूरी स्थिति कोई मुनि भोगे तो वह मिथ्या दृष्टि हो जाता है। मुनिदशा प्रमुख समय तक छट्ठे गुणस्थान में होते हैं और फिर सातवें गुणस्थान में आते ही हैं,—ऐसे मुनि को विकल्प के समय शास्त्राभ्यास का विकल्प आता है। महाविदेहक्षेत्र में भावलिंगी मुनि विराजमान हैं व एसे होते हैं। गणधर जब णमो कार मन्त्र पढ़ते हैं तब उनका नमस्कार एसे भावमुनि को पहुँचता है। गणधरदेव व्यवहार में उन मुनि को सीधा नमस्कार नहीं करते, किन्तु नमस्कार मन्त्र में ऐसे मुनियों का समावेश हो जाता है।

अतएव निश्चयाभासी एसे होते हैं जो प्रमादी होकर चौबीस—चौबीस घंटे तक पड़े रहते हैं और मानते हैं कि हमारी दशा बहुत ऊँची होगई है। वे निश्चय के स्वरूप को नहीं समझे हैं और प्रवर्तन अशुभभाव में रहते हैं। यहाँ तो कहते हैं कि मुनि भी शास्त्राभ्यास करते हैं। शास्त्रों में तो कहा है यदि मुनि ध्यान में रहें तो अच्छा है, यदि ध्यानमें न रह सकें तो शास्त्राभ्यासमें रहना कर्तव्य है, किन्तु अ यत्र उपयोग का लगना ठीक नहीं है। शास्त्राभ्यास द्वारा तत्वों के विशेष जानने से तो सम्यग्दर्शन—ज्ञान निर्मल होते हैं।

× × ×

[वीर सं० २४७९ फाल्गुन कृष्णा ६ गुरुवार ता० ५–२–५३]

शास्त्राभ्यास का प्रयोजन

पुनश्च, निश्चयाभासी कहता है कि शास्त्र से ज्ञान नहीं होता तो फिर शास्त्रों का पढ़ना निरर्थक है। उससे कहते हैं कि—शास्त्रोंसे ज्ञान

नही होता यह बात ठीक है, कि तु सविकल्प दशावाले को शास्त्रा
भ्यास करने का विकल्प आये बिना नही रहता । शास्त्र द्वारा तत्त्व
के विशेष जानने से तो सम्यग्दर्शन ज्ञान निर्मल होते हैं । देखो
शास्त्राभ्यास से सम्यग्दर्शन निर्मल होता है—ऐसा कहा है, कि
वास्तव मे शास्त्राभ्यास से निर्मल नही होता कि तु निश्चयाभासी
पर्याय को मानता ही नही उससे कहते हैं कि आत्मा का अवलम्बन
लेकर जो जीव सम्यग्दर्शन निर्मल करता है उसे शास्त्र निमित्तरूप
होते हैं इसलिये शास्त्राभ्यास करने से ज्ञान निर्मल होता है—ऐसा
कहा है ।

और जब तक उसमें उपयोग रहे तब तक कषाय भी मन्द रहती
है तथा भावी वीतरागभावों की वृद्धि होती है, इसलिये ऐसे कार्यों
को निरर्थक नही कहा जा सकता । सम्यग्ज्ञानी को वीतरागभाव
की वृद्धि होती है, इसका यह अर्थ है कि—उसके चिदानद स्वभाव की
प्रतीति वर्तती है तथा कषाय की म दता होती है । सम्यग्दृष्टिपूर्वक
शास्त्राभ्यास से अशुभराग दूर होता है और वीतरागभाव होता है
—ऐसा निमित्त से कहा है । त्रिकाली अकषाय स्वभाव की प्रतीति
वाले को कषाय की मन्दता होती है और शास्त्राभ्यासादि करते
समय अशुभभाव नही होता उसकी कषायम दता को उपचार से
वीतरागता का कारण कहा है । वास्तव मे कषाय की म दता से
शुद्धता तीनकाल मे नही होती ।

जब तक शास्त्र में उपयोग रहता है तब तक कषाय की मन्दता
वीतरागता की वृद्धि मे निमित्तकारण है । वास्तव मे तो भगवान
आत्मा अकषाय चैत य स्वरूपी है उसके अवलम्बन से अकषाय परि

हानि होती है। कषाय के अवलम्बन से शुद्धता नहीं होती, किन्तु यहाँ जो जो एकान्त निश्चय को ही मानता है और शास्त्राभ्यास के शुभभाव का निषेध करता है उससे कहते हैं कि—वह शुद्धता का निमित्त है, इसलिये उसे निरर्थक कैसे कहा जा सकता है? अशुभके अभावमें शुभ आये बिना नहीं रहता, और वह शुभभाव वीतरागभावमें निमित्त है, इसलिये शास्त्राभ्यास निरर्थक नहीं है—ऐसा यहाँ कहा है।

अब प्रश्न करते हैं कि—जैन शास्त्रोंमें अध्यात्म उपदेश है, उसका अभ्यास करना चाहिये किन्तु अन्य शास्त्रोंके अभ्याससे कोई सिद्धि नहीं है।

उत्तर—यदि तेरी दृष्टि सच्ची हुई है—अर्थात् तुझे यथार्थ श्रद्धा ज्ञान है, तब तो समस्त जैन शास्त्र तेरे लिये कार्यकारी हैं। कोई भी जैन शास्त्र पढ़े उसका निषेध करने जैसा नहीं है। अध्यात्म शास्त्रमें तो आत्मस्वरूपका कथन मुख्य है। सम्यग्दृष्टि होने से आत्मस्वरूप का निर्णय तो हो चुका है, अब ज्ञानकी विशेष निर्मलताके लिये तथा उपयोगको मंदकषायरूप रखने के हेतुसे अन्य शास्त्रोंका अभ्यास भी मुख्य आवश्यक है।

पुनश्च, अकेले अध्यात्म शास्त्रोंका ही अभ्यास करना चाहिये, अन्य शास्त्रोंका नहीं—ऐसा जो एकान्त करता है, उससे कहते हैं कि अध्यात्म शास्त्रमें तो सम्यग्दर्शनका कारण ऐसे आत्मस्वरूपका कथन किया है। जिसे सम्यग्दर्शन हुआ है उसे ज्ञानकी निर्मलताके लिये और कषायकी मंदताके लिये भी अन्य शास्त्रोंका अध्ययन कार्यकारी है।

जिसे सम्यग्दर्शन हुआ है उसके लिये तो अध्यात्म-शास्त्रोंके अतिरिक्त अन्य शास्त्रोंका अभ्यास भी यहाँ मुख्य आवश्यक कहा है, क्योंकि जो निर्णय हो चुका है उसे स्पष्ट रखने के लिये भी अन्य शास्त्रोंका अभ्यास आवश्यक है। क्षायिक सम्यग्दर्शन तो केवली या श्रुतकेवलीके समीप होता है। वहाँ कहीं केवलीके कारण होता है—ऐसा नहीं है, किन्तु जब आत्मा स्वयं अपने समीप होकर क्षायिक सम्यक्त्व करता है तब निमित्तरूपसे समीप कौन होता है?—यह बतलाने के लिये व्यवहारसे केवली या श्रुतकेवलीके समीप होता है ऐसा कहा है। अपने को क्षायिक सम्यक्त्व होनेका काल ही वह है, और उस समय वह जीव भगवान या श्रुतकेवलीके समीप ही होता है।—इसप्रकार शास्त्र ज्ञानकी निर्मलता होने में निमित्तरूप हैं, इसलिये अध्यात्म शास्त्रोंके सिवा अन्य शास्त्रोंकी अरुचि नहीं करना चाहिये।

निमित्तरूपसे दूसरे शास्त्र होते हैं, उसे जो नहीं मानता और कहता है कि अन्य शास्त्र पढ़नेका विकल्प ही ज्ञानीके नहीं होता, उससे कहते हैं कि—ज्ञानीको अध्यात्म शास्त्रोंके अतिरिक्त अन्य शास्त्रोंका अभ्यास आवश्यक है—इसे जो नहीं मानता उसे वास्तव में अध्यात्म शास्त्रोंकी भी रुचि नहीं है। जैसे कि—जिसमें विषयासक्तता होती है वह विषयासक्त पुरुषोंकी कथा भी रुचिपूर्वक सुनता है, विषय के विशेषोंको जानता है विषयाचरणके साधनोंको भी हित रूप मानता है और विषयके स्वरूपको भी पहिचानता है, उसीप्रकार जिसे आत्माकी रुचि और उसका भान हुआ है वह (१) आदिपुराण आदि को—जिनमें आत्मरुचिके धारक तीर्थंकर भगवानादिकी कथा

ोती है—भी जानता है । ज्ञानीको उनका विकल्प आता है, किन्तु उम विकल्पके कारण निमलता होती है—ऐसा नही है । (२)आत्मा े विशेषाको जानने के लिये मार्गणास्थान गुणस्थानादिकको भी जानता है । समयसारम गुणस्थानादिके विकल्पाको वधन कहा है, किन्तु यहाँ तो दृष्टि पूवक करणानुयोगके शास्त्रोंके अभ्यासका विकल्प आता है वह कहते हैं । ज्ञानी को चारो अनुयोगोका विकल्प आता है । अकेले द्रव्यानुयोगका ही अभ्यास करना चाहिये—ऐसा कहकर निश्चयाभासी एकान्तकी ओर खीचता है उससे कहते हैं कि—जिनमें गुणस्थानादिका वणन हो उन शास्त्रोंका अभ्यास करने से निमलता होती है । वह कथन व्यवहारसे है । निश्चयसे तो गुणस्थानादिके विकल्प भी बाधकारी नही हैं—ऐसा कहा है । (३) आरम आचरणमें साधनरूप जो व्रतादिक हैं उन्हें भी व्यवहार से हितरूप मानता है—ऐसा कहा है, क्योकि साधकदशामे ऐसा विकल्प आये बिना नहीं रहता । व्रतादिक परिणाम जो शुभ हैं—विकार हैं, उन्हें भी यहाँ अनुभभाव टालनेक लिये उपचारसे हितरूप कहा है । सम्यग्दृष्टिको व्रतादिके शुभ विकल्प आते हैं, इसलिये यहाँ व्यवहारसे उन्हें हितरूप कहा है, वास्तवमें तो वे हितरूप नही हैं । व्रत तपादिका विकल्प तो मुनिको भी आता है । मुनि होने से पूव चौथे गुणस्थान में सम्यग्दशन तो हो ही गया है । व्रतादिको वह हितरूप नही मानता, किन्तु अभी पूणदशा नही हुई है, इसलिये बीचम व्रतादिके विकल्प सहज ही आते हैं इसलिये उपचार स उन्हें हितरूप कहा है । अज्ञानी की भाँति हठपूवक व्रतादि ग्रहण करले वह भगवानका माग नहीं है ।

दर्शन विशुद्धादि सोलह कारण भावनाओंमें दर्शन विशुद्धिकी बात प्रथम आती है वह बराबर है। श्वेताम्बर में कहा है कि बीस कारणमें तीर्थंकर नामकर्मका बंध होता है, और उसमें पहला बोल अरिहन्त भक्ति है वह बराबर नहीं है। दिगम्बर शास्त्रोंमें सोलह कारण भावनामें प्रथम दर्शनविशुद्धि आती है वह यथार्थ है। सोलह कारण भावना तो आस्रव है, किंतु ज्ञानीके लिये व्यवहारसे सोलह कारण भावनाको संवरका कारण कहा है। (४) और, ज्ञानी आत्म स्वरूपको भी विशेष पहिचानता है। —इसप्रकार चारों अनुयोग कार्यकारी हैं।

प्रश्न —पद्मनंदि पंचविंशतिमें ऐसा कहा है कि—जो बुद्धि आत्मस्वरूपमें से निकलकर बाहर शास्त्रमें विचरती है, वह व्यभिचारिणी है?

उत्तर —पद्मनंदि भगवान ऐसा कहते हैं कि —आत्मासे च्युत होकर जिसकी बुद्धि शास्त्रमें जाती है वह व्यभिचारिणी है। वह तो सत्य है, परद्रव्यका ज्ञान करना वह रागका कारण नहीं है, किंतु परद्रव्यमें प्रेम हुआ है उसे व्यभिचारिणी कहा है। ज्ञानीको भी परमें बुद्धि जाने से जितना राग होता है उतना दुःखदायी है, इस लिये उस बुद्धिको व्यभिचारिणी कहा है। इस अपेक्षासे वह बात की है। जिसे भगवान आत्माका निर्णय हुआ है वह परद्रव्यके ज्ञान का प्रेम करे तो उसे व्यभिचार कहा है, क्योंकि वह पुण्य राग है। स्त्री ब्रह्मचारी रहे तो ठीक है, किन्तु ब्रह्मचर्य का पालन न कर सके, और अपने योग्य पुरुषसे ब्याह करना छोड़कर चंडाल आदिका सेवन करे तो वह महान निंदनीय होती है। स्त्री शीलका पालन करे तो

वह पुण्यबंध है,—यह तो यहाँ दृष्टान्त है उसी प्रकार बुद्धि आत्मा में रहे तो ठीक है, किन्तु आत्मा में स्थिर न रह सके और शास्त्राभ्यास का प्रशस्त राग छोड़कर अशुभ भाव कर तो वह महा निन्दनीय है। शास्त्राभ्यास को छोड़कर सांसारिक कार्यों में लग जाये तो वह पाप है। भगवान आत्मा ज्ञान में रमण कर तो अच्छा है, और आत्मा म रमण न कर सके तो शुभ भाव में रहना अच्छा है, किंतु अशुभभाव तो करने योग्य नहीं ही है। यहाँ, जिसे आत्म दृष्टि हुई है उसे, अपेक्षा स शुभभाव ठीक है—ऐसा व्यवहार से कहा है।

अशुभभाव करके संसारकार्यों में लगा रहे और शास्त्राभ्यास को छोड़ द तो वह महा निन्दनीय है। यहाँ कहा है कि अशुभ न करके शुभभाव करना योग्य है, वह भी व्यवहार से कहा है। वास्तव में निश्चय स तो अपनी योग्यतानुसार अशुभ के समय अशुभ और शुभ के समय शुभ ही होता है—ऐसा ज्ञानी जानत हैं, किंतु साधक दशामें ज्ञानी के वसा विकल्प होता है उसका यहाँ ज्ञान कराया है। यहाँ कहने का तात्पय यह है कि—जब शुभभाव आता है तब शास्त्रा भ्यास में बुद्धि लगाना योग्य है, क्यो कि मुनियो को भी स्वरूप में अधिक काल तक स्थिरता नहीं रहती। गणधर देव भी भगवान की दिव्यध्वनि का श्रवण करते हैं। जो चार ज्ञान और चौदह पूर्व के धारी हैं, जिन्होंने बारह अंगों की रचना की है, उन्हें भी अधिक काल तक अंतर्स्थिरता न रहने से भगवान की वाणी सुनने का विकल्प होता है, इसलिये शास्त्राभ्यास में बुद्धि को लगाना योग्य है।

× × ×

[वीर स २४७६ फाल्गुन कृष्णा ७ शुक्रवार ता० ६-२-५३]

छद्मस्थ को निरंतर निर्विकल्प दशा नही रहती। छद्मस्थ का उपयोग एकरूप रहे तो उत्कृष्ट अंतर्मुहूर्त रहता है उससे अधिक नहीं। उससे विशेष रहे तो वीतराग होकर केवलज्ञान प्राप्त कर ले। यहाँ यह भान कराते हैं कि साधक जीव को शुभ राग आता है। शुभ राग आता है उसे जानना वह व्यवहार है। कुछ लोग कहते हैं कि व्यवहार और निमित्त से लाभ मानो, तब व्यवहार माना कहा जायेगा, किंतु यह बराबर नही है। परसे शुभभाव नही होता। मंदिर शुभ निमित्त होने पर भी कुछ लोग मंदिर मे चोरी करते हैं। इसलिये जो शुभ भाव करता है, उसके लिये निमित्त कहलाता है। निमित्त से शुभभाव नही होता और शुभ से धर्म नही होता। आत्मा से धर्म होता है, और शुभ से पुण्य होता है ऐसा मानना वह निश्चय है और अपूर्णदशा मे शुभराग आता है उसे जानना सो व्यवहार है।

यहाँ निश्चयाभासी कहता है कि—"मै अनेक प्रकार से आत्मस्वरूप का ही चिंतवन करता रहूँगा।" तो उससे कहते हैं कि—सामान्य चिंतवन मे अनेक प्रकार नही होते। राग रहित स्वभाव एक ही प्रकार का है, तथा विशेष विचार करे तो आत्मा अनंत गुणों का पिण्ड है, वर्तमान पर्याय है मार्गणास्थान, गुणस्थानादि शुद्ध अशुद्ध अवस्था का विचार आयेगा। ऐसा शुभराग आये उसे जानना वह व्यवहार है।

पुनश्च मात्र आत्मज्ञान से ही मोक्षमार्ग नही होता किन्तु सात तत्त्वों का श्रद्धान ज्ञान होने पर और रागादि का नाश होने पर मोक्षमार्ग होगा। जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष—यह सातों तत्त्व पृथक् पृथक हैं—ऐसा जानना चाहिये। मैं

शुद्ध चिदानन्द हूँ सो जीव, शरीर, कर्मादि अजीव हैं व मुझसे भिन्न हैं दया दानादि तथा हिंसा, असत्यादि आस्रव हैं, उनमें रुकना वह बंध है। आत्मा के भान द्वारा संवर होता है विशेष स्थिरता द्वारा शुद्धि की वृद्धिरूप निर्जरा होती है सम्पूर्ण शुद्धि वह मोक्ष है। यदि कर्म के कारण आस्रव माने तो अजीव और आस्रव एक हो जायें। शरीरका हलन चलन आदि अजीवकी पर्याय है, वह आत्माकी पर्याय नहीं है। आत्माके कारण शरीर चलता है ऐसा माने तो आत्मा और शरीर को पृथक् नहीं माना। पुण्य पाप के भाव आस्रव हैं उनमें अटक जाना सो बंध है। आत्मा के अवलम्बन से जो सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र प्रगट होते हैं वह संवर निर्जरा है पूर्णदशा प्रगट हो वह मोक्ष है।

कर्म से विकार माने तो अजीव और आस्रव को एक माना, आत्मा से शरीर चलता है--ऐसा माने तो जीव और अजीव को एक माना, और ऐसा मानने से सात तत्त्व नहीं रहते। पृथक् पृथक् सात तत्त्व न माने तो मिथ्यादृष्टि हो जाता है। शरीर की क्रिया अजीव की है, इच्छा आस्रव है, ज्ञाता द्रष्टा जीव तत्त्व है—इसप्रकार सातों तत्त्व पृथक् पृथक् हैं। अज्ञानी कहता है कि हम आत्माका ज्ञान है, उससे कहते हैं कि विपरीत अभिप्राय रहित सात तत्त्वों के ज्ञान बिना अकेले आत्मा का ज्ञान सच्चा नहीं होता। जीवादि सात तत्त्व जैसे हैं वैसा ही उन्हें मानना चाहिये। पुनश्च, व्यवहार रत्नत्रय से निश्चय रत्नत्रय माने तो आस्रव और संवर एक हो जाते हैं, सात नहीं रहते। सात तत्त्वों का ठिकाना नहीं है और आत्मज्ञान माने तो वह झूठा है। व्यवहार से धर्म माने वह भी झूठा है। सातकी श्रद्धा और ज्ञान के बिना रागादि का त्याग होकर चारित्र नहीं होता।

यहाँ निश्चयाभासी से कहते हैं कि प्रथम सात तत्त्वों के श्रद्धान-ज्ञान होना चाहिये, तत्पश्चात् द्रव्य स्वभाव के विशेष आश्रय से वीतरागता होती है। सात तत्त्वों का श्रद्धान ज्ञान वह सम्यग्दर्शन ज्ञान है, और रागादिका दूर होना वह चारित्र दशा है। यह सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्र वह मोक्षमार्ग है। मुनियों के २८ मूल गुणों का पालन होता है वह आस्रव तत्त्व है, चारित्र नहीं है। ज्ञायकस्वभाव में एकाग्रता होने से आस्रव बंधहीन हो जाते हैं और स्थिरता में वृद्धि होती है वह चारित्र है।

अब, सात तत्त्वों के विशेष जानने के लिये जीव और अजीव के विशेष जानना चाहिये। पुण्य पाप परिणाम आस्रव है, जडकर्म स्वतंत्र आते हैं वह द्रव्य-आस्रव है, जीव विकारी परिणाम में अटकता है वह भावबंध है और कर्म बँधते हैं यह द्रव्यबंध है जहाँ भाव-आस्रव हो वहाँ द्रव्य आस्रव होता है। वे एक-दूसरे के कारण आते हैं—ऐसा कहना निमित्त का कथन है। जीव में मलिन परिणाम का होना स्वतंत्र है और कर्मों का आना स्वतंत्र है, कोई किसी के कारण नहीं है। जीव की पर्याय में जो शुभाशुभ परिणाम होते हैं वह भाव आस्रव है, और उतने ही प्रमाणमें कर्मोंका बंध होता है, इतना निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बतलाने के लिये ऐसा कहा है कि भावास्रवके कारण द्रव्यास्रव होता है, किन्तु वास्तव में एक के कारण दूसरा नहीं होता। जब कर्म की पर्याय नैमित्तिक स्वतंत्र होती है तब भावास्रवको निमित्त कहा जाता है, उसी प्रकार जीव स्वयं विकार करे तो कर्म के उदयको निमित्त कहा जाता है। अशुभ निमित्तों से उपयोग को हटा कर द्रव्य गुण पर्यायका विचार करना चाहिये कि—मैं त्रिकाली

द्रव्य हैं, गुण भी त्रिकाली हैं, और गुणस्थानादिका भी विचार करना चाहिये, वह राग कम करने में निमित्त हैं, क्योंकि उनमें कोई रागादिक का निमित्त नहीं है। यहाँ राग के क्रमको नहीं बदलना है, भूमिकानुसार जिस समय जो राग आना है वह तो आयेगा ही। राग को कम करने का उपाय तो आत्मावलम्बन से ही है, किन्तु उपदेश में व्यवहार कथन में ऐसा आता है कि अशुभ को घटाकर शुभ में रहना चाहिये गुणस्थानादिका विचार करना चाहिये। इसलिये सम्यग्दृष्टि होने के पश्चात् भी वही उपयोग लगाना चाहिये।

प्रश्न—जो रागादि मिटाने के कारण हो उनमें तो उपयोग लगाना ठीक है, किन्तु क्या त्रिलोकवर्ती जीवों की गति आदि का विचार करना कार्यकारी है?

उत्तर—ऐसे विचार से राग नहीं बढ़ता। आत्मा ज्ञायक है, लोक, कर्म आदि ज्ञानके ज्ञेय हैं। जगतके पदार्थ इष्ट-अनिष्ट नहीं हैं किन्तु वे ज्ञेय हैं और आत्मा ज्ञानस्वरूप प्रमाण है। पदार्थों में इष्ट अनिष्ट माने वह मिथ्यादृष्टि है त्रिलोक के विचारमें इष्ट-अनिष्टपना नहीं है, इसलिये ज्ञेयका विचार वर्तमान रागादिक का कारण नहीं है, किन्तु लोकादिका विचार और अभ्यास करने से ज्ञान निर्मल होता है, तथा वह विचार वर्तमान और आगामी रागादि घटाने का कारण है। वर्तमान में जो शुभ राग उत्पन्न हुआ है वह राग घटाने का कारण नहीं है, वास्तव में तो शुद्ध आत्मा के आश्रय से ही राग कम होता है, किन्तु शुभराग आता है और अशुभ घटता है, इसलिये शुभराग को उपचार से राग घटने का कारण कहा है।

प्रश्न —स्वर्ग-नरकादि को जानने से तो वहाँ राग द्वेष होता है।

उत्तर —ज्ञानी स्वर्ग को अनुकूल तथा नरक को प्रतिकूल नही मानता। पुण्य से स्वर्ग की प्राप्ति होती है और पाप से नरक की—ऐसा ज्ञानी जानता है। ज्ञानी शुभाशुभ को हेय मानता है, तो फिर उसका फल जो स्वर्ग नरकादि हैं उन्हे उपादेय नही मान सकता। अज्ञानी पुण्य को और उसके फल को उपादेय मानता है, ज्ञानी पुण्य को पुण्य और धर्म को धर्म मानता है। पुण्यको बन्ध का कारण समझता है। इसलिये स्वर्ग नरकादि को जानते हुए उसे राग द्वेष की बुद्धि नही होती, अज्ञानी को होती है। जब पाप छोडकर पुण्य कार्य मे लग जाये, तब कुछ रागादि घटते ही हैं।

प्रश्न —शास्त्र मे तो ऐसा उपदेश है कि प्रयोजनभूत थोडा ही जानना कार्यकारी है, इसलिये बहुत से विकल्प किसलिये करें ?

उत्तर —सात तत्त्व अथवा नौ पदार्थों का ज्ञान आवश्यक है। जो जीव दूसरा सब कुछ जाने किन्तु प्रयोजनभूत न जाने उससे कहा है कि प्रयोजनभूत जानो, अथवा जिसमे बहुत जानने की शक्ति नही है उसे यह उपदेश दिया है। जिसकी अल्प बुद्धि है उससे कहा है कि अल्प किन्तु प्रयोजनभूत जानो। शिवभूति मुनि को विशेष बुद्धि नही थी, किन्तु उन्होने प्रयोजनभूत तत्त्व को जाना था। और जिसकी अधिक बुद्धि है उससे नही कहा है कि अधिक जानने से बुरा होगा, उल्टा बहुत जानने से ज्ञान निर्मल होगा। शास्त्रमे भी ऐसा कहा है कि—सामान्यशास्त्रतो नून, विशेषो बलवान भवेत्। सामान्य की अपेक्षा विशेष बलवान है। यहा सामान्य अर्थात् द्रव्य और विशेष अर्थात् पर्याय,—ऐसा अर्थ नही है। पर्याय दृष्टि छोडकर द्रव्य दृष्टि

करना चाहिए—यह बात भी यहाँ नहीं करना है, किन्तु सामान्य अर्थात् संक्षेप से जानने की अपेक्षा विशेषता से—अधिकता से—अनेक पक्षों से जानना वह निर्मलता का कारण है। जिसे आत्माका भान हुआ है ऐसे जीव को विशेष ज्ञान निर्मलता का कारण है। सामान्य अर्थात् द्रव्य और विशेष अर्थात् पर्याय, इसलिये द्रव्य की अपेक्षा पर्याय बलवान है ऐसा नहीं कहना है। धर्म प्रगट करने में बलवान तो द्रव्य है और द्रव्यसामान्य के आश्रय से ही निर्मलता होती है किन्तु वह यहां नहीं कहना है। यहां यह कहना है कि विशेष ज्ञान का होना वह निर्मलता का कारण है। मैं आत्मा ज्ञायक हूँ—ऐसी सामान्यकी दृष्टि तो निरंतर रखना चाहिये। सामान्य आत्मा पर दृष्टि रखना और ज्ञान की विशेषता करना वह निर्मलता का कारण है—ऐसा यहाँ कहना है। 'विशेष जानने से विकल्प होते हैं'—इसप्रकार अज्ञानी एकान्त खींचते हैं, उन्हें समझाया है।

× × ×

[वीर सं० २४७६ फाल्गुन कृष्णा ८ रविवार ता० ९-२-५३]

श्री तत्त्वार्थ सूत्र में पहले सूत्र में कहा है कि—"सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।" उनमें से यहां सम्यग्दर्शनकी बात चल रही है। आत्मा त्रिकाली ध्रुव पदार्थ है, उसका श्रद्धा नामका गुण भी त्रिकाल ध्रुव एकरूप है। सम्यग्दर्शन श्रद्धागुण की निर्मल पर्याय है और मिथ्यादर्शन उसकी विपरीत पर्याय है। सम्यग्दर्शन आत्माके आश्रय से होता है, उसमें शास्त्र परम्परा निमित्त है, उसे न माने और कहे कि वह निमित्त ही नहीं है तो वह मिथ्यादृष्टि है। निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध को न जाने और कहे कि आत्मा के

विकल्प के कारण परवस्तु आती है, तो वह निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध को नहीं समझता। और आत्मा के विकल्प में परवस्तु निमित्त ही नहीं है—ऐसा माने तो वह भी मिथ्यादृष्टि है।

ज्ञानी को शास्त्र पढ़ने का विकल्प आता है, किन्तु विकल्प आया इसलिये शास्त्र आ जाता है—ऐसा नहीं है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता नहीं है। कोई ईश्वर को जगत का कर्ता मानता है, उसी प्रकार कोई जैनी आत्मा को शरीरादि पर द्रव्यों का कर्ता माने तो वह भी ईश्वर को जगत्कर्ता माननेवाले की भाँति मिथ्यादृष्टि है। एक पदार्थ दूसरे पदार्थ का कर्ता तो नहीं है, किन्तु दूसरे पदार्थ को सहायक होता है ऐसा भी नहीं है—ऐसा ज्ञानी जानते हैं। स्वभाव के अवलम्बन से आत्मा में निर्मलता होती है तब शास्त्र को निमित्त कहा जाता है, इसलिये व्यवहार से ऐसा भी कहा जाता है कि शास्त्र से निर्मलता होती है।

पुनश्च निश्चयाभासी तपश्चरण को व्यर्थ क्लेश मानता है, किन्तु मोक्षमार्गी होने पर तो संसारी जीवों से विपरीत परिणति होना चाहिये। देखो, यहाँ अज्ञानी ऐसा कहता है कि हमें तपश्चरण की आवश्यकता नहीं है, तो उससे कहते हैं कि जिसके मोक्षमार्ग प्रगट हुआ हो उसकी दशा संसारी जीवों से विपरीत होना चाहिये। स्वभाव के अवलम्बन से राग कम करने का प्रयत्न न करे और मान ले कि हम पूर्ण हो गये हैं तो वह एकान्त निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि है। जो मोक्षमार्गी है उसका राग कम होना चाहिये।

इष्ट अनिष्ट सामग्री राग द्वेष का कारण नहीं है

अज्ञानी संसारी जीव ऐसा मानते हैं कि इष्ट अनिष्ट सामग्री से राग द्वेष होता है। ज्ञानी के अज्ञान दूर हो गया है इसलिये ऐसा राग-

द्वेष नही होता। समागी को अनुकूल भोजनादि में प्रीति और प्रति-कूल सामग्री म द्वेष होता है। सामग्री अनुकूल—प्रतिकूल है ही नही, क्योंकि वह तो जडकी पर्याय है, ज्ञानी तो उस ज्ञानका ज्ञय जानता है। अज्ञानी सामग्री को इष्ट अनिष्ट मानता है। क्षुधा लगने को अनिष्ट मानता है किन्तु वह अनिष्ट नही है और भोजनादि प्राप्त होने को इष्ट मानता है किन्तु वह इष्ट नही है। इसलिये परवस्तु में इष्ट अनिष्ट-पना मानना वह मिथ्यात्व है। ज्ञानी पर द्रव्य को इष्ट अनिष्ट नही मानता, इसलिये उस पर द्रव्य के कारण राग द्वेष नही होते। अपनी निबलता से अल्प रागादि होते हैं उनके नाशके लिये निमित्त की ओर से कथन द्वारा भोजनादि छोडने का उपदेश आता है।

तत्वदृष्टि कमी है ? वह लोगो ने नही सुनी है। मोक्षमार्ग का मूलधन (रकम) क्या है, उसकी खबर नही है। सम्यग्दर्शन वह मूलधन है उसकी यहाँ बात करते हैं। सम्यग्दृष्टि परवस्तु को इष्ट अनिष्ट मानकर राग द्वेष नही करता। परवस्तु के कारण राग द्वेष नहीं होता। परके कारण राग होता हो तो केवली को भी होना चाहिये। यहाँ पण्डितजी ने यथार्थ बात कही है। सुकौशल मुनिके शरीरको बाघिन खाती है, जो उनकी पूर्व भवकी माता थी। सुकौशल मुनिको उस पर द्वेष नही होता। यदि निमित्त के कारण द्वेष होता हो तो मुनिको द्वेष होना चाहिये, किन्तु ऐसा नही होता। जिसे इष्ट अनिष्ट सामग्री देखकर राग द्वेष हो वह सम्यग्दृष्टि नहीं किन्तु मिथ्यादृष्टि है।

आत्माकी पर्याय में विकार होता है वह भावबन्ध है, और उस समय एक क्षेत्रावगाही रूपसे कर्म का बन्धन होना है वह द्रव्यबन्ध है। द्रव्यबन्ध हुआ वह जड है और भावब ■ आत्माकी पर्याय में है।

द्रव्य बन्ध मे भाव बन्ध का अभाव है। दो पृथक वस्तुएँ हैं। वे निकट रहने से एक दूसरे में मिल जायें—ऐसा नहीं है। कर्म अपने द्रव्य क्षेत्र काल भाव में रहते हैं और आत्मा अपने द्रव्य क्षेत्र काल भाव में, इसलिये आत्मा में कर्म नहीं है और कर्म में आत्मा नहीं है, दोनों का स्वतंत्र निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। अजीव और जीव दोनों तत्त्व भिन्न भिन्न हैं, ऐसा न माने तो सात तत्त्वों की भी यथार्थ प्रतीति नहीं रहती, इसलिये जिसे जीवादि तत्त्वों की भी खबर नहीं है उसे सम्यग्दर्शन नहीं होता।

निश्चयाभासी का कहते हैं कि—मोक्षमार्गी को तो संसारी जीवों से उलटी दशा चाहिये पर में इष्ट अनिष्ट बुद्धि छोड़कर परिणामों की शुद्धता करने के कालमे विकल्प तो आते हैं किन्तु कम होते हैं। यदि स्वाधीनरूप से ऐसा साधन हो तो पराधीनरूप से इष्ट अनिष्ट सामग्री प्राप्त होने पर रागद्वेष नहीं होता। धर्मात्मा को इच्छा के विनाशका पुरुषार्थ होना चाहिये। निजस्वरूप में सावधान रहने से ही विकल्प–इच्छा का अभाव होता है। यदि इच्छा का नाश हो तो उसके निमित्तो का अभाव हुए बिना भी न रहे। परवस्तु के कारण राग होता है—ऐसा [illegible] स्वभाव के प्रयोजन बिना राग नहीं छूटता। [illegible] [illegible] है।
जब ज्ञान के पुरुषार्थ से
अपने कारण छूट जाते हैं
ज्ञानी को [illegible]
चाहिये। ऐसी साधना में
संयोग हो तथापि ज्ञानी को
अब देखें तो, मिथ्या

को अन्नादि से द्वेष हुआ है इसलिये वह उन्हें क्लेश कहता है। अन्नादि को क्लेश का कारण माना तो भोजनादि में इष्ट पना हुआ। इसप्रकार परवस्तु में इष्ट अनिष्टपना हुए बिना नहीं रहा। ऐसी दशा तो पर्यायदृष्टि संसारियों के भी होती है, तो फिर तूने मोक्ष-मार्गी होकर क्या किया? तुझमें और मिथ्यादृष्टि में कोई अन्तर नहीं रहा—ऐसा कहते हैं।

× × ×

[वीर सं० २४७६ फाल्गुन कृष्णा १० सोमवार ता० ६-२-५३]

मिथ्यादृष्टि निश्चयाभासी को यथार्थ राग कम करने की भावना भी नहीं होती, इसलिये वह कहता है कि—सम्यग्दृष्टि तपश्चरण नहीं करते, इसलिये हम भी नहीं करते!

उत्तर—तपका अर्थ तो इच्छा का निरोध पूर्वक अन्तर स्वरूप में विश्रान्तरूप प्रतापवन्त रहना है। सम्यग्दृष्टि को ही यथार्थ इच्छाका निरोध होता है, मिथ्यादृष्टि को नहीं होता। सम्यग्दृष्टि संसार में लाखों वर्ष तक रहता है। भगवान ऋषभदेव तेरासी लाख पूर्व संसार में रहे थे। सम्यग्दृष्टि थे किन्तु मुनिपना धारण नहीं किया था। अन्तर में स्वभावदृष्टि तो थी, किन्तु पुरुषार्थ की निर्बलता के कारण चारित्रदशा अंगीकार नहीं कर सके। सम्यग्दृष्टि को तप नहीं हो सकता, किन्तु श्रद्धान में तो वह तप अर्थात् चारित्र को श्रेष्ठ जानता है। श्रावकदशा में रहने पर भी मुनिपने की भावना वर्तती है। अपनी पर्याय में अशक्ति होने के कारण चारित्र प्रगट नहीं होता—ऐसा जानते हैं। चक्रवर्ती के छियानवे करोड़ गाँव, छियानवे हजार स्त्रियाँ, छियानवे करोड पदल, चौसठ हजार पुत्र

और बत्तीस हजार पुत्रियाँ होती हैं तथापि उनके भावना तो चारित्र दशा की होती है। मिथ्यादृष्टि का श्रद्धान ही ऐसा होता है कि वह तप को क्लेश मानता है, इसलिये तप अर्थात् रागादि का नाश करके स्वभाव म रमणता करने की उसे भावना भी नही होती।

धर्मात्मा को बाह्य म उपवासादि न हो, तथापि सम्यग्दृष्टि में किंचित् दोष नही आता। मिथ्यादृष्टि हठपूर्वक चारित्र ग्रहण करे वह कही यथार्थ चारित्र नही कहलाता, क्योंकि सम्यग्दर्शन के बिना चारित्र-तप नही होता। अज्ञानी को चक्रवर्ती या तीर्थंकर पद का बन्ध नही होता। आत्मा में निर्बलता से रागादि की पर्याय होती है, उसे उपादेय नही मानते, उसमें चक्रवर्ती या तीर्थंकर पद का बन्ध हो जाता है। जो शुभ भाव को अच्छा मानते है वे तो मिथ्यादृष्टि हैं, उन्हे चक्रवर्ती या तीर्थंकर पद की प्राप्ति नही होती।

सम्यग्दृष्टि को भावना तो तप की ही होती है। तब प्रश्न उठता है कि—शास्त्र मे ऐसा कहा है कि तपादि क्लेश करते हैं तो करो, किन्तु ज्ञान के बिना सिद्धि नही होती उसका क्या कारण ?

तत्त्वज्ञान के बिना मात्र तप से धर्म नहीं होता

उत्तर—जो जीव तत्त्वज्ञान से पराङ्मुख हैं तथा तप से ही मोक्ष मानते हैं उन्हें ऐसा उपदेश दिया जाता है कि तत्त्वज्ञान के बिना मात्र तप से ही मोक्ष नहीं होता। तत्त्वज्ञान होने पर आत्मा की दृष्टि हुई, आस्रव की भावना छूट गई, संयोग में अनुकूलता प्रतिकूलता की दृष्टि छूट गई, उसे आत्मामें लीन होने पर इच्छा का निरोध होता है वह तप है।

श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कहा है कि —

यम नियम संयम आप कियो, पुनि त्याग विराग अथाग लह्यो,
वनवास लयो मुख मौन रह्यो, दृढ़ आसन पद्म लगाय दियो ॥१॥
मनपौन निरोध स्वबोध कियो, हठजोग प्रयोग सु तार भयो,
जप भेद जप तप त्योंहि तपे, उरसेंहि उदासि लही सब पें ॥२॥
सब शास्त्रन के नय धारि हिये, मत मंडन खंडन भेद लिये,
वह साधन बार अनंत कियो, तदपी कछु हाथ हजू न पर्यो ॥३॥
अब क्यों न विचारत है मनसें, कछु और रहा उन साधन सें ?
बिन सद्गुरु कोय न भेद लहे, मुख आगल हैं कह बात कहें ? ॥४॥
करुना हम पावत हैं तुम की, वह बात रही सुगुरुगम की,
पल में प्रगटे मुख आगल से, जब सद्गुरुचर्न सुप्रेम बसें ॥५॥
तनसे, मनसे धनसे सबसे, गुरुदेव की आन स्वआत्म बसें,
तब कारज सिद्ध बने अपनो, रस अमृत पावहि प्रेम घनो ॥६॥

   

पंच महाव्रत धारण किये, बारह–बारह महीने के उपवास किये, जङ्गल में रहा, मौन धारण किया, तप करके सूख गया, शास्त्र पढ़े, ग्यारह अंग का ज्ञान किया, मत का मंडन–खंडन किया, किन्तु पर-लक्ष छोड़कर आत्मा का लक्ष नहीं किया। बाह्य साधन अनंतबार किये किन्तु आत्मकल्याण नहीं हुआ। सद्गुरु का समागम करके वस्तु का मर्म नहीं जाना।

यहाँ ऐसा कहा है कि जो तत्त्वज्ञानसे पराङमुख है वह मिथ्या-दृष्टि है। सातों तत्त्व पृथक्–पृथक हैं—ऐसा जिसने यथार्थ नहीं जाना वह आत्मा से पराङमुख है, ऐसा इसमें आ जाता है। जो तत्त्व ज्ञान..

से पराङमुख है और मात्र बाह्य तप से मोक्ष मानता है वह मिथ्या दृष्टि है।

पहले तत्त्वज्ञान करना चाहिये

कोई कहे कि तत्त्व ज्ञान न हो उसे क्या करना चाहिये ? उससे कहते हैं कि पहले तत्त्व ज्ञान करना चाहिये। शुभाशुभ भाव तो क्रमानुसार आते हैं। शुभ-अशुभ भाव में दृष्टि और रुचि है उसे बदलकर ऐसी रुचि करना चाहिये कि मैं आत्मा चिदानंद हूँ। पर पदार्थों की पर्याय आत्मा नहीं कर सकता। स्त्री, कुटुम्ब, पैसा, शरीर, कर्म आदि की पर्याय जिसकाल जैसी होना है सो होगी, उसे बदलना नहीं है। और आत्मा की पर्याय में जो शुभाशुभ परिणाम होते हैं उन्हें भी नहीं बदलना है। आत्मा ज्ञातानन्द है, ऐसी रुचि करना वह सम्यग्दर्शनका यथार्थ उपाय है।

× × ×

[वीर सं० २४७६ फाल्गुन कृष्णा ११ मंगलवार ता० १०-२-५३]

आत्मा में विकार होता है वह आस्रव है। शुद्धात्मा की दृष्टि से जिसका राग कम हो जाता है उस बाह्य में उस प्रकार का त्याग होता है। इसका शास्त्र में निषेध नहीं किया है। यदि शास्त्र में राग का अभाव करने का उपदेश न दिया हो तो गणधरादि उसका उद्यम किसलिये करें ? इसलिये शक्ति अनुसार तप-त्याग करना योग्य है। ज्ञानी शक्तिका उल्लंघन करके तपादि नहीं करते उनके सहज दशा होती है, तपमें अरुचि नहीं होती। यदि तपमें क्लेश हो तो धर्म नहीं किन्तु आर्तध्यान है, और विशुद्ध (शुभ) परिणाम हो तो पुण्य होता

है, इसलिये शक्ति-अनुसार तप करना योग्य है।—यह तप की बात कही। अब व्रत की बात कहते हैं।

पुनश्च, तू व्रतादि का बन्धन मानता है, किन्तु स्वच्छन्द वृत्ति तो अज्ञानावस्थामें भी थी। ज्ञान प्राप्त होनेसे तो वह परिणतिको रोकता ही है। मान में एकाग्रता होने से राग परिणति रुकती है, तथा परिणति रोकने के लिये बाह्य में हिंसादिक कारणों का त्यागी भी अवश्य होना चाहिये। यह बात निमित्त से है। बाह्य क्रिया से परिणाम नहीं रुकते, किन्तु जब उस प्रकार का राग नहीं होता तब मानो उस क्रिया से रहित होते हैं और ऐसा कहा जाता है कि बाह्य पदार्थ छूट गये।

अब निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टिका प्रश्न है कि हमारे परिणाम तो शुद्ध हैं, बाह्य त्याग नहीं किया तो न सही ?

परिणाम और बाह्यक्रिया का निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध

उत्तर—निश्चयाभासी होने से उसे समझाते हैं कि निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध कैसा है—यदि वे हिंसादि कार्य तेरे परिणाम के निमित्त बिना स्वयं होते हों तो हम ऐसा ही मान लें। द्रव्य हिंसादि की पर्याय तो जड़ है, वह तो जड़ के कारण स्वयं होती है, किन्तु उसका निमित्त तू होता है। भाव हिंसा-मारने आदिके परिणाम तो तू करता है, तथापि तेरे परिणाम शुद्ध हैं ऐसा कैसे हो सकता है ? तेरे परिणाम निमित्त हैं इसलिये हम ऐसा कहते हैं कि परिणाम द्वारा कार्य होता है। हरियाली कटती है उस समय वह कटने की क्रिया तो जड़ की है, किन्तु ऐसा नहीं हो सकता कि उस समय जीव के परिणाम शुद्ध हों। मुनिके ऐसी क्रिया नहीं होती क्योंकि उनके ऐसे परिणाम नहीं है।

हिंसा करूँ, झूठ बोलूँ आदि परिणाम जीव करता है, और उस समय बाह्य क्रिया उसके अपने कारण स्वयं होती है। विषय सेवन की क्रिया शरीर द्वारा हो और कहे कि मेरे परिणाम ऐसे हैं ही नहीं, तो वह परिणाम को नहीं जानता। प्रमाद से चलने की क्रिया होती है, वह उस प्रकारके परिणाम बिना कैसे होगी? कैसे परिणाम न हों तो वैसी क्रिया नहीं होगी,—ऐसा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। खाने के परिणाम करता है और बाह्य में भोजन की क्रिया होती है, तथापि वहाँ परिणाम शुद्ध हैं ऐसा माने वह मिथ्या दृष्टि है। शरीरादि की क्रिया तो जड की है, किन्तु उस समय परिणाम तो जीव के हैं। लक्ष्मी का संग्रह होता है वह जड की क्रिया है, किन्तु उस समय परिग्रह और लोभ के परिणाम जीव के हैं, उसे जो शुद्ध भाव मानता है वह मिथ्यादृष्टि है।

युद्ध की क्रिया स्वयं जड के कारण होती है, किन्तु उस समय जो जीव उस क्रिया में संलग्न हो वह कहे कि मेरे परिणाम शुद्ध हैं तो वह बात मिथ्या है, क्योंकि उन परिणामों का और जड की क्रिया का निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। निमित्त से कार्य होता है—ऐसा जो मानता है वह मिथ्यादृष्टि है, किन्तु शरीरादि जड में कार्य होता है उस समय अपने परिणाम अशुद्ध हैं उसे न माने तो वह भी मिथ्यादृष्टि है। मकानादि की क्रिया होती है वह तो जड की है, किन्तु वह होते समय जिस रागी जीव का निमित्त है वह ऐसा कहे कि मुझे वहाँ वीतराग भाव था तो वह बात मिथ्या है। आत्मा जड की क्रिया तो तीन काल में नहीं कर सकता, किन्तु पैसादि के संबंध में अपने को अशुभ भाव होवे हैं उन्हे जो शुद्ध परिणाम माने वह निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि है।

खाने–पीने तथा पैसा लेने–देने आदि की क्रिया तो तू उद्यमी होकर करता है, अर्थात् उस प्रकार का राग तो तू उद्यमी होकर करता है, उस राग का आरोप जड़की क्रिया में किया है। कोई ऐसा कहे कि हम पच्चीस व्यक्तियों का भोजन का आमन्त्रण दें और जब वे भोजन करने आयें तब कह दें कि भोजन की क्रिया नहीं होना थी इसलिय नहीं हुई किन्तु पच्चीस व्यक्तियों को आमन्त्रण करने का राग तो स्वयं किया था इससे उनकी व्यवस्था का राग भी स्वयं करता है, इसलिये ऐसा कहा है कि पर की क्रिया उद्यमी होकर स्वयं करता है। ऐसा निमित्त नैमित्तिक सम्बंध है उसका ज्ञान कराते हैं। आहार लेता है और इच्छा न हो ऐसा नहीं हो सकता। केवली भगवान के इच्छा नहीं है इसलिये उनके आहार भी नहीं है। मुनि वस्त्र–पात्रादि रखे और कहे कि हमारी इच्छा नहीं है, हम मूर्छा नहीं है तो वह झूठा है। भावलिंगी मुनि को ऐसे मूर्छा के परिणाम नहीं हैं इसलिये उनके वस्त्रादिका परिग्रह भी नहीं होता,—ऐसा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है।

आत्मा हिंसादि के परिणाम तो स्वयं पुरुषार्थ पूर्वक करता है। वे परिणाम होते हैं इसलिये पर में हिंसादि की क्रिया होती है ऐसा भी नहीं है, तथापि हिंसादिकी क्रिया के समय अपने परिणाम अशुभ होते हैं, उन्हें शुद्ध परिणाम माने तो वह झूठा है–मिथ्यादृष्टि है।– इस प्रकार परिणाम स्वयं करे और माने कि वे परिणाम मुझे होते ही नहीं, तो उसके उन हिंसादि परिणामों को नाश करने का पुरुषार्थ नहीं होता। जब अपने में अशुभ भाव होते हैं उस समय बाह्य में हिंसादि की क्रिया होती है, उसे तो तू गिनता नहीं है और परिणाम

शुद्ध हैं ऐसा मानता है, किन्तु ऐसा मानने से तेरे परिणाम कभी सुधरेंगे नही, अर्थात् अशुद्ध परिणाम ही रहेंगे।

आत्मज्ञानी सन्त मुनि आहार की क्रिया में दिखाई देते हैं उस समय भी उनके शुभ भाव होते हैं। आहारका विकल्प शुद्धभाव नहीं है।—ऐसा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है, उसे मानना चाहिये।

अब प्रश्न करते हैं कि—परिणामों को रोकने से बाह्य हिंसादि को कम किया जा सकता है—यह बात तो ठीक है, किन्तु प्रतिज्ञा करने में तो बन्ध होता है, इसलिये प्रतिज्ञारूप व्रत अंगीकार नहीं करना चाहिये।

सम्यग्दर्शन के पश्चात् ही सच्ची प्रतिज्ञा होती है।

उत्तर—जिस कार्य को कर लेने की आशा रहे उसकी प्रतिज्ञा नहीं की जाती, तथा उस राग भाव से कार्य किये बिना भी अविरति का बन्ध होता ही रहता है इसलिये प्रतिज्ञा अवश्य करना योग्य है। रागका जितना भाव है उतना बन्धन है। प्रतिज्ञा करने की बात तो सम्यग्दर्शन होने के बादकी है। सम्यग्दर्शन के बिना यथार्थ प्रतिज्ञा नहीं होती। प्रतिज्ञा लेने का विकल्प ज्ञानी को आये बिना नहीं रहता। ज्ञानी समझता है कि जो विकल्प है सो राग है, तथापि व्रतादि की प्रतिज्ञा का विकल्प आता है। सम्यग्दृष्टि को प्रतिज्ञा में परिणाम की दृढ़ता होती है। यहाँ परकी बात नही है, इसलिये बाह्य में ऐसे कार्य नहीं करना चाहिये यह तो निमित्तका कथन है, किन्तु 'ऐसे परिणाम नही करना चाहिये',—इस प्रकार ज्ञानी स्वभावदृष्टिपूर्वक परिणामों को दृढ़ करते हैं। और कार्य करने का बन्धन हुए बिना परिणाम कैसे रुकेंगे? प्रयोजन होने पर तद्रूप

परिणाम अवश्य हो जायेंगे अथवा प्रयोजन हुए बिना भी उनकी आशा रहती है, इसलिये प्रतिज्ञा अवश्य करना योग्य है। और यदि आत्मा के भान बिना प्रतिज्ञा ले ले तो वह बाल व्रत है।

प्रश्न —प्रतिज्ञा लेने के पश्चात् न जाने कैसा उदय आ जाये और प्रतिज्ञा भङ्ग हो जाय तो महा पाप लगेगा, इसलिये प्रारब्धानुसार जो कार्य होता हो वह होने दो किन्तु प्रतिज्ञा का विकल्प नहीं करना चाहिये।

उत्तर —प्रतिज्ञा ग्रहण करते हुये जो उसका निर्वाह करना न जाने उसे प्रतिज्ञा नहीं करना चाहिये। साधुत्व—नग्नता ले ली हो और आत्मा का भान न हो, फिर उद्देशिक आहार भी ले ले तो वह बड़ा दोष है। समझे बिना हठ पूर्वक मुनिपना ग्रहण करना और फिर प्रतिज्ञा भङ्ग करे वह महान पाप है। प्रतिज्ञा न लेना पाप नहीं है, किन्तु लेकर भङ्ग करना महा पाप है। ऐसी प्रतिज्ञा नहीं लेना चाहिये जिसका निर्वाह न हो सके। अपनी शक्ति अनुसार प्रतिज्ञा लेना चाहिये। प्रतिमा—व्रत भी सहज होते हैं। कोई गृहस्थ आहार जल मुनि के लिये ही बनाये और कहे कि—"आहार शुद्धि, मन शुद्धि वचन शुद्धि, काय शुद्धि," तो वह असत्य है, उसमें धर्म तो नहीं है किन्तु यथार्थ शुभभाव भी नहीं है।

पुनश्च, प्रतिज्ञा के बिना अविरत सम्बन्धी बंध नहीं मिटता इसलिये प्रतिज्ञा लेना योग्य है। कोई कहे कि समंतभद्राचार्य ने मुनित्व ग्रहण करनेके पश्चात् प्रतिज्ञा भंग की थी, तो वहाँ स्वच्छन्द की बात नहीं है। वहाँ तो रोग हुआ था, और उस रोग में मुनिपना बनाये रखने का पुरुषार्थ नहीं था, और गुरुकी आज्ञा थी इसलिये

वैसा किया है। समय आने पर पुन मुनिपना ग्रहण कर लिया था। उन्होने हठ पूर्वक मुनिपना अगीकार नही किया था। जब उन्हे ऐसा लगा कि वर्तमानमे निर्वाह होना असम्भव है तब मुनिपना छोडा, किन्तु पहले से ही भावना नही थी कि समय आने पर छोड दें। इसलिये प्रतिज्ञा यथाशक्ति लेना ही योग्य है।

× × ×

[वीर स० २४७६ फाल्गुन कृष्णा १२ बुधवार ता० ११—२-५१]

अज्ञानी कहता है कि तीव्र कर्मों का उदय हो और गिर जायें तो ?—तो यह बात ठीक नही है। उदयका विचार करे तो कुछ भी पुरुषार्थ नही हो सकता। कम कर्मोंके कारण आते हैं उन पर दृष्टि रखने की आवश्यकता नही है। कर्मों का उदय भिन्न तत्त्व होने से आत्मा को बाधक नही हो सकता। स्वय स्वभाव का पुरुषार्थ करे तो कर्म अपने आप टल जाते हैं। जिसप्रकार—अपने में जितना भोजन पचाने की शक्ति हो उतना भोजन लेना चाहिये, किन्तु कदाचित् किसी का अजीर्ण हुआ हो और वह भय पूर्वक भोजन करना छोड ही दे तो उसकी मृत्यु हो जायगी। उसी प्रकार आत्मा के भान सहित सहन शीलता पूर्वक प्रतिज्ञा लेना चाहिये, किन्तु कदाचित् कोई प्रतिज्ञा से भ्रष्ट हुआ हो और उस भय से प्रतिज्ञा न ले तो असयम ही होगा। इसलिये हो सके उतनी प्रतिज्ञा लेना चाहिये।

किसी के जल्दी प्रतिज्ञा आ जाती है, किसी के बहुत समय पश्चात् आती है। भरत चक्रवर्ती के चारित्र बहुत समय पश्चात् आया था, तथापि चारित्रकी भावना नही छूटती थी।

संसार में पैसे का आना-जाना आदि कार्य तो कर्म के निमित्त अनुसार ही होते हैं, तथापि वहाँ कमाने आदि का अशुभ राग तू पुरुषार्थ पूर्वक करता है। कर्मों से अशुभ राग नहीं होता, किन्तु विपरीत पुरुषार्थ से अशुभ राग होता है तो सच्चे पुरुषार्थ से आत्मा के भान द्वारा राग छोड़ने का प्रयत्न करना चाहिये। यहाँ निश्चया भासी से कहते हैं कि यदि वहाँ (भोजनादि में) उद्यम करता है तो त्याग करने का उद्यम करना भी योग्य है। जब तेरी दशा प्रतिमावत् हो जायेगी तब हम प्रारब्ध मानेंगे, तेरा कर्तव्य नहीं समझेंगे, किन्तु तेरी दशा प्रतिमावत् निर्विकल्प तो हुई नहीं है तब फिर स्वच्छन्दी होने की युक्ति किसलिये रचता है? हो सके उतनी प्रतिज्ञा करके व्रत धारण करना योग्य है।

शुभभाव से कर्म के स्थिति-अनुभाग घट जाते हैं।

पुनश्च, भगवानकी पूजा आदि पुण्य आस्रव है, धर्म नहीं है, किन्तु उससे वह शुभभाव छोड़कर अशुभ भाव करना योग्य नहीं है। यात्रादि में कषाय की मन्दता का भाव वह पुण्य है, धर्म नहीं है, इसलिये वह हेय है—ऐसा अज्ञानी निश्चयाभासी मानता है। शुभ भाव धर्म नहीं है इसलिये वह हेय है यह बात सत्य है, किन्तु उस शुभभाव को छोड़कर वीतराग हो जावे तो ठीक, और अशुभ में वर्ते तो तूने अपना ही अहित किया है। आत्मा का भान होने के पश्चात् भी स्वरूप में लीन न हो सके तो शुभभाव आता है किन्तु शुभ छोड़कर अशुभ में प्रवर्तन करना ठीक नहीं है। अज्ञानी स्वभाव का पुरुषार्थ नहीं मानता और रागको टालने में भी नहीं मानता। उससे कहते हैं कि—शुभभाव परिणामों से स्वर्गादि की प्राप्ति होती

है, तत्त्व जिज्ञासा, अच्छी वासना और अच्छे निमित्तों से कर्म के स्थिति-अनुभाग कम हो जाय तो सम्यक्त्वादि की प्राप्ति भी हो जाती है। तत्त्वतः शुभ परिणामों से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं होती, किन्तु स्वभाव का पुरुषार्थ करने से होती है। मैं त्रिकाल शुद्ध चिदानन्द हूँ—ऐसी जो दृष्टि है वह सम्यग्दर्शन का कारण है, किन्तु सम्यग्दर्शन में देवदर्शन-पूजन-तत्त्वश्रवणादि शुभभाव निमित्त हैं, इसलिये उनसे होता है ऐसा व्यवहार से कहा है।

शुभभाव के निमित्त से कर्मों की स्थिति-रस कम हो जाते हैं। जड़ कर्मों की स्थिति-रस घटने का वह क्रम था, उस समय की योग्यता थी। वह पर्याय शुभभाव के आधीन नहीं है, किन्तु शुभभाव के साथ निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध कैसा होता है वह बतलाया है। तथापि कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थ के आधीन नहीं है, प्रत्येक द्रव्य असहाय है। अशुभ उपयोगसे नरक-निगोदादि होते हैं और बुरी वासना से कर्मों की स्थिति-अनुभाग बढ़ जायें तो सम्यक्त्वादि भी महा दुर्लभ हो जाते हैं। शुभोपयोग से कषाय की मन्दता होती है और अशुभोपयोग से तीव्रता, इसलिये शुभ को छोड़कर अशुभ भाव करना उचित नहीं है। यहाँ उपदेश के वाक्य हैं। अज्ञानी शुभ-अशुभ के विवेक को नहीं समझता, उसे समझाते हैं कि-जिस प्रकार कड़वी वस्तु न खाना और विष खा लेना अज्ञान है, उसीप्रकार शुभ के कारण छोड़कर तीव्र अशुभ के कारणों का सेवन करना भी अज्ञान है।

प्रश्न—शास्त्र में शुभ-अशुभ परिणामों को समान कहा है—आस्रव कहा है, दोनों बंध के कारण हैं, इसलिये हमें उनमें विशेष जानना योग्य नहीं है।

उत्तर —जो जीव शुभ परिणामों को–दया, दान, पूजा, व्रतादि को मोक्ष के कारण मानकर उपादेय मानता है वह मिथ्यादृष्टि है। वह ऐसा मानता है कि शुभ से क्रमशः शुद्धता होगी, पुण्य–पाप रहित शुद्ध स्वभाव को वह पहिचानता नहीं है। साधक दशा में शुभभाव आता है, किन्तु वह धर्म का कारण नहीं है। शुभभाव मंद मलिन परिणाम है उसे जो मोक्षका कारण मानता है वह वीतराग देव को और उनके शास्त्रों को नहीं मानता, इसलिये वह मिथ्यादृष्टि है। पुण्य–पाप रहित शुद्ध आत्मा के अवलम्बन से शुद्ध उपयोग प्रगट होता है उसकी उसे खबर नहीं है। आत्मा में शुभ परिणाम हो अथवा अशुभ—दोनों अशुद्ध हैं और आत्मा के आश्रय से जो परिणाम होते हैं वे शुद्ध हैं। शुभ–अशुभ दोनों आस्रव हैं बंध हैं, मोक्ष के कारण नहीं हैं इसलिये दोनों को समान बतलाते हैं।

शुभाशुभ दोनों आस्रव हैं, किन्तु अशुभ को छोड़कर शुभ में प्रवर्तन करना योग्य है।

शुभ परिणाम में कषाय मन्द है और अशुभ परिणाम में तीव्र है, इसलिये जिस आत्मा की दृष्टि हुई है उसके लिये व्यवहार की अपेक्षा से अशुभ की अपेक्षा शुभको अच्छा कहा है। चौथे, पाँचवें, छट्ठे गुणस्थान में ज्ञानी को शुभ परिणाम होते हैं, किन्तु ज्ञानी उन्हें बंध का कारण मानता है। मुनिको २८ मूलगुण के पालन का विकल्प आता है वह पुण्यास्रव है, वह मोक्षका कारण नहीं है, त्रिकाली ज्ञायक स्वभाव ही मोक्षका कारण है। सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र रूपी मोक्षमार्ग भी व्यवहारसे मोक्षका कारण कहा जाता है, क्योंकि

वह अपूर्ण पर्याय है। अपूर्ण पर्याय मोक्षका सच्चा कारण नही है। वास्तव में तो त्रिकाली द्रव्य स्वभाव के आश्रय से ही मोक्ष प्रगट होता है।

रोग तो कम या अधिक बुरा ही है। जिस प्रकार बुखार कम आये तथापि बुरा है। ९९ डिग्री बुखार साल-दो साल तक रहे तो तपदिक हो जाता है। किन्तु जिस प्रकार अधिक रागकी अपेक्षा कम रोग को अच्छा कहते हैं, उसी प्रकार कषाय मंदता के परिणामों की रुचि रखे तो आत्मा की पर्याय में मिथ्यात्वरूपी टी० बी० लागू हो जाती है। शुभाशुभ राग दोनों को हेय समझने पर भी स्वरूपमें लीनता न हो, तब अशुभ को छोड़कर शुभ में प्रवत्ति करना योग्य है किन्तु शुभ को छोड़कर अशुभ में प्रवत्ति करना योग्य नही है।

प्रश्न —कामादिक और क्षुधादिक को नाश करने मे अशुभ-परिणाम हुए बिना नही रहते—किये बिना नही रहा जाता, किन्तु शुभ प्रवृत्ति तो इच्छा करके करनी पड़ती है। और ज्ञानी को इच्छा तो नही करना है, इसलिये शुभ का उद्यम नही करना चाहिये।

उत्तर —सम्यग्ज्ञानी को अपने शुद्धात्मा की दृष्टि हुई है। ज्ञानानन्द के आश्रय से यथाथतया राग कम होता है। मिथ्यादृष्टि जीव को भी कभी-कभी शुक्ल लेश्या के परिणाम आते हैं वह अपूर्व नहीं है, किन्तु आत्मा के भान पूर्वक शुद्ध परिणाम होना वह अपूर्व है। जब तक शुद्धता में लीन न हो तबतक ज्ञानी के भी शुभ परिणाम आते हैं उनमे उपयोग लगने से और उनके निमित्तसे विरागता बढ़ने पर कामादिक हीन होते हैं।

अशुभ परिणामों में संक्लेशता अधिक है, और शुभ परिणामों से क्षुधादिक में भी अल्प संक्लेशता होती है। जो अज्ञानी जीव एकान्त मानता है उसे उपदेश देते हैं कि शुभ परिणामों में रागकी मन्दता होती है और स्वभाव की दृष्टि हो तो जितना अशुभ टले उतनी आकुलता कम होती जाती है, इसलिये शुभोपयोगका अभ्यास करना योग्य है। पुनश्च, उद्यम करने पर भी कामादिक और क्षुधादिक रहें तो उनके हेतु ऐसा करना चाहिए जिसमें कम पाप लगे, किन्तु शुभोपयोग को छोड़कर निःशंक पापरूप प्रवर्तन करना योग्य नहीं है। और तू कहता है कि "ज्ञानीको इच्छा नहीं है और शुभोपयोग इच्छा करने से होता है," किन्तु वह तो ऐसा है कि—जैसे कोई पुरुष किंचित् भी धन नहीं देना चाहता हो, किन्तु जब बहुत-सा धन जाने का समय आ जाता है तब इच्छा पूर्वक अल्प धन देने का उपाय करता है। यह तो दृष्टान्त है। उसी प्रकार धर्मी जीव को किंचित् भी कषाय की भावना नहीं है। आस्रवकी भावना करे तो मिथ्यादृष्टि हो जाता है, किन्तु जब अधिक कषायरूप अशुभभाव होने का समय आ जाता है, तब वहाँ इच्छा करके भी वह अल्प कषायरूप शुभभाव करने का उद्यम करता है। उसमें जो व्यक्त रागादि होते हैं वह असद्भूत उपचरित व्यवहारनयका विषय है, और अव्यक्त रागादि असद्भूत अनुपचरित व्यवहारनयका विषय है। ज्ञानी उन्हें जानता है। यहाँ कहते हैं कि अशुभ परिणामों में तीव्र विपरीत पुरुषार्थ है और शुभ परिणामों में मन्द विपरीत पुरुषार्थ है, तथा शुद्ध परिणामों में सीधा-सच्चा पुरुषार्थ है। अज्ञानी शुभ परिणामों को धर्म मानता है कर्मों से विकार का होना मानता है अथवा शुभ परिणाम आते ही नहीं, ऐसा मानता है—यह सब भूल है।

२

मात्र निश्चयावलम्बी जीव की प्रवृत्ति

[इन मोक्षमार्ग प्रकाशक के प्रवचनों में (पहले जब प्रवचन यहाँ सोनगढ़ चलते थे तब) पृष्ठ २१२ से २१८ तक का भाग छोड़ रखकर आगे वर्णनिका हुई थी। यह प्रवचन उसी शेष भाग के हैं। विषयकी सुसम्बद्धता के लिये मूल ग्रंथ के क्रमानुसार यह प्रवचन यहाँ रखे गये हैं।]

[द्वितीय वैशाख कृष्णा १ गुरुवार ता० ३०-४-५३]

जिसे आत्माकी यथार्थ प्रतीति और ज्ञान नहीं है किन्तु अपने को ज्ञानी मानकर स्वच्छन्द पूर्वक प्रवर्तन करता है ऐसे जीव की प्रवृत्तिका यह वर्णन है। एक शुद्ध आत्मा को जानने से ज्ञानीपना होता है, अन्य किसी की आवश्यकता नहीं,—ऐसा जानकर वह जीव कभी एकान्त में बैठ जाता है और ध्यान मुद्रा रखकर 'मैं सब कर्म उपाधि रहित सिद्ध समान आत्मा हूं'—इत्यादि विचारों द्वारा संतुष्ट होता है, किन्तु वे विशेषण किस प्रकार सम्भवित-असम्भवित हैं उसका विचार नहीं है, अथवा अचल, अखण्डित और अनुपमादि विशेषणों द्वारा आत्माको ध्याता है, किन्तु वे विशेषण तो अन्य द्रव्यों में भी सम्भवित हैं। और वे विशेषण किस अपेक्षा से हैं उसका भी विचार नहीं है, किसी भी समय—सोते, बैठते, उठते—जिस-तिस अवस्था में ऐसा विचार रखकर अपने को ज्ञानी मानता है। ज्ञानीको आस्रव बंध नहीं है—ऐसा आगम में कहा है, इसलिये जब कभी विषय-कषाय रूप होता है, वहाँ बंध होने का भय नहीं है, मात्र स्वच्छंदी

होकर प्रवृत्ति करता है। पर्याय का विवेक नहीं करता, सात तत्त्वों को जानता नहीं है और "मैं ज्ञानी हूँ"—ऐसा मानकर स्वच्छन्द-पूर्वक वर्तता है, वह निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि है। उसे निश्चय का भान नहीं है, मात्र उसका नाम लेकर अपने स्वच्छन्द का पोषण करता है।

पर्यायमें सिद्धदशा प्रगट नहीं हुई है, तथापि 'मैं कर्मरहित सिद्ध समान हूँ'—ऐसा मानकर सन्तुष्ट होता है। द्रव्यदृष्टि से आत्मा को सिद्ध समान कहा है, किन्तु ऐसी दृष्टि तो प्रगट नहीं हुई है और पर्यायसे अपने को सिद्ध मानता है, पर्यायमें जो रागादि विकार होते हैं उन्हें नहीं जानता। और अचल, अखण्ड, अनुपम—ऐसे विशेषणों से आत्माका ध्यान करता है, किन्तु ऐसी अचलता, अखण्डतादि तो जड़में भी सम्भव है। जीवके स्वभावकी तो खबर नहीं है तथा पर्यायका भी विवेक नहीं करता और कहता है कि ज्ञानीको आस्रव बन्ध नहीं हैं ऐसा आगममें कहा है। आगमका नाम लेता है, किन्तु स्वयंको तो वैसी दृष्टि प्रगट नहीं हुई है, तथापि "मैं भी ज्ञानी हूँ"—ऐसे अभिमान-पूर्वक स्वच्छन्द प्रवृत्ति करता है। सम्यग्दृष्टिके नियम से ज्ञान-वैराग्य होते हैं, वहाँ उसे दृष्टि-अपेक्षासे अबन्ध कहा है, किन्तु पर्यायमें जितना राग है उतना तो बन्धन है।

अविरत सम्यग्दृष्टि अपने को द्रव्यदृष्टिसे अबन्ध जानता है, किन्तु पर्यायसे तो अपने को तृणतुल्य मानता है कि—अहो! मेरी पर्यायमें अभी पामरता है। स्वभावकी प्रभुता होने पर भी पर्यायमें अभी बहुत अल्पता-पामरता है। अहो, कहाँ केवलीकी दशा, कहाँ सन्त-मुनियोंका पुरुषार्थ! और कहाँ मेरी पामरता!—इसप्रकार

सम्यग्दृष्टिको पर्यायका विवेक होता है। इस निश्चयाभासी अज्ञानीने तो स्वभावकी दृष्टि करके पर्यायमें अनंतानुबंधीका अभाव नहीं किया है, ज्ञान–वैराग्यका परिणमन उसके नहीं हुआ है, और अभिमान पूर्वक स्वच्छंदसे क्रोध–मान–मायादिरूप प्रवर्तन करता है। श्री समयसारके कलशमें कहा है कि —

सम्यग्दृष्टिः स्वयमयमहं जातु बन्धो न मे स्या
दित्युत्तानोत्पुलकवदना रागिणोऽप्याचरन्तु ।
आलम्बन्तां समितिपरता ते यतोऽद्यापि पापा–
आत्मानात्मावगमविरहात्सन्ति सम्यक्त्वरिक्ताः ॥१३७॥

अर्थ —अपने आप ही 'मैं सम्यग्दृष्टि हूँ, मुझे कभी भी बंध नहीं है"—इसप्रकार ऊँचा फुलाया है मुँह जिसने, ऐसे रागी वैराग्य शक्ति रहित भी आचरण करते हैं तो करें, तथा कोई पंच समिति की सावधानीका अवलम्बन करते हैं तो करें, किंतु ज्ञान शक्तिके बिना अभी भी वे पापी हैं। वे दोनों आत्मा–अनात्माके ज्ञानरहितपने से सम्यक्त्व रहित ही हैं।

जिसे चैतन्यकी रुचि नहीं है, विषयादिसे भिन्नताका भान भी नहीं है, विषय–कषायोंमें मिठासपूर्वक वर्तता है और वैराग्यशक्तिसे रहित है, तथा आत्माको पर्यायसे भी शुद्ध मानकर अभिमानसे स्वच्छंद प्रवृत्ति करता है वह पापी ही है, और कोई जीव व्रत–समिति आदि करे तथापि निश्चयसे पापी ही हैं। चैतन्यकी दृष्टि नहीं है, अनंतानुबंधी कषायका अभाव होकर वैराग्यका परिणमन नहीं हुआ

है और अपने को सम्यग्दृष्टि मानकर वर्तते हैं वे तो पापी ही हैं। कहा है कि —

ज्ञानकला जिनके घट जागी,
ते जगमाँहि सहज वैरागी।
ज्ञानी मगन विषयसुखमाँही,
यह विपरीत सम्भवै नाहीं॥

जिसके अन्तरमें भेदज्ञानरूपी कला जागृत हुई है, चैतन्यके आनन्दका वेदन हुआ है ऐसे ज्ञानी धर्मात्मा सहज वैरागी हैं, वे ज्ञानी विषय–कषायोंमें मग्न हों ऐसी विपरीतता सम्भव नहीं है। जिस विषयोंमें सुख बुद्धि है वह जीव ज्ञानी है ही नहीं। अन्तरंग चैतन्यसुखके अतिरिक्त सब विषयसुखोंके प्रति ज्ञानीको उदासीनता होती है। अभी अन्तरमें आत्माका भान न हो, तत्त्वका कोई विवेक न हो, वैराग्य न हो और ध्यान में बैठकर अपने को ज्ञानी मानता है वह तो स्वच्छन्दका सेवन करता है। ज्ञान–वैराग्य–शक्तिके बिना वह पापी ही है, आत्मा और अनात्माका भेदज्ञान ही उसे नहीं है। यदि स्व-परका भेदज्ञान हो तो परद्रव्योंके प्रति वैराग्य हुए बिना न रहे।

प्रश्न —मोहके उदयसे रागादि होते हैं, पूर्वकालमें जो भरत चक्रवर्ती आदि ज्ञानी हो गये हैं उनको भी विषय—कषायका राग तो था?

उत्तर—ज्ञानी को अभी चारित्र में कमजोरी की अस्थिरता है, इसलिये रागादिक होते हैं वह सत्य है, परन्तु वहाँ राग करने का अभिप्राय नहीं है, रुचि नहीं है, बुद्धिपूर्वक राग नहीं होता। बुद्धि-

पूर्वक अर्थात् रुचिपूर्वक–अभिप्राय पूर्वक रागादिक धर्मी का नही होते, किन्तु अभी जिन्हें रागादिक होने का कुछ भी खेद नहीं है—भय नही है और रागादिक में स्वच्छन्द पूर्वक वर्तते हैं उनको तो श्रद्धा भी सच्ची नही है। रागका होना बुरा है—दोष है। अरे! पर्यायमें अभी पामरता है इसलिये यह दोष हो जाते हैं,—इसप्रकार ज्ञानीको पापका भय होता है—पाप भीरुता होती है। ऐसे विवेकके बिना तो सम्यग्दृष्टिपना होता ही नही। जिसे परभवका कोई भय नही है वह तो मिथ्यादृष्टि पापी ही है। धर्मी जीवका रागादिक भाव करने का अभिप्राय तो नहीं है, और अस्थिरताके रागको टालने के लिये भी बारम्बार चैतन्यकी ओर का उद्यम करता रहता है। भरत चक्रवर्ती आदि को तो अन्तरमें रागरहित दृष्टि थी और अनन्तानुबन्धीका अभाव था। उनका उदाहरण लेकर मिथ्यादृष्टि यदि स्वच्छन्द पूर्वक प्रवृत्ति करे तो उसे तीव्र आस्रव–बन्ध होगा। मैं ज्ञानी हूँ मुझे कोई दोष नही लगता–ऐसा मानकर जो स्वच्छन्दी और मन्द उद्यमी होकर वर्तता है वह तो संसार में डूबता है। और परद्रव्यसे जीवको दोष नही लगता ऐसा कहा है, किन्तु जो ऐसा समझे वह ज्ञानी निरर्गल स्वच्छन्द प्रवृत्ति नही करता। परद्रव्यसे दोष नही लगता—ऐसा समझनेवालेको परद्रव्यके प्रति वैराग्य होता है। परकी रुचि करे, परके कार्यका अभिमान करे, स्वच्छन्द पूर्वक वर्ते तो वहाँ अपने अपराधसे बन्धन होता है। परद्रव्यके कर्तृत्वका अभिप्राय करे और कहे कि "मैं ज्ञाता हूँ"—किन्तु ऐसा कभी नहीं हो सकता, क्योंकि—

करै करम सोई करतारा।
जो जानै सो जाननहारा॥

जो करता नहि जानै सोई।
जानै सो करता नहिं होई॥

कर्तृत्वको माने वह ज्ञाता नहीं रहता, और जो ज्ञाता है वह कर्तृत्वको नहीं मानता, इसलिये पर्यायमें रागद्वेषादि विकारभाव होते हैं उन्हें बुरा जानना चाहिये, और उस विकारको छोड़नेका उद्यम करना चाहिये। पहले अशुभ-पापभाव छूट जाते हैं और शुभ होता है, फिर शुद्धोपयोग होने पर व्रतादिका शुभराग भी छूट जाता है, इसलिये पर्यायका विवेक रखकर शुद्धोपयोगका उद्यम करना चाहिये।

पुनश्च, कोई जीव व्यापारादिक तथा स्त्री सेवनादि कार्यों को तो कम करता है किन्तु शुभको हेय जानकर शास्त्राभ्यासादि कार्यों में प्रवृत्त नहीं होता और वीतराग भावरूप शुद्धोपयोगको भी प्राप्त नहीं हुआ है, वह जीव धर्म-अर्थ-काम-मोक्षरूप पुरुषार्थ से रहित होकर आलसी-निरुद्यमी होता है। उसकी निन्दा श्री पंचास्तिकाय की व्याख्यामें की है। वहाँ दृष्टान्त दिया है कि—"जिसप्रकार बहुत सी खीर-शक्कर खाकर पुरुष आलसी होता है, तथा जिस-प्रकार वृक्ष निरुद्यमी है, उसीप्रकार वे जीव आलसी-निरुद्यमी हुए हैं।" अब उनसे पूछते हैं कि—तुमने बाह्यमें तो शुभ-अशुभ कार्यों का कम किया, किन्तु उपयोग तो आलम्बन बिना नहीं रहता, तो तुम्हारा उपयोग कहाँ रहता है? वह कहो। यदि कहे कि—"आत्माका चिंतवन करते हैं," तो शास्त्रादि द्वारा अनेक प्रकारसे आत्माके विचारों को तो तुमने विकल्प कहा है, और किसी विशे-

पणसे आत्माको जानने में अधिक काल नही लगता, क्योंकि बारम्बार एकरूप चिंतवनमे छद्मस्थका उपयोग नही लगता। श्री गणधरादिक का उपयोग भी इसप्रकार नही रह सकता, इसलिये वे भी शास्त्रादि कार्यों में प्रवृत्त होते हैं, तो तुम्हारा उपयोग गणधरादिसे भी शुद्ध हुआ कैसे मानें ? इसलिये तुम्हारा कथन प्रमाण नही है। जिसप्रकार कोई व्यापारादिक मे निरुद्यमी होकर व्यर्थ ही ज्यो-त्यो काल गँवाता है, उसीप्रकार तुम भी धर्मम निरुद्यमी होकर, प्रमादमें व्यर्थ काल व्यतीत कर रहे हो।

जो चैतन्यका उद्यम करे उसके विषय-कषाय सहज सहज ही मन्द होते हैं। चैतन्यका उद्यम करता नही है स्वाध्यायादि करता नही है और प्रमादी होकर वृक्षकी भांति पडा रहता है, तेरा उपयोग तो प्रमादी होकर अशुभमे वर्तता है और उसे तू शुद्धोपयोग बतलाता है, किन्तु गणधर देव जैसो के भी शुद्धोपयोग अधिक काल तक नहीं रहता। उन्हे भी शास्त्राभ्यासादिका शुभभाव आता है, तो तू शुद्धोपयोगमे अधिक काल तक कैसे रह सकता है ? शुभभाव आये बिना नही रहता। राग कालमें स्वाध्यायादि शुभका उद्यम न करे तो अशुभ-पापभाव होगा, इसलिये परिणामका विवेक रखना चाहिये। निश्चयाभासी अज्ञानी जीव परिणामका विवेक रखे बिना निरुद्यमी होता है और ज्यो-त्यो कर प्रमादमे ही काल गँवाता है। अन्तरमें ज्ञान की वृद्धि हो—शांति बहुत बढ जाये, उसका नाम शुद्धोपयोग है, किन्तु निरुद्यमी होकर ज्यो-त्यो बैठ रहने का नाम कही शुद्धोपयोग नही है। निश्चयाभासी घडी भरमे चिंतवन जैसा करता है और पुन विषयोंमें प्रवृत्ति करता है, कभी भोजनादि

कार्योंमें वर्तता है, किन्तु शास्त्राभ्यास, पूजा-भक्ति आदि कार्यों को राग कहकर छोड़ देता है, शुभमें प्रवृत्ति न करके अशुभमें वर्तता है और शुद्धोपयोगकी तो उसे खबर ही नहीं है। जिसप्रकार कोई स्वप्नमें अपने को राजा मानता है, उसीप्रकार वह निश्चयाभासी जीव भी स्वच्छन्द पूर्वक अपनी कल्पनाके भ्रमसे ही अपने को शुद्धोपयोगी-ज्ञानी मानकर वर्तता है। मात्र घूयकी भाँति प्रमादी होनेको शुद्धोपयोगी मानकर, जिसप्रकार कोई अल्प कलश होने से आलसी बनकर पड़े रहने में सुख मानता है, उसीप्रकार तू भी आनन्द मानता है, अथवा जिसप्रकार कोई स्वप्नमें अपने को राजा मानकर सुखी होता है उसीप्रकार तू अपने को भ्रमसे सिद्ध समान शुद्ध मानकर स्वयं ही आनन्दित होता है, अथवा जिसप्रकार किसी स्थान पर रति मानकर कोई सुखी होता है, तथा किसी विचारमें रति मानकर सुखी होता है, उसे तू अनुभव जनित आनन्द कहता है। और जिसप्रकार कोई किसी स्थान पर अरति मानकर उदास होता है, उसीप्रकार तू व्यापारादिक और पुत्रादिकको खेद का कारण जानकर उनसे उदास रहता है। उसे तू वैराग्य मानता है, किन्तु ऐसे ज्ञान-वैराग्य तो कषायगर्भित हैं।

परका दोष मानकर उससे उदासीनता करता है वह तो द्वेष है। ज्ञानी को तो अंतरमें चैतन्यकी दशा का अनुभव हुआ है वहाँ निराकुलता हुई है, इसलिये परके प्रति उन्हें सहज ही वैराग्य हो गया है। अज्ञानी को सच्चा वैराग्य नहीं है। ज्ञानी को तो अंतर के सच्चे आनन्द का अनुभव हुआ है, इसलिये अंतर में वीतरागरूप उदासीन है। स्वप्नमें भी कहीं पर में सुख बुद्धि नहीं रही है। ज्ञानी को अंतरंग शांतिके अनुभव पूर्वक यथार्थ ज्ञान वैराग्य होते हैं, उनके प्रति

क्षण राग कम होता जाता है। अज्ञानी व्यापारादि छोडकर मन चाहे भोजनादि मे प्रवृत्ति करता है और उसमे अपनेको सुखी मानता है, कषाय रहित मानता है किन्तु तदनुसार विषय–भोग में आनन्द मानना वह तो आर्त–रौद्रध्यान है—पाप है। चैतन्य के अनुभव पूर्वक ऐसा वीतराग भाव प्रगट हो कि–अनुकूल सामग्री म राग न हो तथा प्रतिकूल सामग्री म द्वेष न हो, तभी कषाय रहितता कहलाती है।

× × ×

[द्वितीय अषाढ कृष्णा २ शुक्रवार ता० १–५–५१]

निश्चयनयाभासी अज्ञानी जीवकी बात चल रही है। अपनी पर्याय में रागादि होते हैं। उन्हे जानता नही है और अपने को एकान्त शुद्ध मानकर स्वच्छन्दी होकर विषय–कषाय में वर्तता है।

सुख–दुःख की बाह्य सामग्री म राग–द्वेष न हो उसका नाम वीतरागता है, किन्तु अन्तर मे द्वषभावसे त्याग करे वह कहीं वीतरागता नही है। प्रतिकूल सयोग के समय अन्तर म क्लेश परिणाम न हो, और सुख–सामग्री प्राप्त होने पर आनन्द न माने,—ऐसे चैतन्य मे अन्तर्लीनताका नाम वीतरागभाव है। मैं तो ज्ञानानन्द हूँ—ऐसी दृष्टि हुई, फिर उसमें एकाग्रता होने पर ऐसा वीतरागभाव परिणमित हो गया कि अनुकूल–प्रतिकूल सामग्री म राग–द्वेष उत्पन्न ही न हो। उसके बदले पर्याय म राग–द्वेष–अल्पज्ञता है उसे न मान और शुद्धता ही मानकर भ्रमसे वर्ते तो वह मिथ्यादृष्टि है।

वेदान्ती और सांख्यमती जीवको एकान्त शुद्ध मानते हैं, उसी प्रकार निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि भी अपनी पर्याय को जानता नहीं है और आत्माको एकान्त शुद्ध मानता है, इसलिये उसकी भी वेदान्त

जसी ही श्रद्धा हुई। वन्‍त तो अशुद्धता मानते ही नहीं। सांख्य-मती अशुद्धता को मानते हैं किन्तु वह भ्रम से ही होना मानते हैं, उसीप्रकार निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि भी अपने को एकान्त शुद्ध मान कर अशुद्धताको नहीं मानते, अथवा अशुद्धता कर्मोंकी ही है—ऐसा मानते हैं। इसलिये उन्हें वन्‍त और सांख्य का उपदेश इष्ट लगता है। देखो, निश्चय का यथार्थ भान हो और उसका आश्रय करे तो वह मोक्षमार्ग है, किन्तु जो निश्चय को जानते ही नहीं, उसका आश्रय भी नहीं करते और मात्र निश्चय का नाम लेकर भ्रम से वतते हैं,—ऐसे जीवों की यह बात है। अनन्त आत्मा भिन्न-भिन्न हैं, प्रत्येक आत्मा में अनन्त गुण हैं उनकी समय-समय की स्वतन्त्र पर्याय हैं और उनमें शुद्धता तथा विकार भी उनके अपने कारण से है। जीव की पर्याय चौदहवें गुणस्थान तक अशुद्धता है वह अपने कारण है, उसे जो न माने और पर्याय में शुद्ध ही मानले वह निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि है। धर्मी तो द्रव्यका आश्रय करके पर्याय का भी विवेक करता है।

पुनश्च, उन जीवों को ऐसा श्रद्धान है कि—मात्र शुद्ध आत्मा के चितवन से संवर-निर्जरा प्रगट होती है, और वहाँ मुक्तात्मा के सुखका अंश प्रगट होता है, तथा जीव के गुणस्थानादि अशुद्ध भावों का और अपने अतिरिक्त अन्य जीव-पुद्गलादिका चितवन करने से आस्रव बन्ध होते हैं, इसलिये वे अन्य विचारोंसे पराङ्मुख रहते हैं। अब, वह भी सत्यश्रद्धान नहीं है, क्योंकि शुद्ध स्वद्रव्य का चितवन करो या न करो अथवा अन्य चितवन करो, किन्तु यदि वीतरागता सहित भाव हो तो वहाँ संवर-निर्जरा ही है, और जहाँ रागादिरूप भाव हों वहाँ आस्रव-बन्ध हैं। यदि पर द्रव्य का जानना से ही

आस्रव-ब घ हो, तो केवली भगवान् समस्त पर द्रव्यों को जानते हैं, इसलिये उन्हें भी आस्रव-ब घ होंगे ।

ज्ञान स्वभाव स्व-पर प्रकाशक है, वह परको जाने वह कहीं आस्रव-बन्ध का कारण नहीं है । तथापि अज्ञानी—'परका विचार करेंगे तो आस्रव—बन्ध होगा"—ऐसा मानकर पर के विचारों से दूर रहना चाहते हैं वह उनकी मिथ्या मान्यता है । हां, चैत य के ध्यानमें एकाग्र हो गया हो तो पर द्रव्य का चितवन छूट जाता है, कि तु अज्ञानी तो ऐसा मानता है कि ज्ञानका उपयोग ही ब घका कारण है । जितना अकषाय वीतरागभाव हुआ उतने सवर-निर्जरा है, और जहाँ रागादि भाव है वहाँ आस्रव-ब घ हैं । यदि परका ज्ञान ब घका कारण हो तो केवली भगवान् तो समस्त पदार्थों को जानते हैं, तथापि उन्हें किंचित् ब घ नहीं होता । उनके राग-द्वेष नहीं है इसलिये ब धन नहीं है । उसी प्रकार सब जीवों को ज्ञान ब घ का कारण नहीं है ।

प्रश्न —छद्मस्थ को तो पर द्रव्य-चितवन होने से आस्रव-बंध होते हैं ।

उत्तर —ऐसा भी नहीं है, क्योंकि शुक्लध्यान में मुनिजनों को भी छह द्र यों के द्रव्य-गुण-पर्याय का चितवन होता है—ऐसा निरूपण किया है । अवधि, मन पर्यय ज्ञानमें भी परद्रव्य को जानने की विशेषता होती है । और चौथे गुणस्थान में कोई अपने स्वरूपका चितवन करता है उसे आस्रव—ब घ अधिक हैं, तथा गुणश्रेणी निर्जरा नहीं है, जबकि पाँचवें-छट्ठे गुणस्थान में आहार-विहारादि क्रिया होने पर भी अथवा परद्रव्य-चितवन से भी आस्रव-ब घ कम होता है, तथा गुणश्रेणी निर्जरा होती ही रहती है । इसलिये स्वद्रव्य-पर

द्रव्य के चितवन से निर्जरा–बंध नहीं है, किंतु रागादिक घटने से निर्जरा और रागादिक होने से बंध है। तुझे रागादि के स्वरूपका यथार्थ ज्ञान नहीं है इसलिये अन्यथा मानता है।

शुक्लध्यान में ध्येयरूप तो एक आत्मद्रव्य ही है, किंतु वहाँ द्रव्य–गुण–पर्याय में उपयोगका संक्रमण कहा है, तथापि उन्हें जानने के कारण राग–द्वेष या बंधन नहीं है। अवधिज्ञान में तो असंख्य चौबीसी ज्ञात होती हैं और जातिस्मरण ज्ञान में अनेक भव दिखाई देते हैं। अहो! पूर्वभव में भगवान निकट थे और उन्होंने ऐसा कहा था—इसप्रकार सब ज्ञात होता है, किंतु वह ज्ञातृत्व कहीं बंध का कारण नहीं है। स्वरूप की दृष्टि और वीतराग भाव ही संवर निर्जरा का कारण है तथा मिथ्यात्व और राग–द्वेष रूप भाव ही बंध का कारण है।

देखो, चौथे गुणस्थान वाला निर्विकल्प उपयोग में हो और पाँचवें–छट्ठे गुणस्थान वाला आहारादि शुभ–उपयोग में वर्तता हो, तथापि वहाँ चौथे गुणस्थान की अपेक्षा आस्रव—बंध कम है और संवर–निर्जरा अधिक है, क्योंकि उसके अकषाय परिणति विशेष है। चौथे गुणस्थान में अमुक अंश में तो गुणश्रेणी निर्जरा है, किंतु पाँचवें–छट्ठे गुणस्थान की अपेक्षा से उसके विशेष गुणश्रेणी निर्जरा नहीं है। पाँचवें गुणस्थानवाला जीव तिर्यंच (पशु) हो और हरियाली खाता हो, तथा तीर्थंकर का जीव चौथे गुणस्थान में हो, तो वहाँ तिर्यंच के पाँचवें गुणस्थानवाले जीव को विशेष अकषाय भाव है और संवर–निर्जरा भी विशेष है। इसलिये अंतरमें स्वत यावलम्बन की वृद्धि होने से जितनी अकषाय वीतराग परिणति हुई उतने आस्रव–बंध नहीं हैं। जितने राग–द्वेष हो उतने आस्रव–

बन्ध हैं। छट्ठे गुणस्थान वाले को निद्रा हो और चौथे गुणस्थान वाला निर्विकल्प ध्यान मे हो, तथापि छट्ठे गुणस्थान में तीन कषायों का अभाव है और अत्यंत संवर–निर्जरा है। किसी समय शिष्यको प्रायश्चित दे रहे हो—उलाहना दे रहे हो कि अरे! यह क्या किया? तथापि उस समय तीन कषायो का अभाव है और चौथे गुणस्थान वाले को निर्विकल्प ध्यान के समय भी तीन कषाय विद्यमान हैं, इसलिये उसे संवर–निर्जरा अल्प हैं और आस्रव–बन्ध विशेष हैं।

शांति और करुणा से उपदेश देते हैं कि अरे भाई! तुझे ऐसा भव प्राप्त हुआ, ऐसा अवसर मिला, तो अब ऐसे दोषो को छोड! अपना सुधार कर!—इस प्रकार उपदेश देते समय भी मुनिको तीन कषायो का तो अभाव है ही, और उतने प्रमाण में बन्धन होता ही नही। इसलिये पर द्रव्य का ज्ञान वह बन्ध का कारण नही है, बन्ध का कारण तो मोह है। जितना मोह दूर हुआ उतना बन्धन नही है और जितना मोह है उतना बंधन है।

प्रश्न —यदि ऐसा है तो निर्विकल्प अनुभव दशामें नय प्रमाण निक्षेपादिका तथा दर्शन ज्ञानादिका भी विकल्प करनेका निषेध किया है, उसका क्या कारण?

वीतरागभाव सहित स्व–पर का ज्ञातृत्व सो निर्विकल्प दशा

उत्तर —जो जीव इन्हीं विकल्पो मे लगे रहते हैं और अभेदरूप एक अपने आत्माका अनुभवन नही करते उन्हे ऐसा उपदेश दिया है कि–वे सब विकल्प वस्तु का निश्चय करने के लिये कारण हैं, किन्तु वस्तु का निश्चय होने पर उनका कोई प्रयोजन नही रहता, इसलिये

उन विकल्पों को भी छोडकर अभेदरूप एक आत्मा का अनुभव करना चाहिये, किन्तु उसके विचाररूप विकल्पो में ही फँसा रहना योग्य नही है। और वस्तु का निश्चय होने के पश्चात् भी ऐसा नही है कि सामान्यरूप स्वद्रव्यका ही चितवन बना रहे। वहाँ तो स्वद्रव्य और परद्रव्यका सामान्यरूप तथा विशेषरूप जानना होता है, किन्तु वह वीतरागता सहित होना है और उसीका नाम निर्विकल्पदशा है।

विकल्प आता है, किन्तु उसीमें धर्म मानकर रुका रहे तो मिथ्यादृष्टि है। भेदके आश्रय से निर्विकल्प अनुभव नही होता, इसलिये नय–प्रमाण–निक्षेप के विकल्प छुडाये हैं किन्तु उनका ज्ञान नही छुडाया। विकल्प को छोडकर अभेद आत्मा का अनुभव कराने के लिये उपदेश है। यहा तो यह बतलाना है कि पर का ज्ञान बाधका कारण नही है किन्तु मोह ही बाधका कारण है। सम्यग्दृष्टि धर्मात्माको वस्तु स्वभाव का अनुभव हुआ है, तथापि उसके निर्विकल्पदशा निरंतरस्थायी नही रहती, उसे भी विकल्प तो आता है, किन्तु उससे कही मिथ्यात्व नही हो जाता निर्विकल्प प्रतीति होने के पश्चात् सामान्य द्रव्य में ही उपयोग बना रहे ऐसा नही है। स्वद्रव्य–परद्रव्य सबका जानता है, किन्तु वहाँ जितना वीतरागभाव है उतनी तो निर्विकल्प दशा ही है। उपयोग भले ही निर्विकल्प न हो, किन्तु जितनी कषाय दूर होकर वीतराग भाव हुआ है उतनी निर्विकल्प दशा निरंतरस्थायी है।

प्रश्न —द्रव्य–गुण–पर्याय, स्व पर आदि अनेक पदार्थोंको जानने मे तो अनेक विकल्प हुए, तो वहाँ निर्विकल्प सज्ञा किस प्रकार सम्भव है ?

उत्तर —निर्विचार होने का नाम निर्विकल्पता नही है।

छद्मस्थ को विचार सहित ज्ञातृत्व होता है। उसका अभाव मानने से ज्ञानका भी अभाव होगा और वह तो जडता हुई, किन्तु आत्मा के जडता नही होती, इसलिये विचार तो रहता है। पुनश्च, यदि ऐसा कहा जाये कि—एक सामान्यका ही विचार रहता है, विशेष का नही रहता, तो सामान्य का विचार तो अधिक काल तक नहीं रहता, तथा विशेष की अपेक्षा के बिना सामान्य का स्वरूप भासित नही होता।

यहाँ निश्चयाभासी जीव के समक्ष यह कथन समझाया है। अनुभव मे निर्विकल्प उपयोग हो उस समय ता पर द्रव्यका या भेद का चितन नही होता, किन्तु यहाँ जितनी वीतरागी परिणति हुई है उसे निर्विकल्प दशा कहा है। पुनश्च, जो विशेष को मानता ही नही है अथवा विशेष के जानने को बधका कारण मानता है, और अकेले सामान्य को ही मानता है उससे यहाँ कहते हैं कि विशेष के बिना सामान्य का निर्णय हो ही नही सकता। विशेष को जानना वह कोई दोष नही है। स्व और पर दोनो को तथा सामान्य और विशेष दोनो को यथार्थ जाने बिना सम्यग्ज्ञान होता ही नही।

वह निश्चयाभासी जीव समयसार का आधार लेकर कहता है कि—समयसार में ऐसा कहा है कि—

भावयेत् भेदविज्ञानमिदमच्छिन्न धारया।
तावद्यावत्पराच्च्युत्वा, ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठते ॥१३०॥

अर्थ—यह भेद विज्ञान तब तक निरंतर भाना चाहिये कि जब तक ज्ञान पर से छूटकर ज्ञानमें स्थिर हो। इसलिये भेद विज्ञान छूटने से परका ज्ञातृत्व मिट जाता है मात्र स्वयं अपने को ही जानता है।

अब यहाँ तो ऐसा कहा है कि—पहले स्व परको एक जानता था, फिर दोनों को पृथक् जानने के लिये भेद विज्ञान को वहीं तक माना योग्य है कि जहाँ तक ज्ञान पररूप को भिन्न जानकर अपने स्वरूप में ही निश्चित हो। उसके पश्चात् भेदविज्ञान करने का प्रयोजन नहीं रहता। परको पररूप और आपको आपरूप स्वयं जानता ही रहता है। किंतु यहाँ ऐसा नहीं है कि—पर द्रव्य को जानना ही मिट जाता है क्योंकि पर द्रव्य को जानना और स्व द्रव्यके विशेषों को जाननेका नाम विकल्प नहीं है। तो किस-प्रकार है? वह कहते हैं— 'राग द्वेष वश होकर किसी ज्ञेय को जानने में उपयोग लगाना तथा किसी ज्ञेयको जानते हुए उपयोग को छुड़ाना—इसप्रकार बारम्बार उपयोग को घुमाने का नाम विकल्प है। और जहाँ वीतराग-रूप होकर जिसे जानता है उसे यथार्थ ही जानता है, अन्य-अन्य ज्ञेयको जानने के लिये उपयोग को नहीं घुमाना वहाँ निर्विकल्प दशा जानना।

पर का जानना छूट जावे और अकेले आत्मा को ही जानता रहे उसका नाम कहीं भेदज्ञान नहीं है, किंतु स्व पर दोनों को जानने पर भी, स्व को स्व रूप ही जाने और पर को पररूप ही जाने उसका नाम भेदज्ञान है। स्व पर को एक रूप मानना वह मिथ्यात्व है, किन्तु परको पररूप जानना तो यथार्थ ज्ञान है, वह कहीं दोष नहीं है। स्व पर को जानने का ज्ञानका विकास हुआ वह बन्धका कारण नहीं है। पर को जानना ही मिट जाये—ऐसा नहीं है। स्व को स्व रूप जानना और पर को पररूप जानना वह कहीं विकल्प या राग द्वेष नहीं है, किन्तु राग द्वेष पूर्वक जानना ही वहाँ विकल्प है। छद्मस्थ को पर को जानते समय विकल्प होता है वह तो राग द्वेषके

कारण है, किन्तु कही ज्ञानके कारण विकल्प नही है । इसलिये जितने राग द्वेष मिटे और वीतरागता हुई उतनी तो निर्विकल्प दशा है—ऐसा जानना चाहिये । यहाँ उपयोग की अपेक्षा निर्विकल्पता की बात नही है । मिथ्यादृष्टि जीव पर्याय का तो विचार नही करता, पर्याय मे कितने राग द्वेष हैं इसका विचार नही करता और उपयोग को स्व मे रखने को निर्विकल्प मानता है, किन्तु छद्मस्थ का उपयोग मात्र स्वद्रव्य मे स्थिर नही रहता और उपयोग का तो स्व पर का जानने का स्वभाव है । वह उपयोग बन्धनका कारण नही है किन्तु रागद्वेष ही बन्धन का कारण है—ऐसा जानना चाहिये ।

प्रश्न —छद्मस्थ का उपयोग नाना ज्ञेयो मे अवश्य भटकता है, फिर वहाँ निर्विकल्पता किस प्रकार सम्भव है ?

उत्तर —जितने समय तक एक जानने रूप रहे उतने काल तक *निर्विकल्पता नाम प्राप्त करता है । सिद्धान्त मे ध्यान का लक्षण भी* ऐसा ही कहा है कि—"एकाग्रचितानिरोधो ध्यानम्" (मोक्षशास्त्र, अ ६, सूत्र २७) अर्थात्—एक का मुख्य चिंतवन हो और अन्य चिंतवन रुके उसका नाम ध्यान है । सूत्र की सर्वार्थ सिद्धि टीका में तो विशेष कहा है कि—"यदि सब चिंता रोकने का ध्यान हो तो अचेतनता हो जाये ।" और ऐसी भी विवक्षा है कि—संतान अपेक्षा से नाना ज्ञेयो का जानना भी होता है, किन्तु जब तक वीतरागता रहे अर्थात् रागादिक द्वारा स्वयं उपयोग को न भटकाये तबतक निर्विकल्प दशा कहते हैं ।

उपयोग को स्व में लगाने के उपदेश का प्रयोजन

प्रश्न —यदि ऐसा है, तो उपयोग को पर द्रव्यो से छुडाकर स्वरूप में लगाने का उपदेश किसलिये दिया है ?

उत्तर —शुभ-अशुभ भावों के कारण रूप जो पर द्रव्य है उसमें उपयोग लगने से जिसे राग-द्वेष हो जाता है तथा स्वरूप चिंतवन करे तो राग द्वेष कम होता है,—ऐसे निचली दशावाले जीवों को पूर्वोक्त उपदेश है। जैसे—कोई स्त्री विकार भाव से किसी के घर जा रही हो, उसे रोका कि पराये घर न जा, अपने घर में बैठी रह, किन्तु कोई स्त्री निर्विकार भाव से किसी के घर जाये और यथा योग्य प्रवर्तन करे तो कोई दोष नहीं है। उसी प्रकार उपयोग-रूप परिणति राग द्वेष भाव से पर द्रव्यों में प्रवर्तमान थी, उसे रोककर कहा कि "पर द्रव्यों में न प्रवर्त, स्वरूप में मग्न रह," किन्तु जो उपयोग रूप परिणति वीतराग भाव से पर द्रव्यों को जानकर यथा योग्य प्रवर्तन करे उसे कोई दोष नहीं है।

गणधरादिक ऋद्धिधारी मुनि अन्तर्मुहूर्त में बारह अंगों की स्वाध्याय उच्चार पूर्वक करें, तथापि वहाँ आकुलता नहीं है—उनके राग द्वेष नहीं है, और चौथे गुणस्थान वाला मौन धारण करके विचार में बैठा हो, तथापि वहाँ राग द्वेष विशेष है इसलिये आकुलता है। इसलिये पर द्रव्य कहीं राग द्वेष का कारण नहीं है। पर के जानने का निषेध नहीं किया है, किन्तु पर के प्रति राग द्वेष का निषेध किया है—ऐसा जानना चाहिये।

× × ×

[द्वितीय वैशाख कृष्णा ३ शनिवार ता० २-५-५१]

परद्रव्य रागद्वेष का कारण नहीं है

जिसे अपने ज्ञानानन्द स्वभाव की खबर नहीं है, तथापि अपने को ज्ञानी मानता है, तथा पर द्रव्य के ज्ञान को राग द्वेष क

मानकर वहाँ से उपयोग को छुड़ाना चाहता है वह अज्ञानी है। वास्तव मे ज्ञान कही राग द्वेष का कारण नही जीवको जो रागद्वेष होते हैं वे अपने अपराध से होते हैं। गुणस्थान मार्गणा स्थानादिको जानना वह तो ज्ञानकी निर्मलता का कारण है, वह कही राग द्वेष का कारण नही है। परद्रव्य कही रागद्वेष का कारण नही है, किंतु जिसे रागद्वेष हो जाते हैं वह परद्रव्य को रागद्वेष का निमित्त बनाता है।

प्रश्न —यदि ऐसा है तो महा मुनि परिग्रहादि के चितवन का त्याग किसलिये करते हैं ?

उत्तर —जिस प्रकार विकार रहित स्त्री कुशील के कारणरूप परगृह का त्याग करती है, उसी प्रकार वीतराग परिणति राग द्वेष के कारणरूप परद्रव्यो का त्याग करती है। और जो व्यभिचार के कारण नही हैं ऐसे पर गृहो में जाने का त्याग नहीं है, उसी प्रकार जो रागद्वेष के कारण नही हैं एसे परद्रव्यो को जानने का त्याग नही है। तब वे कहते हैं कि—जिस प्रकार स्त्री प्रयोजनवश पिता दिक के घर जाये तो भले जाये, किन्तु बिना प्रयोजन जिस–तिस के घर जाना योग्य नही है, उसी प्रकार परिणति को प्रयोजन जानकर सप्त तत्वो का विचार करना तो योग्य है, किन्तु बिना प्रयोजन गुणस्थानादिक का विचार करना योग्य नही है। उसका समाधान – जिस प्रकार स्त्री प्रयोजन जानकर पितादि या मित्रादि के घर भी जाती है, उसी प्रकार परिणति तत्वो के विशेष जानने मे कारणरूप गुणस्थानादिक और कर्मादिकको भी जानती है।

परद्रव्य का ज्ञातृत्व दोष नहीं है

मोक्ष पाहुड में कहा है कि मुनियों के तो स्वभावका ही विशेष चिंतवन होता है। वे संघ—शिष्यादि परद्रव्य के चिंतवन में विशेष नहीं रुकते। परद्रव्यों का विचार छोड़कर ज्ञानानन्द आत्माका ध्यान करना चाहिये—ऐसा शास्त्र में कहा है, किन्तु उसका यह अर्थ नही है कि परद्रव्य का ज्ञान राग द्वेष का कारण है। यहाँ निश्चयाभासी जीवके समक्ष यह कथन है। धर्मात्माको भी गुणस्थान, मार्गणास्थान कर्मों की प्रकृति आदिका सूक्ष्म विचार आता है, उसके बदले निश्चयाभासी कहता है कि हमें तो शुद्ध आत्माका ही अनुभव करना चाहिये और विकल्प को रोकना चाहिये, किन्तु उसे अपनी पर्यायके व्यवहार का विवेक नहीं है। निर्विकल्प ध्यान अधिक समय नहीं रह सकता। गणधरदेवको भी शुभ विकल्प तो आता है और दिव्य ध्वनि भी सुनते हैं। देव–गुरु की भक्ति, शास्त्र स्वाध्यायादि का भाव आवे और ज्ञानका उपयोग उस ओर जावे, किन्तु उससे कहीं राग–द्वेष नहीं बढ जाते। तीर्थंकरादि को जाति स्मरण ज्ञान होता है और पूर्वभव ज्ञात होते हैं, वहाँ भवोंको जानना कहीं रागद्वेष का कारण नहीं है। ज्ञानका स्वभाव तो जानने का ही है, इसलिये वह सबको जानता है। ज्ञान किसे नही जानेगा ? ज्ञान करना कहीं दोष नही है। गुणस्थानादि का जानते समय शुभराग होता है, किन्तु वह तो अपनी परिणति अभी वीतरागी नही हुई इसलिये है। शास्त्र में कहा है कि भावश्रुतज्ञानके अवलम्बन पूर्वक शास्त्रों का अभ्यास करना चाहिये। मुनिवर आगम चक्षुवाले हैं इसलिये आगमज्ञान द्वारा समस्त तत्त्वों को देखते हैं, इसलिये ज्ञान कर्मादि को जानता है वह दोष नही है।

सूर्य घूमता है। धर्मी जीव आगम से असंख्यात द्वीप–समुद्रादि को जानता है, वह वहाँ रागद्वेष का कारण नहीं है।

मुनिराज ध्यान में लीन हों और बिल्ली आकर खाने लगे तो वहाँ मुनि को विकल्प उठने पर वह समझ में आ जाता है, किन्तु द्वेष नहीं होता। शरीर में रोग हो वह मुनि के ख्याल में आ जाता है किन्तु उससे उन्हें शरीर के प्रति राग नहीं होता। इसलिये यहाँ ऐसा सिद्ध करना है कि परद्रव्यको जानने पर भी मुनिवरों को रागद्वेष अल्प ही होता है और सम्यक्त्वी को चौथे गुणस्थान में स्व द्रव्य में उपयोग हो उस समय भी मुनि की अपेक्षा विशेष रागद्वेष है। इसलिये स्व द्रव्य में उपयोग हो या परद्रव्य में हो—उस पर से रागद्वेष का माप नहीं निकलता।

आत्मा के श्रद्धा–ज्ञान–आचरण का अर्थ

प्रश्न—यदि ऐसा है तो, शास्त्र में किसलिये कहा है कि आत्मा का श्रद्धान–ज्ञान–आचरण ही सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र है?

उत्तर—अनादिकालसे परद्रव्योंमें अपना श्रद्धान–ज्ञान–आचरण था, उसे छुडाने के लिये वह उपदेश है। अपने में अपना श्रद्धान–ज्ञान–आचरण होने पर तथा पर द्रव्य में रागद्वेषादि परिणति करने का श्रद्धान ज्ञान आचरण मिट जाने पर सम्यग्दर्शनादिक होते हैं; किन्तु यदि परद्रव्यका परद्रव्यरूप श्रद्धानादि करनेसे सम्यग्दर्शनादि न होते हों तो केवली भगवान के भी उनका अभाव हो। जहाँ परद्रव्यको बुरा और निजद्रव्य को भला जानना है वहाँ तो रागद्वेष सहज ही हुआ, किन्तु जहाँ आपको आपरूप और परको पररूप यथार्थ जानता रहे वहाँ राग द्वेष नहीं है, और उसीप्रकार जब श्रद्धानादिरूप प्रवर्तन करे तभी सम्यग्दर्शनादिक होते हैं—ऐसा जानना।

३
मात्र व्यवहारावलम्बी जैनाभासों का निरूपण

[फाल्गुन कृष्णा १३ गुरुवार ता० १२-२-५१]

[आज बाहरसे यात्री आने के कारण मुख्यतः निश्चय-व्यवहार के स्वरूप पर व्याख्यान हुआ था ।]

लगभग साढ़े तीनसौ वर्ष पूर्व यशोविजयजी नामके एक श्वेताम्बर उपाध्याय हो गये हैं। उन्होंने "दिक्पट" के चौरासी बोलों में दिगम्बरों की ८४ भूल निकाली हैं वे कहते हैं कि—'दिगम्बर लोग निश्चय पहले कहते हैं यह दिगम्बर की भूल है।' किन्तु उनकी यह बात यथार्थ नहीं है। राग-व्यवहार को अभूतार्थ करके स्वभाव को भूतार्थ करना चाहिये। मैं ज्ञायक सच्चिदानन्द हूँ ऐसा निर्णय करने पर रागबुद्धि और पर्यायबुद्धि उड़ जाती है। वे कहते हैं कि—'दिगम्बर पहले निश्चय कहते हैं किन्तु होना चाहिये पहले व्यवहार," किन्तु यह भूल है। सामान्य स्वभाव परिपूर्ण है उसकी श्रद्धा करना यह निश्चय है। अपूर्णदशा में शुभ राग आता है किन्तु उसे जानना वह व्यवहार है। ज्ञानानन्द स्वभाव की दृष्टि हुए बिना रागको व्यवहार कहने वाला कौन है? सम्यग्ज्ञान के बिना कौन निर्णय करेगा? आत्मा ज्ञायक है, रागादि मेरा सच्चा स्वरूप नहीं है,—ऐसा भान होने के पश्चात् राग को व्यवहार कहते हैं। निश्चय सम्यग्ज्ञान बिना व्यवहारनय होते ही नहीं।

मिथ्यादृष्टि शुभरागसे लाभ मानता है, उसके शुभरागको व्यवहार नहीं कहते। मिथ्या अभिप्राय रहित होकर शुद्ध आत्माके आलम्बनसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और शुक्लध्यानादि की पर्याय प्रगट होती है। छहों द्रव्य स्वतन्त्र हैं ऐसा प्रथम समझना चाहिये। और जीवमें होने वाली पर्याय क्षणिक है वह उत्पाद-व्ययरूप है। धर्म पर्याय में होता है किन्तु पर्याय के आश्रय से धर्म नहीं होता। सच्चे देव-गुरु-शास्त्रका शुभराग आय उसके आधार से धर्म नहीं है। उसका भी आश्रय छोड़कर शुद्ध स्वभाव के आश्रयसे धर्म प्रगट करे वह निश्चय है, इसलिये निश्चय प्रथम होता है। जिसे ऐसे निश्चयका भान हो ऐसे धर्मी जीव के शुभराग को व्यवहार कहते हैं। यशोविजयजी कहते हैं वह यथार्थ नहीं है। इसप्रकार व्यवहार पहले कहकर दो हजार वर्ष पहले श्वेताम्बर सम्प्रदाय की स्थापना हुई है।

सर्वज्ञकी वाणी में ऐसा निश्चय-व्यवहारका स्वरूप आया है। वाणीके कर्ता भगवान नहीं हैं, किन्तु सहज ही वाणी निकलती है। यहाँ निश्चय-व्यवहार की बात बतलाना है।

यशोविजयजी कहते हैं कि—

निश्चयनय पहले कहै, पीछे ले व्यवहार,
भाषाक्रम जाने नहीं, जैनमार्ग को सार।

—ऐसा कहकर वे दिगम्बर की भूल बतलाते हैं। पहले व्यवहार हो तो धर्म होता है—यह बात मिथ्या है। आत्मा शुद्ध चिदानंद है ऐसी दृष्टि होने के पश्चात् जो राग हो अथवा पर्यायकी जो हीनता है उसका बराबर ज्ञान करना वह व्यवहार नयका विषय है। चौथे

गुणस्थान मे निश्चय प्रथम होता है, अर्थात जिसे आत्माका धर्म करना हो उसे आत्माकी दृष्टि प्रथम करना चाहिये। जिसे निश्चय भावश्रुतज्ञान हुआ हो उसे व्यवहार होता है। निश्चय की दृष्टि बिना पुण्यको व्यवहार नही कहते।

"शिष्यको भक्तिका और श्रवण का राग आता है इसलिये प्रथम व्यवहार आता है और व्यवहार से निश्चय प्रगट होता है,"—ऐसा यशोविजयजी कहते हैं, किन्तु यह बात यथार्थ नही है।

यदि व्यवहार करते करते निश्चय आत्मज्ञानादि हो जायें तो 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रैवक उपजायो, प निज आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो" ऐसा क्यो हुआ ?

इसलिये व्यवहार विकल्पका आश्रय छोड कर आत्माके सामान्य स्वभावका आश्रय ले तब धर्म होता है। जिसने सामान्य स्वभाव का आश्रय लेकर सम्यग्दर्शन प्रगट किया उसने सब जान लिया। जो शुभ राग आता है वह व्यवहार है, और आत्माके अवलम्बन से जो शुद्धता प्रगट होती है वह निश्चय है।—इसप्रकार दोनो होकर प्रमाण होता है। शिष्य शुभरागका अवलम्बन छोडकर शुद्ध आत्माका आश्रय लेता है और अन्तर प्रमाण ज्ञान होता है तब उसे नय लागू होता है। निश्चय का भान होने के पश्चात् रागको व्यवहार नाम होता है। नय श्रुतज्ञानका अंश है। श्रुतज्ञान प्रमाण होनेसे पूर्व व्यवहार लागू नही होता। श्री कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि—रागसे पृथक और स्वरूप से एकत्व आत्मा है—ऐसी बात जीवो ने नही सुनी है। कर्म से राग होता है यह मान्यता मूलयुक्त है। कर्म तो पृथक वस्तु है उससे राग नही होता। यदि पर से अथवा कर्म से विकार होता हो तो अपनी

[illegible]

[illegible] है —

[illegible]
[illegible]

[illegible]

[illegible] है —

[illegible]
[illegible]

[illegible]

वे भी श्वेताम्बर जैसे ही हैं। प्रथम निश्चय प्रगट हो तो रागपर व्यवहारका आरोप आता है। वस्तुस्वरूप बदल नहीं सकता।

एक समय में जो उत्पाद-व्यय होता है उसे गौण करके, सामान्य ध्रुव स्वभाव की ओर जो दृष्टि हुई वह निश्चय है और पश्चात् जो राग आता है वह व्यवहार है—ऐसा जानना सो जैन दर्शन है। पहले व्यवहार होना चाहिये—ऐसा कहने वाला भूल में है, क्योंकि व्यवहार क्या है, निश्चय के बिना व्यवहार नहीं होता। सामान्य एकरूप स्वभाव का अवलम्बन करना वह धर्म है, और वही जैन शासन का सार है।

जड़-चेतन की पर्यायें क्रमबद्ध हैं

जड़ और चेतनकी पर्यायें उल्टी-सीधी नहीं होतीं—ऐसा निर्णय करने से परका कर्तृत्व उड़ जाता है। मैं पर में फेरफार नहीं कर सकता, तथा मुझमें भी उल्टी-सीधी पर्याय नहीं होती, इसलिये उस ओर की दृष्टि छोड़कर द्रव्यदृष्टि करना वह धर्म है। सामान्यकी दृष्टि होने पर अनन्त निमित्त पर की दृष्टि उड़ गई। मैं ज्ञान स्वभावी हूँ—ऐसा निर्णय होने से पर की कर्ता बुद्धि छूट गई और ज्ञाता-दृष्टा हो गया। क्रमबद्ध पर्याय का निर्णय कहो या द्रव्यदृष्टि कहो—वह सब एक ही है।

सब पदार्थों का परिणमन क्रमबद्ध है। जिस काल जो पर्याय होना है वही होगी। पर्याय सत् है श्री प्रवचनसार गाथा ९९ में यह बात स्पष्ट कही है। जो पर्याय जिसकाल होना है वह आगे-पीछे नहीं हो सकती। आत्मा तथा अन्य पदार्थों की पर्याय व्यवस्थित है। सर्वज्ञ सब जानते हैं। सर्वज्ञका निर्णय किस प्रकार होता है? अपनी पर्याय

अल्पज्ञ है, अल्पज्ञताके आश्रयसे सर्वज्ञका निर्णय नहीं होगा। अपना स्वभाव सर्वज्ञ है—ऐसे ज्ञानगुणमें एकाग्र होनेपर सर्वज्ञ स्वभावके आश्रयसे निर्णय होता है। सर्वज्ञ भगवान आत्मामें से हुए हैं। क्या सर्वज्ञताका उत्पाद, व्ययमें से होता है? नहीं। रागमें से होता है? नहीं। सर्वज्ञस्वभावके आश्रयसे सर्वज्ञदशा प्रगट होती है।—इसप्रकार जो स्वभावका आश्रय करता है उसने क्रमबद्धपर्यायका निर्णय किया है।

क्रमबद्धपर्यायका निर्णय करनेवाला परका अकर्ता होता है। और अपनेमें पर्याय क्रमबद्ध होती है—ऐसा निर्णय करनेमें अक्रम स्वभावका निर्णय होता है, तथा उसके आश्रयसे सम्यग्ज्ञान होता है।

स्वभावदृष्टि करना चारों अनुयोगोंका तात्पर्य है

चारों अनुयोगोंका तात्पर्य यह है कि निमित्तदृष्टि और राग-दृष्टि हटाकर स्वभावदृष्टि करना चाहिये, यही सम्यग्ज्ञान और धर्म है। इसे वीतराग शासन कहते हैं, यह न्याय है। जैसी वस्तुकी मर्यादा है उसी प्रकार ज्ञानको ले जाना उसे न्याय कहते हैं।

× × ×

[फाल्गुन कृष्णा ३० शुक्रवार ता० १७-२-६१]

[बाहर के यात्री आनेसे 'मात्र व्यवहारावलम्बी जैनाभासोंका निरूपण (पृष्ठ २७९) पर व्याख्यान प्रारम्भ हुए हैं।]

अब व्यवहाराभासीकी बात करते हैं। निमित्तादिका ज्ञान कराने के लिये जिनागममें व्यवहारकी मुख्यतासे कथन आते हैं। आत्मा ज्ञातादृष्टा है ऐसी जिसे दृष्टि हुई है उसके शुभरागको व्यवहार कहते हैं। अज्ञानी दया दानादिको ही धर्मका साधन मानता है। स्व गुरु

शास्त्रकी श्रद्धा, पंच महाव्रतका राग और शास्त्रोंका ज्ञान अज्ञानी जीव ने अनंतबार किया है, किंतु अंतर में निश्चय शुद्धात्म द्रव्य साधन है उसकी दृष्टि उसने नहीं की। कषाय की मंदताका तथा देव गुरु-शास्त्रकी श्रद्धाको निमित्तसे साधन कहा जाता है किंतु वह यथार्थ साधन नहीं है। जो कषायकी मंदतासे धर्म मानता है वह व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि है। धर्मका साधन तो कारणपरमात्मा है—कारण शुद्धजीव है। त्रिकाली ध्रुवशक्तिको कारणशुद्धजीव कहते हैं उसमेंसे केवलज्ञानादिरूप कार्य होता है। केवलज्ञान, केवल दर्शन आदि प्रगट होने की शक्ति द्रव्यमें है। वर्तमान पर्याय में अथवा व्यवहार रत्नत्रय में केवलज्ञान प्रगट करने की शक्ति नहीं है। मैं शुद्ध चिदानंद हूँ, उसमें से सम्यग्दर्शन ज्ञानरूपी कार्य प्रगट होता है। शुद्धजीव कारण परमात्मा है, उसमें से मोक्षमार्ग और मोक्षरूपी कार्य प्रगट होता है। केवलज्ञान, केवलदर्शन अनंत आनंद तथा अनंतवीर्य कार्यपरमात्मा है और शुद्धजीव शक्तिरूप कारणपरमात्मा है। जिसकी दृष्टि कारण-परमात्मा पर नहीं है किंतु व्यवहार पर है वह व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि है। दया दानादिक परिणाम यथार्थ साधन नहीं हैं, यथार्थ साधन तो परमपारिणामिकभाव है जिसे परकी अपेक्षा लागू नहीं होती।

औदयिकभाव जीवका स्वतत्त्व है। कर्मके कारण दया दानादि अथवा काम क्रोधादि नहीं होते। औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक औदयिक और पारिणामिक—यह पाँचों भाव जीवके स्वतत्व [redacted]। कर्म अजीवतत्त्व है। कर्मकी अस्ति है इसलिये औदयिकभाव है—ऐसा नहीं है। औदयिकभाव अपने कारण अपनी पर्याय में होता है। दया, दान, व्रत, पूजादि औदयिकभाव हैं, आस्रव हैं—बंध के कारण हैं।

अज्ञानी स्ह धर्मका सच्चा साधन मानता है। आत्मा में करण नाम की शक्ति है, उसका अवलम्बन ले तो सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र प्रगट होता है, और फिर उस मोक्षमार्ग का व्यय होकर मोक्षदशा प्रगट होती है। कारण परमात्मा एकरूप सदृश भगवान है, उसके अवलम्बनसे निश्चय सम्यग्ज्ञान–ज्ञान–चारित्र पर्याय प्रगट होती है, उसमें सम्यग्दर्शन औपशमिक, क्षायोपशमिक अथवा क्षायिक होता है ज्ञान और चारित्र क्षायोपशमिक भावरूप है।

विपरीत अभिप्राय रहित सात तत्त्वों की श्रद्धा सम्यग्दर्शन है। सात तत्त्व सातरूप क्य रहते हैं? कम अजीवतत्व है, अपनी पर्याय मे होने वाल राग द्वेष आस्रवतत्त्व हैं। कम से आस्रव का होना माने तो साततत्त्व नही रहते। अजीव स आस्रव माने, कम के उदय से विकार माने उसने अजाव और आस्रव को एक माना है। यहाँ भाव आस्रव की बात है। द्र यास्रव द्रव्यपुण्य पाप, द्र यब ध, द्र यनिर्जरा, द्रव्यमोक्ष आदि अजीवतत्व म आ जात हैं। एक समय की पर्याय म होने वाले रागद्वेषभाव आस्रवतत्त्व हैं। जो कमस विकार मानता है उसने विकार को—आस्रव को स्वय नही माना, इसलिये सात तत्त्व नही रहते। अजाव से आस्रव माननेवाला यवहाराभास में जाता है। आस्रव स धम माने ता भी भूल है। सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र संवर निर्जरा में आते हैं।

सामान्य–विशेष दोनों निरपेक्ष

और सामान्यसे विशेष होता है–एसा भी यहाँ नही कहना है। सामान्य और विशेषका प्रथम निरपेक्ष स्वीकार न करे तो एक–दूसरे

की हानि होती है। स्वय सिद्ध न हो तो दोनोका नाश होता है। समन्तभद्राचार्य कृत आप्तमीमासामें यह बात आती है।

जीव है सवर है, निजरा है–सब हैं उनमे जीव सामान्य में आता है, और आस्रव, बध, सवर, निजरा, मोक्ष–यह पाच पर्यायें हैं अथवा विशेष हैं। इसप्रकार सामान्य और विशेष भी स्वतन्त्र निरपेक्ष मानना चाहिये।

प्रथम सातो तत्त्वोको निरपेक्ष जानना चाहिये। अजीव की पर्याय अजीवसे है, आस्रव अजीवसे नही है। तत्त्व वस्तु है, अवस्तु नही। पर्यायकी अपेक्षासे पर्याय वस्तु है। एक पर्यायमे अनत धर्म आते हैं। एक आस्रव पर्यायमे सवरकी नास्ति, अजीवकी नास्ति तथा पूर्व और उत्तर पर्यायकी नास्ति है। नव तत्त्वोको पृथक पृथक न माने वह व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि है। आस्रव तो विकारी तत्त्व है, उससे सवर–निजरा माने तो सवर और निजरा निरपेक्ष नही रहते। आस्रव औदयिकभाव है सवर–निजरा औपशमिक–क्षायोपशमिकभाव है। औदयिकभावसे औपशमिक–क्षायोपशमिकभाव नही होता। और कर्म अजीव है, अजीवसे औदयिकभाव नही होता।

भावबध औदयिकभाव है। सवर–निजरा अपूर्ण शुद्ध पर्याय है, मोक्ष पूर्ण शुद्ध पर्याय है। जीवतत्त्व परम पारिणामिक भावमे आता है। पुद्गलमे पारिणामिक तथा औदयिकभाव दो कहे हैं। कारण शुद्धजीव–कारणपरमात्मा है वह जीवतत्त्व है। सात की निरपेक्षता निश्चित करने के पश्चात् सापेक्षता लागू होती है। सवर निजरा कहाँ से आती है? सवर–निजरा की पर्याय पहले नही थी, तो वह कहाँ से आती है? द्रव्य स्वभावमे से आती है, यह सापेक्ष कथन है।

और विकार कहाँ से आता है ? स्वभावका आश्रय छोड़कर निमित्त का आश्रय करता है उसे विकार होता है, यह भी सापेक्ष कथन है। निश्चय मोक्षमार्ग संवर–निर्जरामें आता है।

तीन कालके जितने समय हैं उतनी चारित्र गुणकी पर्यायें हैं। धर्मी जीवको शुभराग लाने की भी भावना नहीं है। ज्ञानकी मति, श्रुत, अवधि, मन पर्यय और केवल—ऐसी पाँच पर्यायें हैं। केवलज्ञान भी एक समय की पर्याय है। ज्ञान गुणकी स्थिति त्रिकाल है, किंतु केवलज्ञान पर्याय दूसरे समय नहीं रहती। यह दूसरी बात है कि ज्यों की त्यों सदृश रहे, किंतु पूर्व पर्याय बाद की पर्याय के समय नहीं रहती। उसीप्रकार श्रद्धागुण त्रिकाल है, उसकी मिथ्यादर्शन पर्याय है, वह कर्मके कारण नहीं है। वह पर्याय सत् है। पूर्व की मिथ्याश्रद्धाका व्यय नवीन मिथ्याश्रद्धाका उत्पाद और श्रद्धागुण ध्रुव है। इसप्रकार तीनों सत् हैं। ऐसे स्वतंत्र सत् को जो नहीं मानता और कर्मसे परिणाम माने तथा रागसे धर्म माने वह व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि है। आत्माका भान होने से मिथ्यादर्शनका व्यय होकर, सम्यग्दर्शनका उत्पाद होता है और श्रद्धागुण स्थायी रहता है। जो नवतत्त्वों को स्वतंत्र नहीं मानता उसे मिथ्यादर्शनकी पर्याय होती है और जो नवतत्त्वोंको स्वतंत्र मानकर स्वोन्मुख होता है उसे सम्यग्दर्शनकी पर्याय प्रगट होती है।

अब चारित्रकी बात। कर्मके उदयके कारण आत्मामें कुछ नहीं होता। कर्मके कारण कोई प्रभाव अथवा विलक्षणता नहीं होती। चारित्रकी विकारी अथवा अविकारी पर्याय स्वतंत्र होती है। नव पदार्थोंको स्वतंत्र मानना चाहिये। शुद्धजीवकी प्रतीति होनेके पश्चात्

अंश किसी की अपेक्षा रखें तो तीन नहीं रहते। नव पदार्थोंमें किसी की अपेक्षा रखें तो नव नहीं रहते। छह द्रव्य परस्पर किसी की अपेक्षा रखें तो छह नहीं रहते। उत्पादसे व्यय मानें तो व्यय सिद्ध नहीं होता। व्यय न हो तो उत्पाद नहीं होता ऐसा सापेक्षतावाला कथन बादमें आता है। विकारी पर्याय हो या अविकारी—प्रत्येक पर्याय निरपेक्ष है।

× × ×

[फाल्गुन शुक्ला २ रविवार ता० १५-२-५३]

कुछ पूर्व कालीन पण्डित यथार्थ दृष्टि वाले थे। श्री बनारसी दासजी, पं० जयचन्द्रजी, पं० टोडरमलजी, दौलतरामजी, दीपचंदजी आदि यथार्थ थे। उनकी सच्ची दृष्टिका जो विरोध करता है वह व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि है। शुद्ध आत्मा सम्यग्दर्शन पर्यायका उत्पादक है। निमित्त, राग या पर्यायमें से सम्यग्दर्शन नहीं आता। और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र पर्याय है। नवीन पर्याय उत्पन्न होती है वह गुण नहीं है। गुणका उत्पाद नहीं होता। श्रद्धाकी विपरीत पर्याय का नाश होकर अविपरीत पर्यायका उत्पाद होता है, वह कहाँसे होता है? सम्यग्दर्शनपर्याय शुद्ध है वह कहाँ से आती है?—निमित्त, राग या पर्यायमें से नहीं आती, द्रव्य स्वभावमें से आती है।

अज्ञानी जीव धर्मके सब अंग अ यथा रूप होकर मिथ्याभावको प्राप्त होता है। यहाँ ऐसा जानना कि दया, दान, यात्रादिके भावसे पुण्य बंध होता है। पुण्यको छोड़कर पापप्रवृत्ति नहीं करना है। उस अपेक्षा से शुभका निषेध नहीं है, किंतु जो जीव आत्माकी दृष्टि नहीं करता और दया-दानादिमें धर्म मानता है वह मिथ्यादृष्टि है।

थलीमें चिरायता रखकर ऊपर मिसरी नाम लिखे तो चिरायता मिसरी नहीं हो जाता। उसीप्रकार अन्तरमें जैन धर्म प्रगट नहीं हुआ, और बाह्यमें जैन नाम धारण कर ले तो जैन नहीं होता। श्री कुन्दकुन्दाचार्य आदि समर्थ मुनिवरों ने यथार्थ प्रकाश किया है कि—जो व्यवहारसे सन्तुष्ट होता है और कषायमन्दतासे धर्म मानता है तथा 'मैं ज्ञायक हूँ पुण्य–पाप रहित हूँ"—ऐसी निश्चयदृष्टि नहीं करता और उद्यमी नहीं होता, वह व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि है।

नवतत्त्वोंमें चारित्र संवर–निर्जरामें आता है। अज्ञानी भक्ति, पूजामें सन्तोष मानता है। लाखों रुपये मन्दिरमें देने से भी धर्म नहीं होता। रुपयोंका आना–जाना तो जड़की क्रिया है और कषायकी मन्दता करे तो पुण्य है। पुण्य से रहित आत्माकी श्रद्धा करे तो धर्म है। अज्ञानी जीवने सत्यमार्गके सम्बन्धमें प्रयत्न नहीं किया है। आत्मा ज्ञानानन्द है, पुण्य मेरा स्वरूप नहीं है, पुण्यभाव अपराध है। ध्रुवस्वभाव निर्दोष है, जो उसकी रुचि नहीं करता वह व्यवहाराभासी है।

वर्तमानमें भगवान श्री सीमंधर स्वामी भी दिव्य वाणी द्वारा यही बात कहते हैं। अज्ञानी जीव सच्चे मोक्षमार्गमें उद्यमी नहीं है। आत्मा शुद्ध निर्विकल्प है ऐसी दृष्टि, ज्ञान और स्थिरता नहीं की है और व्यवहारमें धर्म मान लिया है वैसे जीवको मोक्षमार्ग सन्मुख करने के लिये उसकी शुभराग रूप मिथ्या प्रवृत्ति–जिसमें धर्म मानते हैं उसका निषेध करते हैं। आत्माका भान नहीं है और शुभसे धर्म मानकर सन्तुष्ट होता है इसलिये उसकी प्रवृत्ति मिथ्या है। निश्चयके भान बिना व्यवहार व्यवहार भी नहीं रहता। हमारा आशय ऐसा

नही है कि शुभ छोडकर अशुभ करो, अगर तुम ऐसा करोगे तो तुम्हारा बुरा होगा, किन्तु यथार्थ श्रद्धा करोगे तो कल्याण होगा। आत्माका त्रिकाली स्वभाव शुद्ध है ऐसी यथार्थ श्रद्धा करोगे तो तुम्हारा भला होगा। पुण्य छोडकर पापमें लगोगे तो भला नही होगा और पुण्य को धर्म मानोगे तो भी भला नही होगा। स्वभाव की दृष्टिमें धर्म है।

"आत्मभ्रान्ति सम रोग नहि, सद्गुरु वैद्य सुजान,
गुरु आज्ञा सम पथ्य नहिं, औषध विचार ध्यान।"

पुण्यसे और परसे कल्याण होगा यह महान भ्रांति है। शरीर का रोग पुण्यसे मिट जाता है किन्तु वह सच्चा रोग नही है। चिदानन्द आत्मामें विकार होता है, उस विकारसे कल्याण होगा ऐसी मान्यता वह महान रोग है वह क्षय-रोग है, इसलिये यथार्थ श्रद्धान करके मोक्षमार्गमें प्रवर्तन करोगे तो तुम्हारा भला होगा। यहां दृष्टान्त देते हैं कि—जिसप्रकार कोई रोगी निर्गुण औषधिका निषेध सुनकर, औषधिसाधन छोडकर यदि कुपथ्य सेवन करे तो वह मरता है। सच्चे वैद्यको छोडकर कुपथ्य सेवन करेगा तो मर जायेगा, उसमे वैद्यका दोष नही है। उसीप्रकार कोई ससारी जीव पुण्यरूप धर्मका निषेध सुनकर धर्म-साधन छोड देगा और विषय कषायमें प्रवर्तन करेगा तो नरकादि दु:खो को प्राप्त होगा। आत्मा में होनेवाली सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रदशा आत्माको लाभकारी है। पुण्य-परिणाम निर्गुण हैं मोक्षमार्गको लाभकर्ता नही हैं, बंधके कारण हैं, उनसे जन्म-मरणका अन्त नही आता। शुद्ध चिदानन्द की दृष्टिके बिना धर्म नही होता। पुण्यको निर्गुण औषधि कहा है।

पर्यायमें पुण्य होता है वह विपरीत परिणाम है, उससे आत्माको लाभ नही होता, क्योंकि पुण्यसे धर्मरूपी गुण नही होता।

पुण्यसे स्वर्ग प्राप्त करके सीमंधर भगवानके पास जायेंगे,—ऐसा मानने वाले की दृष्टि संयोग पर है, वहाँ जाकर भी वही बुद्धि रखने वाला है। शुद्ध चिदानन्द की दृष्टि नही की इसलिये समवशरण में जाने पर भी भगवानकी वाणीका रहस्य नहीं समझा। पुण्य छुड़ा कर पाप करानेका अभिप्राय नही है। अज्ञानी पुण्यसे धर्म मानता है इसलिये पुण्यका धर्मके कारणरूपसे निषेध किया है। कोई विपरीत समझे तो उसमें उपदेशकका दोष नही है। उपदेशकका अभिप्राय सच्ची श्रद्धा कराके असत् श्रद्धा, असत् ज्ञान और असत् आचरण छुड़ानेका है। सम्यग्दर्शनके बिना बाह्य–चारित्र अरण्यरोदनके समान है, उससे जन्म–मरणका नाश नही होगा। आत्मा ज्ञायक चिदानन्द है, पर्याय मे पुण्य–पापके परिणाम होते हैं वे व्यर्थ हैं—अनावश्यक है, उनसे रहित आत्माकी दृष्टि न करे तो धर्म नही होता। उपदेश देनेवाले का अभिप्राय असत्य श्रद्धा छुड़ाकर मोक्षमार्गमें लगाने का है। यात्रा और दया–दानादिके परिणाम छुड़ाकर व्यापारादि के पापभाव करानेका अभिप्राय नही है, किन्तु अज्ञानी जीव ऐसा मानता है कि दया–दान करते–करते धर्म होगा, उसकी असत्य श्रद्धा का निषेध कराते हैं।

आत्माके भान बिना व्यवहार सच्चा नहीं है। निश्चयस्वभाव आदरणीय है और व्यवहार जानने योग्य है, व्यवहार आदरणीय नही है। हमारा तो मोक्षमार्ग में लगाने का अभिप्राय है और ऐसे अभिप्राय से ही यहाँ निरूपण करते हैं।

पुनश्च, कोई जीव तो कुलक्रम द्वारा ही जनी है। अन्तर्जैन की खबर नही है और बाह्यमे जन नाम धारण कर रखे, तो कहीं जैन-कुल म ज म लेने से जैन नही हो जाना। उसे जैनदशन की खबर नही है कि तु वह अपने को कुलक्रम स जैनी हुआ मानता है, किन्तु वास्तव मे तो आत्मा ज्ञानान द है,—इसप्रकार पहिचान कर पर्याय मे होने वाले विकार को द्रव्यदष्टि द्वारा नाश करे वह जैन है। हमारे बापदादा जैन थे इसलिय हम भी जैन हैं—ऐसा कोई कहे तो वह सच्चा जैनी नही है। अ तद् ष्टि से ही जैनी हुआ जाता है।

× × ×

[फाल्गुन शुक्ला ३ सोमवार वा० १६-२-५१]

कुलक्रम से धर्म नहीं होता

दिगम्बर जैन होने पर भी व्यवहाराभास को माननेवाले जीव एका मिथ्यादष्टि हैं। यहाँ कोई जीव तो कुलक्रम द्वारा ही जैन हैं, कि तु जैनधमका स्वरूप नही जानते। वे ऐसा मानत हैं कि हम तो कुल परम्परासे जैन हैं। जिसप्रकार यमती वेदा ती, मुसलमान आदि कुलक्रमस वतत हैं उसीप्रकार यह भी वतते हैं। यदि कुल परम्परास घम हो तो मुसलमान आदि सभी धर्मात्मा सिद्ध होते हैं तब फिर जैनधमकी विशिष्टता क्या ? कहा ह कि —

> लोयम्मि रायणीई णाय ण कुलकम्म कइयावि।
> किं पुण तिलोयपहुणो जिणदधम्माहिगारम्मि॥

लोकमे ऐसी राजनीति ह कि कुलक्रम द्वारा कभी भी याय नही होता। जिसका कुल चोर ह उसे चोरीके मामलेमें पकटते हैं, तो वहाँ कुलक्रम जानकर छोड नही देत कि तु दण्ड ही देते हैं। तो

फिर सर्वज्ञ भगवानके धर्म–अधिकारमें क्या कुलक्रमानुसार न्याय सम्भव है ? जैन कुलमें जन्म लेकर जो जैनधर्मकी परीक्षा नहीं करता वह व्यवहाराभासी है। जैनधर्मकी परीक्षा करना चाहिये। पिता निर्धन हो और स्वयं धनवान हो जाये तो पिता निर्धन था इसलिये धन को छोड़ नहीं देता। जब व्यवहार में कुल का प्रयोजन नहीं है, तो फिर धर्म में कुलका प्रयोजन कैसा ? पिता नरक में जाता है और पुत्र मोक्ष में, तो कुल की परम्परा किस प्रकार रही ? कुलक्रम की परम्परा हो तो पिताके पीछे पुत्रको भी नरक में जाना पड़ेगा, किंतु ऐसा नहीं होता, इसलिये धर्म में कुलक्रम की आवश्यकता नहीं है।

अष्टसहस्री में कहा है कि जीवको परीक्षाप्रधानी होना चाहिये। अकेले आज्ञाप्रधानीपने द्वारा नहीं चल सकता। अनेक लोग कहते हैं कि निमित्त से धर्म होता है, व्यवहार से धर्म होता है, इसलिये हम मानते हैं, किंतु ऐसा नहीं चल सकता, परीक्षा करना चाहिये।

पुनश्च, जो शास्त्रोंके अन्य–विपरीत अर्थ लिखते हैं वे पापी हैं। दिगम्बर शास्त्रके नामसे देवीकी पूजा करना, क्षत्रपाल की पूजा करना वह विपरीत प्रवृत्ति है। पापी पुरुषों ने कुदेव की प्ररूपणा की है। जिसे आत्माका भान नहीं है और उद्देशिक आहार लेता है मुनिके लिये ही पानी गर्म करना, केला, मोसम्बी आदि लाना वह न्याय नहीं है। आहार देने और लेने वाले दोनों की भूल है। ऐसा उद्देशिक आहार लेने पर भी जो मुनिपना मानता है वह मिथ्यादृष्टि है। अज्ञानियों ने ऐसी प्रवृत्ति चलाई है। निर्ग्रंथ मुनि को सहज नग्नदशा होती है, वे निर्दोष आहार लेते हैं। प्राण चले जायें किंतु दोषयुक्त आहार न लें–ऐसी मुनि की रीति है, तथापि मुनिका स्वरूप

न समझें और उद्देशिक आहार लें वे सच्चे गुरु नहीं हैं। इसप्रकार विषय-कषाय पोषणादिरूप विपरीत प्रवृत्ति चलाई हो उसे छोड़ देना चाहिये। दिगम्बर जैनधर्म में जन्म लेने पर भी कुदेव, कुगुरु की मान्यता चलाई हो तो उसे छोड़ देना चाहिये। व्यवहार से धर्म मनाया हो तो वह कुधर्म है, वह मान्यता छोड़कर जिनआज्ञानुसार प्रवर्तना योग्य है।

प्रश्न—हमारी दिगम्बर-परम्परा इसीप्रकार चलती हो तो क्या करें? पाँचवें अधिकार में श्वेताम्बर और स्थानकवासी की बात आ चुकी है, यहाँ तो दिगम्बर सम्प्रदाय की बात करते हैं। हमें कुल-परम्परा छोड़कर नवीन मार्ग में प्रवर्तना योग्य नहीं है।

समाधान—अपनी बुद्धिसे नवीन मार्ग में प्रवर्तन करे तो वह योग्य नहीं है, किन्तु जो यथार्थ वस्तुस्वरूपका निरूपण करे वह नवीन मार्ग नहीं है। स्वभावसे धर्म है और रागसे धर्म नहीं है—ऐसा समझना चाहिये।

"रघुकुल रीति सदा चलि आई प्राण जाहिं पर वचन न जाई" ऐसा अन्यमत में कहते हैं। इसीप्रकार 'जैनधर्म रीति सदा चलि आई, प्राण जाहिं पर धर्म न जाई।"—ऐसा समझना चाहिये। श्री कुन्दकुन्दादि आचार्यों ने जैनधर्मका जैसा स्वरूप कहा है वह यथार्थ है।

केवली भगवान को रोग, उपसर्ग, क्षुधा, कवलाहारादि मानें, क्रमिक उपयोग मानें, वस्त्र सहित मुनिपना अथवा स्त्री को केवलज्ञान मानें वह योग्य नहीं है। जैसा शास्त्रमें लिखा है उसे छोड़कर कोई पापी पुरुष कुछ दूसरा ही कहे तो वह योग्य नहीं है। सर्वज्ञकी वाणी अनुसार पुष्पदन्त, भूतबलि आदि आचार्योंने षट्खण्डागम को

रचना की है, उसमें फेरफार करना योग्य नहीं है। लिखनेमें लेखक की कोई भूल रह गई हो तो सुधारी जा सकती है, किन्तु प्रयोजन भूत बात में आचार्यों की कोई भूल नहीं है। द्रव्य-स्त्री को कभी छट्ठा गुणस्थान नहीं आता, तथापि उससे विरुद्ध कहे और फेरफार करे वह पापी है।

द्रव्य संग्रह में मार्गणा की बात आती है, वह जीव की भाव मार्गणा है, द्रव्यमार्गणा की बात नहीं है। जीव किस गति आदि में है उस खोजने की भावमार्गणा की बात है, तथापि उससे विरुद्ध मानना मिथ्याप्रवृत्ति है। पुरातन जैन शास्त्र, धवल, महाधवल, समय सारादि के अनुसार प्रवर्तन करना योग्य है। वह नवीन मार्ग नहीं है। परम्परा सत्य का बराबर निर्णय करना चाहिये।

कुल परम्परा की बात चली आ रही है इसलिये नहीं, किन्तु सर्वज्ञ कहते हैं और तदनुसार सत्य है इसलिये अंगीकार करना चाहिये। कुल का आग्रह नहीं रखना चाहिये। जिनआज्ञा कुल परम्परा विरुद्ध हो तो कुलपरम्परा को छोड़ देना चाहिये। जो कुल के भय से करता है उसके धर्मबुद्धि नहीं है। लग्नादि में कुलक्रम का विचार करना चाहिये किन्तु धर्म में कुल परम्परानुसार चलना योग्य नहीं है। धर्म की परीक्षा करनी चाहिये। घरके बड़े बूढ़े कहते हैं इसलिये धर्म का पालन करना चाहिये, यह ठीक नहीं है। मिट्टी का बर्तन लेने जाता है वह भी ठोक बजाकर लेता है, उसीप्रकार धर्म की परीक्षा करनी चाहिये।

मात्र आज्ञानुसारी सच्चे जैन नहीं हैं

जो कुलक्रमानुसार चलता है वह व्यवहाराभासी है। यह बात कही जा चुकी है। अब दूसरी बात कहते हैं—कोई आज्ञानुसारी जैन,

हैं। वे शास्त्रमें जैसी आज्ञा है वैसा ही मानते हैं, किन्तु स्वयं आज्ञा की परीक्षा नहीं करते। सब मतानुयायी अपने-अपने धर्म की आज्ञा मानते हैं, तो सबको धर्म मानना चाहिये, किन्तु ऐसा नहीं है। निर्णय करके ही धर्म को मानना चाहिये। भगवान के कथन मात्रसे नहीं, किन्तु वीतरागी विज्ञान की परीक्षा करके जिनआज्ञा मानना योग्य है। परीक्षा के बिना सत्य-असत्य का निर्णय कैसे हो सकता है? निर्णयके बिना शास्त्र को माने तो अन्यमती की भाँति आज्ञा का पालन किया। धर्म क्या है, वह सब निर्णयपूर्वक मानना चाहिये। *मात्र दिगम्बर का पक्ष लेकर नहीं मानना चाहिये।* ऐसा निर्णय करना चाहिये कि शुभाशुभ रागादि विकार हैं धर्म नहीं हैं और ध्रुव स्वभाव विकार रहित है उससे धर्म होता है। निर्णय किये बिना जिसप्रकार अन्यमती अपने शास्त्र की आज्ञा मानते हैं, उसीप्रकार यह भी जैन शास्त्रों की आज्ञा माने तो वह पक्ष द्वारा ही आज्ञा मानने जैसा है।

प्रश्न—शास्त्रमें सम्यक्त्वके दस प्रकारों में आज्ञा-सम्यक्त्व कहा है। भगवान ने जो स्वरूप कहा है उसमें शङ्का नहीं करना चाहिये, तथा आज्ञा विचयको धर्मध्यान भेद कहा है और निःशंकित अंगमें जिनवचनमें संशय करने का निषेध किया है—वह किस प्रकार?

उत्तर—*शास्त्रके किसी कथनकी प्रत्यक्ष-अनुमानादि द्वारा* परीक्षा की जा सकती है और कोई बात ऐसी है कि जो प्रत्यक्ष-अनुमानादि गोचर नहीं है। अज्ञानी कहते हैं कि पानी अग्निसे प्रत्यक्ष उष्ण होता है, किन्तु वह भूल है। पानी के स्पर्श गुणकी उष्णतारूप अवस्था होती है वह प्रत्यक्ष है, उसे अज्ञानी नहीं देखता। पानी के

परमाणुओं में प्रतिसमय उत्पाद-व्यय-ध्रुव होता रहता है। स्व-शक्ति के कारण शीत अवस्था का व्यय होकर उष्ण अवस्था का उत्पाद होता है और स्पर्श-गुण ध्रुव रहता है। अग्नि और पानीमें प्रयोजन अभाव है। अग्निके कारण पानी उष्ण नहीं होता वह प्रत्यक्ष है।—ऐसा निर्णय करना चाहिये, किन्तु पर्यायमें अविभाग प्रतिच्छेद आदि की समझ न पड़े तो वह आभास मानना चाहिये, किन्तु जो पदार्थ समझमें आये उसकी तो परीक्षा करना चाहिये।

जिस शास्त्रमें प्रयोजनभूत बात सच्ची हो उसकी अप्रयोजनभूत बात भी सच्ची समझना चाहिये और जिस शास्त्रमें प्रयोजनभूत बात में भूल हो उसकी सारी बात अप्रमाण मानना चाहिये।

प्रश्न—परीक्षा करते समय कोई कथन किसी शास्त्रमें प्रमाण भासित हो, तथा कोई कथन किसी शास्त्रमें अप्रमाण भासित हो तो क्या किया जाये?

उत्तर—सर्वज्ञकी वाणी अनुसार शास्त्रमें कुछ भी विरुद्ध नहीं है, क्योंकि जिसमें पूर्ण ज्ञातृत्व ही न हो अथवा राग द्वेष हो वही असत्य कहेगा। वीतराग सर्वज्ञ में ऐसा दोष नहीं हो सकता। तूने अच्छी तरह परीक्षा नहीं की है इसीलिये तुझे भ्रम है।

प्रश्न—छद्मस्थसे अन्यथा परीक्षा हो जाय तो क्या करना चाहिये?

उत्तर—सत्य-असत्य दोनों वस्तुओंको मिलाकर परीक्षा करना चाहिये। सुवर्ण, वस्त्रादि लेते समय परीक्षा करता है, उसीप्रकार शास्त्रकी आज्ञाका मिलान करना चाहिये, सत्य-असत्यको मिलाकर प्रमाद छोड़कर परीक्षा करना चाहिये। ऐसा नहीं है कि जिस सम्प्रदायमें जन्म लिया उसीकी बात सच्ची हो। जहाँ पक्षपातके कारण अच्छी तरह परीक्षा नहीं की जाती वहीं अन्यथा परीक्षा होती है।

प्रश्न —शास्त्रमें परस्पर विरुद्ध कथन तो अनेक हैं, फिर किस किसकी परीक्षा करें ?

उत्तर —मोक्षमार्गमे देव–गुरु–धर्म, निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध, जीवादि नव तत्त्व तथा बंध–मोक्षमार्ग प्रयोजनभूत है, इसलिये उसकी परीक्षा तो अवश्य करना चाहिये और जिन शास्त्रों मे उनका सत्य कथन हो उनकी आज्ञा मानना चाहिये, तथा जिनमें उनकी अन्यथा प्ररूपणा हो उनकी आज्ञा नही मानना चाहिये। मोक्षमार्गमें देवकी परीक्षा करना चाहिये। सर्वज्ञको ज्ञान–दर्शन दोनों उपयोगोंका पूर्ण परिणमन एक ही समयमे है। कोई क्रमपूर्वक उपयोग माने और केवलीको आहार माने वह सर्वज्ञको नही समझता। आत्माके भान पूर्वक जो अन्तरमे लीनता करे और बाह्य से २८ मूल गुणोंका पालन करे, तथा जिसके शरीरकी नग्नदशा हो वह मुनि है। इसप्रकार मुनिका स्वरूप समझना चाहिये। धर्म की परीक्षा करना चाहिये। भूतार्थ स्वभावके आश्रयसे ही धर्म होता है, उचित निमित्त–व्यवहार होता है किन्तु व्यवहारसे धर्म नहीं होता—ऐसा समझना चाहिये। मोक्षमार्गमें देव–गुरु–धर्मकी परीक्षा करना चाहिये वह मूलधन है। कोई जीव ब्याज दे किन्तु मूलधन न दे, तो वह मूलधनको उडाता है, उसीप्रकार यहाँ यह मूलधन है। दिगम्बर सम्प्रदायमे जन्म लेने मात्रसे काम नही चल सकता, परीक्षा करना चाहिये। जो व्यवहारसे और बाह्य लक्षणसे देव–गुरु–शास्त्रकी परीक्षा नही करता, उसका गृहीत मिथ्यात्व दूर नही हुआ है—ऐसा श्री भागचन्द्रजी "सत्ता स्वरूप" मे कहते हैं। देव, गुरु और धर्मका स्वरूप जानना चाहिये।

× × ×

[फाल्गुन शुक्ला ४ मंगलवार ता० १७-२-५३]

तत्त्वकी परीक्षा करना चाहिये। जीव द्रव्यलिंगधारी मुनि और श्रावक अनंतबार हुआ, किन्तु आत्मज्ञानके बिना सुख प्राप्त नहीं हुआ।

प्रश्न —कुन्दकुन्दाचार्य तो ज्ञानी थे, फिर भी विदेहमें क्यों गये थे ?

उत्तर —कुन्दकुन्दाचार्य ने प्रथम तत्त्वकी परीक्षा तो की थी और उन्हें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र था। तत्त्वके किसी सूक्ष्म पक्षका निर्णय करने के लिये अथवा दृढताके लिये ऐसा विकल्प आया था। सूक्ष्म बात की विशेष निर्मलताके लिये गये थे। उन्हें सम्यग्दर्शन तो था ही, प्रयोजनभूत मूलभूत तत्त्वकी परीक्षा पहले से की थी।

यहां कहते हैं कि—देव-गुरुकी परीक्षा करना चाहिये। श्वेताम्बर कहते हैं कि देवको क्षुधा-तृषा लगती है, किन्तु देवका वैसा स्वरूप नहीं है, परीक्षा करना चाहिये। परीक्षा किये बिना माने तो मिथ्यादृष्टि है। गुरुकी परीक्षा करना चाहिये। अपने-अपने देव-गुरु सच्चे हैं—ऐसा सभी सम्प्रदायवाले कहते हैं, किन्तु ऐसा नहीं चल सकता, परीक्षा करना चाहिये।

जिस शास्त्रमें प्रयोजनभूत बात सत्य हो, उसकी सब आज्ञा मानना चाहिये। जिसमें देव-गुरु-शास्त्र, नवतत्त्व, बंध-मोक्षमार्ग की विपरीत बात लिखी हो उनकी आज्ञा नहीं मानना चाहिये। इसलिये मात्र कुल रूढिसे मानना योग्य नहीं है। पुनश्च, जिसप्रकार लोकमें जो पुरुष प्रयोजनभूत कार्योंमें झूठ नहीं बोलता वह प्रयोजन रहित कार्योंमें कैसे झूठ बोलेगा ? उसीप्रकार शास्त्रों में प्रयोजनभूत देवादिक का स्वरूप, नवतत्त्वोंका स्वरूप यथार्थ कहा है, सो फिर समुद्र पर्वत आदि अप्रयोजनभूत बात असत्य कैसे कहेंगे ? और प्रयो-

प्रयोजनभूत बात सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि तथा बन्ध-मोक्ष और उसके कारणों की अवश्य परीक्षा करना चाहिये।—इसप्रकार परीक्षा करके आज्ञा माने तो आज्ञासम्यक्त्वी होता है।

कुछ लोग कहते हैं कि दिगम्बर सम्प्रदाय में जन्म लिया इसलिये श्रावक हुए, किन्तु वह बात मिथ्या है। पहले परीक्षा करके आज्ञा माने तो सम्यक्त्व होता है और फिर श्रावक तथा मुनिदशा प्रगट होती है। कुन्दकुन्दाचार्यादि मुनि और टोडरमलजी आदि ऐसा कहते हैं कि परीक्षा करो और फिर मानो। सच्चेदेव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा निश्चय सम्यक्त्व नहीं है, किन्तु आत्मा का भान करे तो उस श्रद्धा को व्यवहारश्रद्धा कहते हैं इसलिये परीक्षा करके आज्ञा मानते ही सम्यक्त्व अथवा धर्मध्यान होता है। लोक में भी किसी प्रकार परीक्षा करके पुरुष की प्रतीति करते हैं। धन में परीक्षा न करे तो स्वयं ठगा जाता है। और तूने कहा कि जिनवचन में संशय करने से सम्यक्त्व में शंका नामका दोष आता है किन्तु 'न जाने यह कैसा होगा ?"—ऐसा मानकर कोई निर्णय ही न करे तो वहाँ शंका नामका दोष होता है। निर्णय के लिये विचार करते ही सम्यक्त्वमें दोष लगे तो अष्टसहस्रीमें आज्ञाप्रधानी की अपेक्षा परीक्षाप्रधानी को क्यों अच्छा कहा ? निर्णय करे तो शंका दोष लगता है।

पुनश्च, पृच्छना स्वाध्याय का अंग है। मुनि भी प्रश्न पूछते हैं। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र किसे कहते हैं, आदि प्रश्न पूछना वह स्वाध्याय का अंग है। और प्रमाण-नय द्वारा पदार्थों का निर्णय करने का उपदेश दिया है। निश्चय और व्यवहारनय से तथा प्रमाण से और चार निक्षेपों से निर्णय करना चाहिये। यदि आज्ञा से धर्म

होता हो तो परीक्षा करने को किसलिये कहा ? इसलिये परीक्षा करके प्राणा मानना योग्य है।

तीर्थंकर और गणधर के नाम से लिखे हुए कल्पित शास्त्रों की परीक्षा करके श्रद्धा छोड़ना चाहिये।

और कोई पापी पुरुष आचार्य का नाम रखकर कल्पित बात करे तथा उसे जिनवचन कहे तो उसे प्रमाण नहीं करना चाहिये। कोई जीव पुण्य से धर्म मनाये, निमित्त से कार्य का होना मनाये तथा वस शास्त्रों को जनमत का शास्त्र कहे तो वहाँ परीक्षा करना चाहिये, परस्पर विधि का मिलान करना चाहिये। आजकल भगवान और आचार्य के नाम से मिथ्या शास्त्र लिखे गये हैं, इसलिये परीक्षा करना चाहिये। किसी के कहने से नहीं किन्तु परीक्षासे मानना चाहिये। परस्पर शास्त्रों से विधि मिलाकर इसप्रकार सम्भवित है या नहीं ?—ऐसा विचार करके विरुद्ध ग्रंथ को मिथ्या समझना। जैसे कोई ठग अपने पत्र में किसी साहूकार के नाम की हुण्डी लिख दे, और नामके भ्रम से कोई अपना धन दे दे, तो वह दरिद्र हो जायेगा, उसीप्रकार भगवान या आचार्य के नाम से अपना मत चलाने के लिये शास्त्रों से विरुद्ध लिखे तो वह पापी है। व्यवहार से धर्म मनाये, प्रतिमा को शृंगार वाला कहे वह पापी है। मिथ्यादृष्टि जीवों ने शास्त्र बनाये हो तथा शास्त्रकर्ता का नाम जिन, गणधर अथवा आचार्य का रक्खा हो, और नामके भ्रम से कोई मिथ्या श्रद्धान कर ले तो वह मिथ्यादृष्टि ही होगा।

शुभराग से संसार परित (लघु–मर्यादित) नहीं होता

श्वेताम्बर के ज्ञातासूत्र में कहा है कि मेघकुमार के जीव ने

हाथी के भव म खरगोश की दया पाली इससे उसका ससार परित हुआ, कि तु दयाभाव तो शुभपरिणाम है उससे ससार परित नहीं होता, इसलिये वह बात मिथ्या है। आत्मभान के बिना सब व्यथ है। शुभराग से पुण्य है धम नही है। शुभ मे धम मनाये और वीतराग का नाम लिखे और उस नाम से कोई ठगा जाये तो वह मिथ्यादृष्टि होगा। सवज्ञ को उपसर्ग क्षुधा, तृषा और शरीर मे रोग नहीं होता, निहार नही होता। तीथकर को जन्म से ही निहार नही होता और केवलज्ञान के पश्चात् आहार निहार दोनो नही होते—ऐसा जानना चाहिये। आत्मभान वाले नग्न दिगम्बर निग्रथ गुरु ही सच्चे गुरु हैं।

प्रश्न—गोम्मटसार मे ऐसा कहा है कि—सम्यग्दृष्टि जीव अज्ञानी गुरुके निमित्तसे मिथ्या श्रद्धान करे, तथापि वह आज्ञा मानने से सम्यग्दृष्टि ही होता है।—यह कथन कैसे किया है?

उत्तर—जो प्रत्यक्ष-अनुमानादि गोचर नही है तथा सूक्ष्मपने से जिसका निणय नही हो सकता उसकी बात है, किन्तु देव, गुरु, शास्त्र तथा जीवादि तत्त्वका निणय हो सकता है। मूलभूत बातमें ज्ञानी पुरुषोंके कथनमे फेर नही होता। जिसकी मूलभूत बातम फेर हो वह ज्ञानी नही है।

जडसे आत्माको लाभ होता है, आत्मासे शरीर चलता है,—ऐसा माननवाले को सात तत्त्वोंकी खबर नही है। जडकी पर्याय जड से होती है, तथापि आत्मासे होती है—ऐसा मानना मूलभूत भूल है। पुण्य-आस्रवसे धम होता है, निमित्तसे उपादानमें विलक्षणता होती है—ऐसा माननेवाले की मूलभूत तत्त्वमें भूल है। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निजरा, मोक्ष आदि सात तत्त्व स्वतत्र

हैं, तथापि कमसे विकार माने, जड़की पर्यायका जीवसे होना माने, अग्निसे पानी गर्म होता है ऐसा माने तो सात तत्त्व नहीं रहते। अजीव में अन्न व पुद्गल स्वतंत्र हैं, ऐसा न माने तो अजीव स्वतंत्र नहीं रहता। मूलभूतमें भूल करे तो सम्यग्दर्शन सर्वथा नहीं रहता—ऐसा निश्चय करना चाहिये। परीक्षा किये बिना मात्र आज्ञा द्वारा ही जो जैनी है उसे भी मिथ्यादृष्टि समझना, इसलिये परीक्षा करके वीतरागकी आज्ञा मानना चाहिये।

× × ×

[फाल्गुन शुक्ला ५ बुधवार ता० १८-२-५१]

पुनश्च, कोई परीक्षा करके जैनी होता है, किन्तु देव-गुरु-शास्त्र किन्हें कहा जाये? नव तत्त्व किन्हें कहना चाहिये?—ऐसी मूल बात की परीक्षा नहीं करता। मात्र दया पालन करे, शील पाले, तो वह मूलधर्म नहीं है। दया का भाव तो कषायमन्दता है, शील अर्थात् ब्रह्मचर्य पालन करता है, किन्तु वह मूल परीक्षा नहीं है। ऐसी दया और शीलका पालन तो अन्यमती भी करते हैं। तपादि द्वारा परीक्षा करे तो वह मूल परीक्षा नहीं है। हमारे भगवान ने तप किया था और संयम पाला था—वह मूल परीक्षा नहीं है। भगवानकी पूजा स्तवन करता है इसलिये धर्मात्मा है यह भी परीक्षा नहीं है। विशाल जिनमन्दिर बनवाये, प्रभावना करे, पंचकल्याणक रचाये वह भी धर्म की परीक्षा नहीं है, वह तो पुण्य परिणामोंकी बात है। ऐसी बातें तो जैनके अतिरिक्त अन्य मतोंमें भी हैं। पुनश्च, अतिशय चमत्कारसे भी धर्मकी परीक्षा नहीं है। व्यंतर भी चमत्कार करते हैं। हमारे भगवान पुत्र प्रदान करते हैं और चमत्कार बतलाते हैं

वह परीक्षा नही है। जन धमका पालन करेंगे तो स्वगकी प्राप्ति होगी, धन मिलेगा ऐसा मानकर जनधम की परीक्षा करे तो वह मिथ्यादृष्टि है। इन कारणो से जैनमत को उत्तम जानकर कोई प्रीतिवान होता है, किन्तु ऐसे कार्य तो अन्य मतमें भी होते हैं। अन्य मतमें भी सयम, तप, इन्द्रियदमन, ब्रह्मचय पालन करते हैं, इसलिये वह सच्ची परीक्षा नही है, उसमे अतिव्याप्ति दोष आता है, इसलिये वह धमकी परीक्षा नही है। आत्मा आनानन्द स्वभावी है, पर्याय म विकार होता है, विकार मे परवस्तु निमित्त है, विकार रहित आत्मा शुद्ध है,—ऐसा भान होना वह जनधम है।

पर जीवों की दया पालन करना आदि जैनधर्म का सच्चा लक्षण नहीं है।

प्रश्न —जनमत मे जैसी प्रभावना, सयम, तप आदि होते हैं वैसे अन्य मतमें नही होते, इसलिये वहाँ अतिव्याप्ति दोष नही है।

समाधान —यह तो सच है, किन्तु तुम पर जीव की दया पालन करने को जैनधम कहते हो उसी प्रकार दूसरे भी कहते हैं। वास्तवमें तो आत्मा पर की दया पाल ही नही सकता—ऐसा समझना चाहिये। आत्मा पर जीव की रक्षा कर सकता है ऐसा माननेवाला जैन नहीं है। वीतराग स्वभावकी प्रतीति पूवक पर्यायमें राग की उत्पत्ति न हो उसे दया कहते हैं। यहाँ परीक्षा करने को कहते हैं। पर जीव उसकी अपनी आयु के कारण जीता है और आयु पूण होने पर मृत्यु होती है, तथापि अज्ञानी जीव मानता है कि मैं पर को बचा या मार सकता हूँ। आत्मा शुद्ध चिदानन्द है, वह पर का कुछ नही कर

सकता। आत्माके भान पूर्वक अराग परिणामोंका होना वह निश्चय-दया है, और शुभ भाव व्यवहार-दया है। अशुभ या शुभ भाव निश्चयसे हिंसा ही है। शरीर से ब्रह्मचर्य का पालन करना वह सच्चा ब्रह्मचर्य नहीं है, ऐसा ब्रह्मचर्य तो अन्य मतावलम्बी भी पालते हैं। आत्मा शुद्ध आनन्द कंद है। उसकी दृष्टि रखकर उसमें लीनता करना सो ब्रह्मचर्य है। और आहार न लेने को अज्ञानी तप कहते हैं, वह सच्चा तप नहीं है। अन्य मतावलम्बी भी आहार नहीं लेते। इच्छाका निरोध होना सो तप है। स्वभाव के भान पूर्वक इच्छा का रुक जाना और ज्ञानानंद का प्रतपन होना वह तप है। और अज्ञानी इंद्रिय-दमन को संयम कहता है वह सच्चा संयम नहीं है। देह, मन, वाणी का आलंबन छोड़कर आत्मा में एकाग्र होना सो संयम है।

अपने राग रहित स्वभाव को पूज्य मानना वह पूजा है, और अन्तरमें जो प्रभावना हुई वह प्रभावना है। लोग व्यवहारसे प्रभावना मानते हैं, किन्तु वह वास्तव में धर्म नहीं है। आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है, शुभाशुभ राग होता है वह मलिनता है, उससे रहित आत्मा का भान होना वह धर्म है। लोग बाह्य में चमत्कार मानते हैं। अन्य मत वाले भी चमत्कार करते हैं, किन्तु आत्मा चैतन्य चमत्कार है, उसमें एकाग्र होने से शांति प्राप्त होती है, वह सच्चा चमत्कार है। बाह्य देव चमत्कार करते हैं ऐसा मानने वाला जैन नहीं है। लक्ष्मी आदि की प्राप्ति वह इष्ट की प्राप्ति नहीं है। शुद्ध चिदानंद स्वभाव इष्ट है, पुण्य-पाप अनिष्ट है। पुण्य-पाप रहित अंतर्लीनता का होना इष्ट है।

लोग बाह्य से जैनपना मानते हैं वह भूल है। दया, शील,

संयम प्रभावना, चमत्कार—सब व्यवहार है, उससे जैनधर्म की परीक्षा नहीं है। आत्मा के भान पूर्वक परीक्षा करना चाहिये। और वे कहते हैं कि अन्य मत में यह बराबर नहीं है, वहाँ किसी समय दया की प्ररूपणा करते हैं और किसी समय हिंसा की। तो उनसे कहते हैं कि अन्य मत में पूजा, प्रभावना, दया, संयम हैं, इसलिये इन लक्षणों में अतिव्याप्तिपना होता है, उससे सच्ची परीक्षा नहीं हो सकती। राग से भिन्न आत्मा है—इस प्रकार आत्मा की परीक्षा करनी चाहिये। वह कैसे होती है?

दया, दान, तप से सम्यक्त्व नहीं होता।

दया, दान, शील, तप से सम्यक्त्व होना है ऐसा नहीं कहा है। तत्त्वार्थ श्रद्धान करे तो सम्यग्दर्शन होता है। उसके बिना सभी तप बाल-तप है। सच्चे देव-गुरु-शास्त्र और जीवादि का यथार्थ श्रद्धान करने से सम्यग्दर्शन होता है। और उन्हें यथार्थ जाननेसे सम्यग्ज्ञान होता है।

शरीर निरोगी हो तो धर्म होता है ऐसा मानने वाला मूढ़ है, वह जड़ से धर्म मानता है, उसे सात तत्वोंकी श्रद्धा नहीं है। शरीर में बुखार हो तो सामायिक कहाँ से हो सकती है?—ऐसा अज्ञानी पूछता है। जड़ की पर्याय से धर्म होता है?—नहीं। शरीर की चाहे जैसी अवस्था में भी मैं शरीरसे पृथक् हूँ—ऐसा भान हो उसे सामायिक होती है। सुकौशल मुनि तथा सुकुमाल मुनि को व्याघ्री आदि खाते हैं तथापि अंतर में सामायिक वर्तती है। शरीर की अवस्था जड़ की है वह आत्मा की अवस्था नहीं है। आत्मा शरीरका स्पर्श नहीं करता। जीव-अजीव दोनों भिन्न हैं—ऐसा सम्यग्दृष्टि चौथे गुणस्थानवाला

मानता है, तभी से धर्म का प्रारम्भ होता है। शरीर के टुकड़े होते हैं इसलिये दुःख नहीं है। शरीर को कोई काट नहीं सकता। अनंत परमाणु पृथक्-पृथक् हैं। मुनि के शरीर का एक-एक परमाणु व्याघ्रों के शरीर से प्रभावरूप है।—इसप्रकार सात तत्त्व पृथक् पृथक् हैं—ऐसी जिन्हें खबर नहीं है उसके निश्चय और व्यवहार दोनों मिथ्या हैं। धर्मी जीव पर के कारण दुःख नहीं मानता, अपने कारण निर्बलता से द्वेष होता है। आस्रव स्वतंत्र और ज्ञायक स्वभाव स्वतंत्र है–ऐसा भिन्न है–जाने तो धर्म हो।

अज्ञानी को आत्मा का भान नहीं है इसलिये उसे कषाय की मन्दता होने पर भी वास्तव में रागादि कम नहीं होते। जो राग से धर्म मानता है उसकी दृष्टि पुण्य पर है इसलिये राग कम नहीं होता। आत्मा शुद्ध चिदानन्द है,–ऐसी दृष्टि जिसके हुई है उसके जो राग दूर होता है वह सम्यक्चारित्र है। राग से धर्म मनाये वह आत्मा को नहीं मानता। आत्मा एक समय में परिपूर्ण परमात्मा है–ऐसी जिसकी दृष्टि नहीं है उसने आत्मा को नहीं जाना है। उसने राग को माना है, कर्म को माना है, वह अन्यमती है। और कोई कहता है कि जैनधर्म कर्म प्रधान है, किन्तु वह बात मिथ्या है। आत्मा एक समय में पूर्ण शक्ति का भण्डार है,–ऐसे आत्मा को माने वह जैन है। यही वीतरागी शास्त्रों का मर्म है।

पुनश्च, कोई अपने बाप दादा के कारण जैनधर्म धारण करता है, किसी महान पुरुष को जैनधर्म में प्रवर्तित देखकर स्वयं भी विचार पूर्वक उसका रहस्य जाने बिना देखादेखी उसमें प्रवर्तित होता है तो वह सच्चा जैन नहीं है। वह देखादेखी जैनधर्म की शुद्ध-अशुद्ध

क्रियाओं में वर्तता है, कषाय मंदता करता है, भक्ति आदि के परिणाम करता है। यहाँ शुद्ध-अशुद्ध का अर्थ शुभ-अशुभ समझना। दयादानादि परिणाम देखा-देखी करता है। उसने पाँच हजार रुपये दिये इसलिए हमें भी पाँच हजार देना चाहिये,—इसप्रकार देखादेखी से दान करता है। वह बिना परीक्षा के करता है, उसे धर्म नहीं होता। जैनधर्म बाहुबलि की प्रतिमा में या सम्मेदशिखर में नहीं है, तथा शुभ-अशुभ भाव में भी जैनधर्म नहीं है। अपने आश्रय से प्रगट होनेवाली शुद्ध पर्याय में जैनधर्म है। हाँ, इतना सच है कि जैनमत में गृहीत मिथ्यात्वादि की पापप्रवृत्ति विशेष नहीं हो सकती, पुण्यके निमित्त अनेक हैं और सच्चे मोक्षमार्ग के कारण भी वहाँ बने रहते हैं, इसलिये जो कुलादिकसे जैनी है और व्यवहारसे कषायमंदता है, वे हैं दूसरों की अपेक्षा भला कहा है, किन्तु आत्मा का भान न होने के कारण वे भी जीवन हार जायेंगे।

× × ×

[फाल्गुन शुक्ला ६, गुरुवार ता० १६-२-५१]

पुनश्च कोई संगति के कारण जैनधर्म धारण करता है, किन्तु वह विचार नहीं करता कि जैनधर्म क्या है। मात्र देखादेखी शुद्ध-अशुद्ध क्रियारूप वर्तता है। आत्मभान बिना मात्र देखादेखी प्रतिमा धारण करे या मुनिपना ले तो वह मिथ्यादृष्टि है। कोई एक महीने के उपवास करे, और स्वयं भी उसकी देखा देखी उपवास करने लगे तो उसमें धर्म नहीं है। हाँ, इतना अवश्य है कि सर्वज्ञ के पंथ में जिसे सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की पहिचान है उसके पाप प्रवृत्ति अल्प होती है। सत्श्रवण, यात्रा, भक्ति, पूजादि शुभ परिणाम के निमित्त होते हैं वे आत्मा के सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के निमित्त बन जाते

हैं। सच्चे देव गुरु-शास्त्र को मानने वाले इस अपेक्षा से ठीक हैं। दूसरों की अपेक्षा वे व्यवहार श्रद्धा में ठीक हैं, किन्तु उन्हें जन्म मरण के अन्त का लाभ नहीं है।

धनप्राप्ति आदि लौकिक प्रयोजन के हेतु धर्मक्रिया करे उसे पुण्य भी नहीं होता।

पुनश्च, प्रतिदिन सामायिक प्रतिक्रमण करेंगे तो धर्मी माने जायेंगे और उससे आजीविका मिलगी —इस प्रकार कपट करे तो मिथ्यादृष्टि है। उपवास करेंगे तो लोक में बड़प्पन मिलेगा, ऐसा माननेवाला अज्ञानी है, उसे जैनधर्म की खबर नहीं है। व्रत धारण करेंगे तो पूज्य माने जायेंगे, मुनिपना धारण करेंगे तो सन्मान प्राप्त होगा,—ऐसी बड़ाई के लिये करता है वह मिथ्यादृष्टि है जो लक्ष्मी प्राप्त होने की मान्यता से व्रत-तप करे वह जैनधर्म के रहस्य को नहीं जानता। पैसा और स्वर्ग की इच्छा करने वाला मान अथवा पर पदार्थ प्राप्त करने की भावना वाला मिथ्यादृष्टि है। जो बड़प्पन के लिये धर्म किया करता है वह पापी है। पुण्य करेंगे तो पुत्र और प्रतिष्ठा प्राप्त होगी, महावीरजी तीर्थक्षेत्रकी यात्रा करने से धन मिलेगा,—ऐसी भावनासे यात्रा करे तो पापी है। वहां कषाय और कषायके फलकी भावना है उस जैनधर्मकी खबर नहीं है। संयोग पूर्वकर्मके उदयसे प्राप्त होते हैं इसकी उसे खबर नहीं है, उसका तरना कठिन है। धर्मी जीव स्वर्ग या लक्ष्मी आदि की आशा नहीं रखता। जो संसार-प्रयोजन साधता है वह महान अन्याय करता है। पुण्यका फल ऐसा मिलना चाहिये वह मिथ्या व सहित निदान है, सम्यग्दृष्टि ऐसा निदान नहीं करता। अज्ञानी अनुकूल सामग्री की

वैरागी होना चाहिये। वैराग्यवान जीव भोजनादि प्रयोजन सिद्ध करने के लिये मुनिपना नही लेते। नवधाभक्ति पूर्वक निर्दोष आहार मिले तभी लेते हैं। उनके अपने लिये बनाया हुआ आहार नही लेते। गृहस्थने अपने लिये भोजन बनाया हो वही आहार मुनि लेते हैं। एषणा समिति का भलीभांति पालन करते हैं। उद्देशिक आहार लेना यह एषणा समितिका दोष है। आहारके प्रयोजन बिना आत्मा का सेवन करते हैं। शरीरकी स्थितिके हेतु कोई निर्दोष आहार दे तो लेते हैं, किन्तु भोजनका प्रयोजन विचारकर मुनिपना नही लेते।

मुनिके सर्वथा परिणाम नहीं होते। बड़प्पनके अथवा यशके लिये मुनिपना धारण नही करते। पुनश्च, वे अपने हितके लिये धर्म साधन करते हैं किन्तु उपकार करानेका अभिप्राय नही है, और ऐसा उपकार कराते हैं जिसका उनके त्याग नही है। कोई साधर्मी स्वयं उपकार करता है तो करे, तथा न करे तो उससे अपने को कोई सकलेश भी नही होता। कोई याचनाके प्रयत्न करे और धर्म साधनमें शिथिल हो जाय तो वह मिथ्यादृष्टि अशुभ परिणामी है। इसप्रकार जो सांसारिक प्रयोजनके हेतु धर्म साधन करते हैं, वे मिथ्यादृष्टि तो हैं ही, किन्तु साथ ही पापी भी हैं।—इसप्रकार जैन मतावलम्बियों को भी मिथ्यादृष्टि जानना।





जैनाभासी मिथ्यादृष्टियोंकी धर्मसाधना

अब, जैनाभासी मिथ्यादृष्टियोंको धर्मका साधन कैसा होता है वह यहाँ विशेष दर्शाते हैं।

कुछ जीव कुल प्रवृत्तिसे धर्मसाधना करते हैं। एक करें तो दूसरा करता है तथा लोभके अभिप्रायसे धर्मसाधन करें उनके तो धर्मदृष्टि ही नहीं है। भगवानकी भक्ति करते वे समय चित्त कहीं डोलता रहता है, अपने परिणामोंका ठिकाना नहीं है और मुंहसे पाठ करता है, किन्तु परिणाम बुरे होने से उसे पुण्य भी नहीं है, धर्मकी तो बात ही दूर रही। दूकानका विचार आवे, सुन्दर स्त्रियों को देखता रहे तो उसे पुण्य भी नहीं होता, वह अशुभोपयोगी है। "मैं कौन हूँ" उसका विचार नहीं करता। पाठ बोल जाता है किन्तु अर्थकी खबर नहीं है। भगवानकी भक्तिमें विचार करना चाहिये कि यह कौन हैं? वीतरागदेव किसी को कुछ देते-लेते नहीं हैं। स्तवनमें आता है कि-"शिवपुर हमको देना," तो क्या तेरा मोक्ष भगवान के पास है? नहीं। और कहता है कि—"हे भगवान! जो कुछ आप करें सो ठीक, तो भगवान तेरी पर्यायके कर्ता हैं?—ऐसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि है। भगवान न तो किसी को डुबाते हैं और न तारते हैं। वे तो मात्र साक्षी हैं, केवलज्ञानी हैं।

मैं कौन हूँ उसकी खबर नहीं है, किसकी स्तुति करता हूँ तथा किस प्रयोजनसे करता हूँ वह भी ज्ञात नहीं है। सर्वज्ञ भगवान पूर्ण हो गये हैं, मैं भी पुरुषार्थसे सर्वज्ञ होऊँगा, किन्तु शुभराग आता है

इसलिये लक्ष जाता है,—ऐसी जिसे खबर नही है उसे वीतरागकी खबर नहीं है। "आरुग्ग बोहि लाभ"—ऐसा पाठ बोलता है किन्तु अर्थकी खबर नहीं है। हे नाथ ! पुण्य-पापरूप परिणाम वह रोग है, निरोग-स्वरूप आनन्दकन्द वस्तु आत्मा है, उसकी श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र रूपी निरोगताका लाभ मुझे प्राप्त हो। मैं शक्तिसे निरोग स्वरूप हूँ, किन्तु पर्यायमें आप जैसी निरोगता मुझे प्राप्त हो—ऐसी भावना भाता है।

अज्ञानी मानता है कि भगवानकी स्तुतिसे पैसा और अनाज मिलेगा तो वैसा माननेवाला मूढ है। उसे भगवान के स्वरूपकी खबर नहीं है। सर्वज्ञ किसी को पैसे देते-लेते नही हैं। और वह जीव कभी क्षेत्रपाल, चक्रेश्वरी, अम्बाजी, भवानी आदि के चरणों मे लोटने लगता है। भगवान के कुलदेव हैं—ऐसा कहकर कुलदेव को मानता है, कुगुरु-कुशास्त्र को मानता है। कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र तथा उनके मानने वालों का त्याग करना चाहिये। अज्ञानीको सच्चे देव-गुरु-शास्त्रकी खबर नही है। और वह दान देता है तो पात्र-कुपात्रके विचाररहित दान देता है। पचास हजार रुपये देंगे तो प्रतिष्ठा बढेगी और मकानमें नाम की तख्ती लग जायगी,—इसप्रकार मान के लिये दान दे तो वह पापी है। परीक्षा के बिना जो प्रशंसाके लिये दान देता है वह मिथ्यादृष्टि पापी है। लाजके लिये धर्म करे, भोजनादिके लिये धर्म करे वह मिथ्यादृष्टि है।

× × ×

[फाल्गुन शुक्ला ७ शुक्रवार, सं० २०-२-५३]

श्रीमद् राजचन्द्रजी को छोटी उम्र से जातिस्मरण ज्ञान था, वे तत्त्वज्ञानी थे। उन्होंने २६ वर्षकी उम्रमें "आत्मसिद्धि" की रचना की है। वे कहते हैं कि—

"लह्युं स्वरूप न वृत्तिनुं, ग्रह्युं व्रत अभिमान,
ग्रहे नहिं परमार्थ ने, लेवा लौकिक मान।"

लौकिक मान लेने के लिये अज्ञानी जीव व्रत धारण करता है, किन्तु राग रहित और जड़की क्रियासे रहित अपना स्वभाव है उसकी पहिचान नहीं करता और व्रत धारण करके अभिमान करता है।

प्रथम अपने स्वभावकी दृष्टि करना चाहिये। दया–दानादिके भाव आते हैं, किन्तु ज्ञानी उन्हें पुण्यास्रव मानता है। स्वभाव की प्रतीति, ज्ञान और लीनताका होना वह निश्चय है और शुभरागको व्यवहार कहते हैं। आत्मसिद्धि" में कहा है कि—

"नय निश्चय एकान्तथी आमां नथी कहेल,
एकांते व्यवहार नहिं, बन्ने साथे रहेल।"

जब निश्चय प्रगट होता है तब शुभराग को व्यवहार कहते हैं। कोई अज्ञानी जीव उपवास करने के लिये अगले दिन खूब खा ले, तो वह वृत्ति गृद्धिपने की है। वह रागके पोषणका साधन करता है किन्तु आत्माके पोषणका साधन नहीं करता। मेरे ज्ञान स्वभावमें शांति है उसकी उसे खबर नहीं है। कुन्दकुन्दाचार्यादि भावलिंगी मुनि थे, वे सहज निर्दोष आहार लेते थे। आजकल तो मुनियो [redacted] लिये चौका बनाते हैं और वहां वे आहार लेते हैं—यह सब पापभाव है। अज्ञानी बाह्य साधन भी रागादि की पुष्टिके लिये करता है। अज्ञानी की दृष्टि परके ऊपर है, खान–पानके पदार्थोंमें प्रीति मानता है। शरीर तो अजीव तत्त्व है, आत्मा जीवतत्त्व है, भोजनकी वृत्ति उठे वह आस्रव तत्त्व है। तीनों को पृथक मानना चाहिये।

आत्मभानके पश्चात् शुभराग होता है; धर्मसे राग नहीं होता।

आत्मभान होने के पश्चात् भी पूजन प्रभावना, यात्रादिका

आता है, किन्तु रागरहित आत्माका ज्ञान हुआ वह निश्चय है और शुभराग सच्चा धर्म नहीं है, आस्रव ही है ऐसा जानना वह व्यवहार है। कर्मसे राग नहीं होता। "कर्म बिचारे कौन भूल मेरी अधिकाई।" कर्म तो जड़ है, जीव अपनी भूलसे परिभ्रमण करता है। मैं भूल करता हूँ तो कर्मको निमित्त कहा जाता है।

अज्ञानी स्वयं अपराध करता है और कर्म पर दोष डालता है। कर्म है इसलिये विकार नहीं है, किन्तु स्वयं राग में रुका तब कर्म को निमित्त कहा जाता है।

जैसा कि ऊपर कहा है–पर्याय का यथार्थ ज्ञान करने वाला धर्मी समझता है कि मेरा ज्ञान स्वभाव राग से भी अधिक है। स्वभावकी अधिकता में राग गौण है। मैं राग नहीं हूँ, राग एकसमय की पर्याय है, मैं राग से पृथक हूँ मैं ज्ञान स्वभावी हूँ–ऐसी दृष्टि करना सो निश्चय है, और राग की पर्याय का ज्ञान वर्तता है वह व्यवहार है।

पूजा, प्रभावनादि कार्य होते हैं, उनमें अज्ञानी बड़ाई मानता है। अपने ज्ञान स्वभाव की दृष्टि नहीं है और पाँच लाख रुपये खर्च करने में बड़प्पन मानता है। मंदिर की पर्याय जड़से होती है, उसकी उसे खबर नहीं है और कर्तापने का अभिमान करता है। जीव जितनी कषायमंदता करे उतना पुण्य होता है, किन्तु उससे जो धर्म मानता है वह व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि है। जो राग आता है वह तो आयेगा ही, किन्तु उससमय दृष्टि किस ओर है वह देखना चाहिये। मंदिर, मानस्तम्भ आदि जड़ के कारण बनते हैं, तथापि अज्ञानी मानता है कि मैंने इतने मंदिर बनाये, वह कर्तृत्वबुद्धि बतलाता है। आत्मज्ञानी उसका अभिमान नहीं करता।

ज्ञाता है वह कर्ता नहीं है और कर्ता है वह ज्ञाता नहीं है।

जो जीव अपने को जड़ की तथा राग की पर्याय का कर्ता मानता है वह मिथ्यादृष्टि है और सम्यग्ज्ञानी जड़ की पर्याय का तथा अस्थिरता के राग का ज्ञाता है, वह स्वयं को उसका कर्ता नहीं मानता। जो पर की क्रिया का कर्ता होता है वह ज्ञानी नहीं है, और जो ज्ञाता है वह पर का तथा राग का कर्ता नहीं होता। जिसे आत्मा का भान हुआ है उसे देव-गुरु-शास्त्र पर भक्ति का भाव आता है वह शुभराग है। ज्ञानी समझता है कि पुण्य आस्रव है। मकान की क्रिया मैंने नहीं की। पुद्गल परमाणु की जो पर्याय जिस क्षेत्र में, जिस काल में होना है वह होगी, उसमें फेरफार करने के लिये इन्द्र या नरेन्द्र समर्थ नहीं हैं।

और अज्ञानी हिंसा के परिणाम करता है। भगवान की पूजाके प्रसंग पर फूलों में त्रसहिंसा का, तथा रात्रि के समय दीपावली में जीव मरते हैं, उनका विचार करना चाहिये। पूजादि कार्य तो अपने तथा अन्य जीवों के परिणाम सुधारने के लिये कहे हैं। और वहाँ किंचित् हिंसादिक भी होते हैं, किन्तु वहाँ अपराध अल्प हो और लाभ अधिक हो ऐसा करने को कहा है। सावद्य अल्प और पुण्य बहु हो तो पूजा-भक्ति करने को कहा है। अब, अज्ञानी को परिणामों की तो पहिचान नहीं है, कितना लाभ और कितनी हानि होती है उसकी खबर नहीं है। जिसप्रकार व्यापारी व्यापार में सब ध्यान रखता है उसीप्रकार धर्मकार्य में लाभ-हानि का विचार करना चाहिये अज्ञानी को लाभ हानि का अथवा विधि अविधि का ज्ञान नहीं है। समूहयात्रा में कई बार तीव्र आकुलतामय परिणाम हो जाते हैं। पहाड़ पर यात्रा करने जायें और थकान आ

आता है, किन्तु रागरहित आत्माका ज्ञान हुआ वह निश्चय है और शुभराग सच्चा धर्म नहीं हैं, आस्रव ही है ऐसा जानना वह व्यवहार है। कर्मसे राग नहीं होता। "कर्म विचारे कौन भूल मेरी अधिकाई।" कर्म तो जड़ है, जीव अपनी भूलसे परिभ्रमण करता है। मैं भूल करता हूँ तो कर्मको निमित्त कहा जाता है।

अज्ञानी स्वयं अपराध करता है और कर्म पर दोष डालता है। कर्म है इसलिये विकार नहीं है, किन्तु स्वयं राग में रुका तब कर्म को निमित्त कहा जाता है।

जैसा कि ऊपर कहा है-पर्याय का यथार्थ ज्ञान करने वाला धर्मी समझता है कि मेरा ज्ञान स्वभाव राग से भी अधिक है। स्वभावकी अधिकता में राग गौण है। मैं राग नहीं हूँ, राग एकसमय की पर्याय है, मैं राग से पृथक हूँ मैं ज्ञान स्वभावी हूँ-ऐसी दृष्टि करना सो निश्चय है, और राग की पर्याय का ज्ञान वर्तता है वह व्यवहार है।

पूजा, प्रभावनादि कार्य होते हैं, उनमें अज्ञानी बड़ाई मानता है। अपने ज्ञान स्वभाव की दृष्टि नहीं है और पाँच लाख रुपये खर्च करने में बड़प्पन मानता है। मंदिर की पर्याय जड़से होती है, उसको उसे खबर नहीं है और कर्तापने का अभिमान करता है। जीव जितनी कषायमन्दता करे उतना पुण्य होता है, किन्तु उससे जो धर्म मानता है वह व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि है। जो राग आना है वह तो आयगा ही, किन्तु उससमय दृष्टि किस ओर है वह देखना चाहिये। मंदिर, मानस्तम्भ आदि जड़ के कारण बनते हैं, तथापि अज्ञानी मानता है कि मैंने इतने मंदिर बनाये, वह कर्तृत्वबुद्धि बतलाता है। आत्मज्ञानी उसका अभिमान नहीं करता।

ज्ञाता है वह कर्ता नहीं है और कर्ता है वह ज्ञाता नहीं है।

जो जीव अपने को जड की तथा राग की पर्याय का कर्ता मानता है वह मिथ्यादृष्टि है और सम्यग्ज्ञानी जड की पर्याय का तथा अस्थिरता के राग का ज्ञाता है, वह स्वयं को उसका कर्ता नहीं मानता। जो पर की क्रिया का कर्ता होता है वह ज्ञानी नही है, और जो ज्ञाता है वह पर का तथा राग का कर्ता नही होता। जिसे आत्मा का भान हुआ है उसे देव–गुरु–शास्त्र पर भक्ति का भाव आता है वह शुभराग है। ज्ञानी समझता है कि पुण्य आस्रव है। मकान की क्रिया मैंने नही की। पुद्गल परमाणु की जो पर्याय जिस क्षेत्र में, जिस काल में होना है वह होगी, उसमें फेरफार करने के लिये इन्द्र या नरेन्द्र समर्थ नही हैं।

और अज्ञानी हिंसा के परिणाम करता है। भगवान की पूजाके प्रसंग पर फलो में त्रसहिंसा का, तथा रात्रि के समय दीयाबत्ती में जीव मरते हैं, उनका विचार करना चाहिये। पूजादि कार्य तो अपने तथा अन्य जीवों के परिणाम सुधारने के लिये कहे हैं। और वहाँ किंचित् हिंसादिक भी होते हैं, किन्तु वहाँ अपराध अल्प हो और लाभ अधिक हो ऐसा करने को कहा है। सावद्य अल्प और पुण्य बहु हो तो पूजा–भक्ति करने को कहा है। अब अज्ञानी को परिणामों की तो पहिचान नहीं है, कितना लाभ और कितनी हानि होती है उसकी खबर नहीं है। जिसप्रकार व्यापारी व्यापार में सब ध्यान रखता है उसीप्रकार धर्मकार्य में लाभ–हानि का विचार करना चाहिये अज्ञानी को लाभ हानि का अथवा विधि अविधि का ज्ञान नही है। सम्मेदयात्रा में कई बार तीव्र आकुलतामय परिणाम हो जाते हैं। पहाड पर यात्रा करने जाये और थकान आ जाये, उस-

समय तीव्र कषाय के परिणाम करता है, विवेक नहीं रखता। पूजा विधिपूर्वक या अविधि से करता है उसका ज्ञान नहीं है। आत्मा शुद्ध चैतन्य स्वभावी है ऐसे भानपूर्वक अपने परिणामों को देखना चाहिये।

× × ×

[फाल्गुन शुक्ला ८ शनिवार, ता० २१-२-५३]

'सर्व शास्त्रों का तात्पर्य "वीतराग भाव" है; शुभभाव धर्म नहीं, किन्तु पुण्य है।

चौथा-पांचवां-छट्ठा आदि गुणस्थान हैं, उन्हें यदि न माने तो तीर्थ का ही नाश हो जायेगा, और जो जीव मात्र भेद का ही आश्रय करके धर्म मानता है, किन्तु निश्चय अभेद स्वभाव को नहीं पहचानता उसे तत्त्व का भान नहीं है। निश्चय के बिना तो तत्त्व का ही लोप हो जाता है और साधक दशामें जो भेद पड़ते हैं उसे जानने रूप व्यवहार के बिना तीर्थ का लोप होता है, इसलिये दोनों को यथावत् जानना चाहिये।

यात्रा-पूजादि का शुभभाव धर्म नहीं है किन्तु पुण्य है। बाह्य शरीर की क्रिया से पुण्य नहीं है किन्तु अन्तर में मन्दराग किया उससे पुण्य होता है। उसके बदले शरीर की क्रिया से पुण्य माने और पुण्य को धर्म माने वे दोनों भूल हैं। निश्चय व्यवहार दोनों जानकर निश्चय का आदर करना और व्यवहार को हेय बनाना यह कार्य करना है। जानने योग्य दोनों हैं, किन्तु आदरणीय तो एक निश्चय ही है। मन्दराग और धर्म पृथक् पृथक् वस्तुएँ हैं। धर्म तो वीतराग भाव है। निश्चय स्वभाव की दृष्टि रखकर, बीच में जो राग आये उसे जानना चाहिये, किन्तु आदरणीय नहीं मानना

चाहिये—उसका नाम प्रमाणज्ञान है। मात्र व्यवहारके आश्रयसे धर्म माने व निश्चय क्या है उसे न जाने तो वह व्यवहाराभासी है। उसका यह वर्णन चलता है।

वह व्यवहाराभासी जीव शास्त्र पढ़ता है तो पद्धति अनुसार पढ़ लेता है, किन्तु उसके मर्म को नहीं समझता। यदि बाँचता है तो दूसरों को सुना देता है, पढ़ता है तो स्वयं पढ़ लेता है और सुनता है तो जो कुछ कहे वह सुन लेता है, किन्तु शास्त्राभ्यास का जो प्रयोजन है उसका स्वयं अन्तरमें अवधारण नहीं करता। सर्व शास्त्रोंका तात्पर्य तो वीतरागभाव है। वीतरागभावका अर्थ क्या? स्वभावका अवलम्बन और निमित्तकी उपेक्षा वह वीतरागभाव है। पहले वीतरागी दृष्टि प्रगट होती है और फिर वीतरागी चारित्र। परद्रव्य तो तुझसे भिन्न है, उसका तुझमें अभाव है, इसलिये न तो तुझसे उसे कोई लाभ-हानि है, और न उससे तुझे। तेरी पर्याय में रागादिभाव होते हैं वह भी धर्म नहीं है, धर्म तो ध्रुव स्वभाव के आश्रयसे जो वीतरागभाव प्रगट होता है उसमें है। ऐसा भान किये बिना शास्त्र पढ़ ले—सुन ले तो उससे कहीं धर्म नहीं होता। शास्त्रों का तात्पर्य क्या है उसे अज्ञानी नहीं समझता। दिगम्बर सम्प्रदायमें भी जो तत्त्वका निर्णय नहीं करता और देवपूजा, शास्त्रस्वाध्यायादि में ही धर्म मान लेता है वह व्यवहाराभासी है।

भगवानके दर्शन करने जाये वहाँ स्वयं मन्दराग करे तो पुण्य होता है। भगवान कहीं इस जीवको शुभभाव नहीं कराते। कर्मके कारण विकार होता है—यह तो बात ही झूठी है। "आत्माके द्रव्य-गुणमें विकार नहीं है, तो फिर पर्यायमें कहाँ से आया?—पर्यायमें कर्मने विकार कराया है,"—ऐसा अज्ञानी कहता है किन्तु वह झूठ

समय तीव्र कषाय के परिणाम करता है, विवेक नहीं रखता
विधिपूर्वक या अविधि से करता है उसका ज्ञान नहीं है।
शुद्ध चैतन्य स्वभावी हूँ ऐसे भानपूर्वक अपने परिणामों
चाहिये।

× × ×

[फाल्गुन शुक्ला ८ शनिवार, ता० २

'सर्व शास्त्रों का तात्पर्य "वीतराग भाव" है; शुभ
नहीं, किन्तु पुण्य है।

चौथा-पांचवां-छट्ठा आदि गुणस्थान हैं, उन्हें यदि
तीर्थ का ही नाश हो जायेगा, और जो जीव मात्र भेद
करके धर्म मानता है, किन्तु निश्चय अभेद स्वभाव
जानता उसे तत्त्व का भान नहीं है। निश्चय के बि
ही लोप हो जाता है और साधक दशामें जो भेद पड़
रूप व्यवहार के बिना तीर्थ का लोप होता है,
यथावत् जानना चाहिये।

यात्रा-पूजादि का शुभभाव धर्म नहीं है कि
शरीर की क्रिया से पुण्य नहीं है किन्तु मन्द
उससे पुण्य होता है। उसके बदले शरीर
और पुण्य को धर्म माने वे दोनों भूल हैं।
जाकर निश्चय का आदर करना और व्यव
कार्य करना है। जानने योग्य दोनों हैं,
निश्चय ही है। मन्दराग और धर्म पृथक्
वीतराग भाव है। निश्चय स्वभाव की
राग आवे उसे जानना चाहिये, कि

जो ऐसा जानता है वह किसी भी कुन्देव देव–देवी को नहीं मानता। अज्ञानी आत्माके परमार्थ स्वभावको तो जानता नहीं है और अभूतार्थ धर्मकी साधना करता है अर्थात् रागको धर्म मानता है। व्यवहार तो अभूतार्थ है और शुद्धनय भूतार्थ है। भूतार्थ आत्मस्वभाव के आश्रयसे ही सम्यग्दर्शन है। उसे जो नहीं जानता और कषाय की मन्दता करके अपने को धर्मी मानता है वह जीव अभूतार्थ धर्मकी साधना करता है, वह भी व्यवहाराभासी है।

और कोई जीव ऐसे होते हैं कि जिनके कुछ तो कुलादिरूप बुद्धि है तथा कुछ धर्मबुद्धि भी है, इसलिये वे कुछ पूर्वोक्त प्रकारसे भी धर्मका साधन करते हैं, तथा कुछ आगममें कहा है तदनुसार भी अपने परिणामोंको सुधारते हैं,—इसप्रकार उनमें मिश्रपना होता है।

व्यवहाररत्नत्रय आश्रव है, अरिहन्तकी महानता बाह्य वैभव से नहीं किन्तु वीतरागी विज्ञान से है।

और कोई धर्म बुद्धि से धर्म साधन करते हैं, किन्तु निश्चय धर्म को नहीं जानते, इसलिये वे भी अभूतार्थ धर्म को अर्थात् राग को ही साधना करते हैं। व्यवहार सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र के शुभराग को ही मोक्षमार्ग मानकर उसका सेवन करते हैं, किन्तु वास्तव में वह मोक्षमार्ग नहीं है। व्यवहाररत्नत्रय आस्रव है किन्तु अज्ञानी उसे मोक्ष मार्ग मानता है। और देव–गुरु धर्म की प्रतीति को शास्त्रों में सम्यक्त्व कहा है, इसलिये वह जीव अरिहन्तदेव–निर्ग्रंथ गुरु तथा जैन शास्त्र के अतिरिक्त दूसरा की वन्दनादि नहीं करता, कुदेव–कुगुरु–कुशास्त्र को नहीं मानता, किन्तु सच्चे देव–गुरु–शास्त्रको परीक्षा करके स्वयं नहीं पहिचानता। तत्वज्ञान पूर्वक यथार्थ परीक्षा करे तो मिथ्यात्व

है। जो विकार हुआ वह जीवकी पर्यायमें अपने अपराधसे हुआ है। द्रव्य–गुणमें विकार नहीं है किन्तु पर्यायमें वैसा धर्म है अपनी योग्यता है। वह पर्याय भी जीवका स्वतत्त्व है। औदयिकादि पाँचों भाव जीवके स्वतत्त्व हैं। तत्त्वार्थसूत्र में कहा है कि —

औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौद-यिकपारिणामिकौ च।

विचार तो करो कि पूर्व अनन्तानन्तकाल परिभ्रमणमें चला गया, तो वस्तुस्वरूप क्या है? शुभभाव किये, व्रत–तप किये, तथापि दुःखमें भ्रमण करता रहा,–तो बाकी क्या रह गया? मैं पुण्य-पाप-रहित ज्ञायक चिदानन्दमूर्ति हूँ—ऐसी दृष्टिसे धर्मका प्रारम्भ होता है।

श्री समयसारमें कहा है कि —

णवि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणओ दु जो भावो।
एवं भणंति सुद्धं णाओ जो सो उ सो चेव ॥ ६ ॥

ज्ञान द्वारा प्रथम ऐसे ज्ञायक स्वभावकी पहिचान करना वह अपूर्व धर्म का प्रारम्भ है। जो निमित्त से धर्म मानता है, उसे निमित्त से भेदज्ञान नहीं है, रागसे धर्म मानता है उसे कषायसे भेदज्ञान नहीं है, उसे धर्म नहीं हो सकता। जैन कुलमें जन्म लेने से कहीं धर्म नहीं हो जाता। कुल परम्परा कहीं धर्म नहीं है। पुत्र या पैसादिके हेतुसे भगवानको माने तो उसमें भी पाप ही है। कुदेवादिको माने वह मिथ्यादृष्टि है। ऊपर से भले ही इन्द्र उतर आयें, तथापि धर्मी जीव कहता है कि वे मेरा कुछ भी करने में समर्थ नहीं हैं। इन्द्र, नरेन्द्र या जिनेन्द्र–कोई भी फेरफार नहीं कर सकते। जिस काल सर्वज्ञदेव ने जो देखा है उसमें कोई फेरफार करने में समर्थ नहीं है।

५

जैनाभासों की सुदेव-गुरु-शास्त्रभक्ति का मिथ्यापना

भगवान इन्द्रों से पूज्य हैं, आकाश में विचरते हैं, उनके परम औदारिक शरीर होता है—यह बात तो ठीक है, किन्तु वे सब बाह्य लक्षण हैं, वह तो देह का वर्णन हुआ किन्तु भगवान के आत्मा के गुणोंको न पहिचाने तो वह भी मिथ्यादृष्टि है। प्रवचनसारकी ८० वीं गाथा में कहा है कि—

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं॥

यहाँ तत्त्वज्ञानपूर्वक अरिहंत देवके द्रव्य-गुण-पर्याय की परीक्षा करके यथार्थ जाने और अपने आत्माका भी ऐसा ही स्वभाव है,—इसप्रकार स्वभाव सन्मुख होकर निर्णय करे, उसे अपने आत्मा की पहिचान होती है, उसका मोह (मिथ्यात्व) नष्ट हो जाता है और उसे क्षायिक सम्यक्त्व होता है। अरिहंतों ने इसी विधि से मोह का नाश किया है और यही उपदेश दिया है कि—हमने जिसप्रकार मोह का नाश किया है, उसी प्रकार तुम भी वैसा ही पुरुषार्थ करो तो तुम्हारे मोहका भी नाश होगा।

अरिहंत भगवान देव इन्द्रादि द्वारा पूज्य हैं, अनेक अतिशय सहित हैं, क्षुधादि दोष रहित हैं, शारीरिक सौंदर्य को धारण करते हैं,

दूर हो जाये। अज्ञानी मात्र बाह्य शरीरादि लक्षणों द्वारा ही परीक्षा करता है, किन्तु तत्त्वज्ञानपूर्वक सर्वज्ञको नहीं पहचानता। भगवानको भी परीक्षा करके पहिचानना चाहिये। समन्तभद्राचार्य भी सर्वज्ञकी परीक्षा करके आप्तमीमांसा में कहते हैं कि हे नाथ!

देवागमनभोयानचामरादिविभूतयः
मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान्।

देव आते हैं, आकाश में गमन होता है, चँवर ढोरते हैं, समवशरण की रचना होती है—यह सब तो मायावी देव के भी होता दिखाई देता है, इसलिये उतने से ही आप महान नहीं हैं, किन्तु सर्वज्ञता, वीतरागतादि आपके गुणों की पहिचान करके हम आपको महान और पूज्य मानते हैं। इसलिये तत्त्वज्ञानपूर्वक सच्ची परीक्षा करना चाहिये।



५

जैनाभासो की सुदेव-गुरु-शास्त्रभक्ति का मिथ्यापना

भगवान इन्द्रों से पूज्य हैं, आकाश मे विचरते हैं, उनके परम औदारिक शरीर होता है—यह बात तो ठीक है, किन्तु वे सब बाह्य लक्षण हैं, यह तो देह का वर्णन हुआ, किन्तु भगवान के आत्मा के गुणोंको न पहिचाने तो वह भी मिथ्यादृष्टि है। प्रवचनसारकी ८० वी गाथा मे कहा है कि—

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं ।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं ॥

यहाँ तत्त्वज्ञानपूर्वक अरिहंत देवके द्रव्य-गुण-पर्याय की परीक्षा करके यथार्थ जाने और अपने आत्माका भी ऐसा ही स्वभाव है,—इसप्रकार स्वभाव सन्मुख होकर निर्णय करे, उसे अपने आत्मा की पहिचान होती है, उसका मोह (मिथ्यात्व) नष्ट हो जाता है और उसे क्षायिक सम्यक्त्व होता है। अरिहंतो ने इसी विधि से मोह का नाश किया है और यही उपदेश दिया है कि—हमने जिसप्रकार मोह का नाश किया है, उसी प्रकार तुम भी वैसा ही पुरुषार्थ करो तो तुम्हारे मोहका भी नाश होगा।

अरिहंत भगवान देव इन्द्रादि द्वारा पूज्य हैं, अनेक अतिशय सहित हैं, क्षुधादि दोष रहित हैं, शारीरिक सौंदर्य को धारण करते हैं,

स्त्री संगमादि से रहित हैं, दिव्यध्वनि द्वारा उपदेश देते हैं, केवलज्ञान द्वारा लोकालोक को जानते हैं, तथा जिन्होंने काम-क्रोधादिका नाश किया है,—इत्यादि विशेषण लगाते हैं, उनमें कोई विशेषण तो पुद्गलाश्रित हैं तथा कोई जीवाश्रित हैं, उन्हें भिन्न-भिन्न नहीं जानता जैसे कोई असमान जातीय मनुष्यादि पर्यायों में भिन्नता न जानकर मिथ्या दृष्टि धारण करता है, उसीप्रकार यह भी असमानजातीय अरिहन्त पर्याय में जीव-पुद्गल के विशेषणों को भिन्न न जानकर मिथ्यादृष्टिपना ही धारण करता है।

मुनिराज के निकट सिंह और हिरन एकसाथ बैठते हैं, वहाँ कहीं मुनि के अहिंसा भाव के कारण वह नहीं है, क्योंकि भावलिंगी अहिंसक मुनि को भी सिंह आकर खा जाता है। इसलिये बाह्य संयोगों पर से गुणों की पहिचान नहीं होती। आत्मा के गुण क्या हैं और पुण्यका कार्य कौनसा है? उनमें पृथक्-पृथक् जानना चाहिये।

× × ×

[फाल्गुन शुक्ला ६ रविवार ता० २२-२-५३]

और, भगवान केवलज्ञान से लोकालोक को जानते हैं—ऐसा मानता है, किन्तु केवलज्ञान क्या है उसे नहीं पहिचानता। पुनश्च, शरीर और आत्मा के संयोगरूप पर्याय को ही जानता है, किन्तु जीव-अजीव को भिन्न-भिन्न नहीं जानता, वह मिथ्यादृष्टि है। और भगवान मात्र लोकालोक को अर्थात् परको ही जानते हैं—ऐसा मानता है किन्तु उसमें आत्मा तो आया ही नहीं। निश्चय से अपने आत्मा को जानने पर उसमें लोकालोक व्यवहार से ज्ञात हो जाते हैं उसकी अज्ञानी को खबर नहीं है। आत्मा और शरीर तो असमान जातीय हैं, अर्थात् उनकी भिन्न-भिन्न जाति है, उन्हें जो भिन्न

भिन्न नहीं जानता उसके मिथ्यात्व है। पुनश्च, कर्म और आत्मा भी असमानजातीय हैं, तथापि कर्म के क्षयोपशम के कारण जीव में ज्ञान का विकास होता है—ऐसा मानता है वह भी मिथ्यादृष्टि है। केवलज्ञानादि तो आत्माकी पर्यायें हैं। पुण्यका उदय और परम औदारिक शरीर वे जीव से भिन्न वस्तु है।

प्रश्न—तीर्थंकर प्रकृति भी जीव से हुई है न?

उत्तर—नहीं, वर्तमान में केवलज्ञान और वीतरागता है उसके कारण कहीं तीर्थंकर प्रकृति नहीं है, तीर्थंकर प्रकृति आत्मा के गुण का फल नहीं है, और पूर्वकाल में जब तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध हुआ उस समय जीव का रागभाव निमित्त था, किन्तु तीर्थंकर प्रकृति स्वयं तो जड़ है। आत्मा के कारण वह प्रकृति माने तो उसे जड़-चेतन की भिन्नता का भान नहीं है, वह अरिहन्त को नहीं पहचानता। भले ही अरिहन्त की जाप और भक्तिका शुभभाव करे तो पुण्य बंध होगा, किन्तु उसे धर्म नहीं हो सकता।

केवलज्ञान के कारण दिव्यध्वनि नहीं खिरती

जीव और शरीर को कब भिन्न माना कहलाता है? जीव के कारण शरीर अच्छा रहता है, जीवके कारण शरीर चलता है—ऐसा जो मानता है उसने जीव और शरीर को पृथक् नहीं माना किन्तु एक माना है। जड़ पदार्थ भी "उत्पादव्यय ध्रौव्ययुक्त सत्" है, इसलिये जड़ शरीर के उत्पाद-व्यय भी उसीके कारण होते हैं—जीव के कारण नहीं। आत्मा के उत्पाद-व्यय अपनेमें हैं, केवलज्ञान-पर्याय रूपसे भगवानका आत्मा उत्पन्न हुआ है, किन्तु जड़ शरीरकी परमौदारिक अवस्था हुई उसमें आत्मा उत्पन्न नहीं हुआ है, वह तो जड़ का उत्पाद है। और भगवान ऊपर आकाश में डग भरे बिना

न्तो रागादि से रहित हैं, दिव्यध्वनि द्वारा उपदेश देते हैं, केवलज्ञान द्वारा लोकालोक को जानते हैं, तथा जिन्होंने काम-क्रोधादिका नाश किया है,—इत्यादि विशेषण लगाते हैं, उनमें कोई विशेषण तो पुद्गलाश्रित है तथा कोई जीवाश्रित है, उन्हें भिन्न-भिन्न नहीं जानता जैसे कोई असमान जातीय मनुष्यादि पर्यायों में भिन्नता न जानकर मिथ्या दृष्टि धारण करता है, उसीप्रकार यह भी असमानजातीय अरिहंत पर्याय में जीव-पुद्गल के विशेषणों को भिन्न न जानकर मिथ्यादृष्टिपना ही धारण करता है।

मुनिराज के निकट सिंह और हिरन एकसाथ बैठते हैं, वहाँ कहीं मुनि के अहिंसा भाव के कारण वह नहीं है, क्योंकि भावलिंगी अहिंसक मुनि को भी सिंह आकर खा जाता है। इसलिये बाह्य सयोगों पर से गुणों की पहिचान नहीं होती। आत्मा के गुण क्या हैं और पुण्यका कार्य कौनसा है ? उनमें पृथक-पृथक् जानना चाहिये।

× × ×

[फाल्गुन शुक्ला ६ रविवार, ता० २२-२-५३]

और, भगवान केवलज्ञान से लोकालोक को जानते हैं—ऐसा मानता है, किन्तु केवलज्ञान क्या है उसे नहीं पहिचानता। पुनश्च, शरीर और आत्मा के सयोगरूप पर्याय को ही जानता है, किन्तु जीव-अजीव को भिन्न-भिन्न नहीं जानता, वह मिथ्यादृष्टि है। और भगवान मात्र लोकालोक को अर्थात् परको ही जानते हैं—ऐसा मानता है, किन्तु उसमें आत्मा तो आया ही नहीं। निश्चय से अपने आत्मा को जानने पर उसमें लोकालोक व्यवहार से ज्ञात हो जाते हैं, उसकी अज्ञानी को खबर नहीं है। आत्मा और शरीर तो असमान जातीय हैं अर्थात् उनकी भिन्न-भिन्न जाति है, उन्हें जो भिन्न

भिन्न नहीं जानता उसके मिथ्यात्व है। पुनश्च, कर्म और आत्मा भी असमानजातीय हैं तथापि कर्म के क्षयोपशम के कारण जीव में ज्ञान का विकास होता है—ऐसा मानता है वह भी मिथ्यादृष्टि है। केवलज्ञानादि तो आत्माकी पर्यायें हैं। पुण्यका उदय और परम औदारिक शरीर व जीव से भिन्न वस्तु है।

प्रश्न—तीर्थंकर प्रकृति भी जीव से हुई है न?

उत्तर—नहीं, वर्तमान में केवलज्ञान और वीतरागता है उसके कारण वहाँ तीर्थंकर प्रकृति नहीं है, तीर्थंकर प्रकृति आत्मा के गुण का फल नहीं है, और पूर्वकाल में जब तीर्थंकर प्रकृतिका बंध हुआ उस समय जीव का रागभाव निमित्त था, किन्तु तीर्थंकर प्रकृति स्वयं तो जड़ है। आत्मा के कारण वह प्रकृति माने तो उसे जड़-चेतन की भिन्नता का भान नहीं है, वह अरिहंत को नहीं पहचानता। भले ही अरिहन्त की जाप और भक्तिका शुभभाव करे तो पुण्य बंध होगा, किन्तु उसे धर्म नहीं हो सकता।

केवलज्ञान के कारण दिव्यध्वनि नहीं खिरती

जीव और शरीर को एक भिन्न माना कहलाता है? जीव के कारण शरीर अच्छा रहता है, जीवके कारण शरीर चलता है—ऐसा जो मानता है उसने जीव और शरीर को पृथक् नहीं माना किन्तु एक माना है। जड़ पदार्थ भी 'उत्पादव्यय ध्रौव्ययुक्त सत्' है, इसलिये जड़ शरीर के उत्पाद-व्यय भी उसीके कारण होते हैं—जीव के कारण नहीं। आत्मा के उत्पाद-व्यय अपनेमें हैं, केवलज्ञान-पर्याय रूपसे भगवानका आत्मा उत्पन्न हुआ है, किन्तु जड़ शरीरकी परमौदारिक अवस्था हुई उसमें आत्मा उत्पन्न नहीं हुआ है वह तो जड़ का उत्पाद है। और भगवान ऊपर आकाश में डग भरे बिना

विचरण करते हैं, किन्तु वहाँ शरीर के चलने की क्रिया उनके आत्मा के कारण नहीं हुई है। केवलज्ञान हुआ इसलिये शरीर ऊपर आकाश में चलता है—ऐसा नहीं है, दोनों का परिणमन भिन्न-भिन्न है। इधर जीवमें केवलज्ञान का स्वकाल है और पुद्गल में दिव्यध्वनिका स्वकाल है, किन्तु जीवके केवलज्ञान के कारण दिव्यध्वनि नहीं है। यदि जीवके केवलज्ञान के कारण दिव्यध्वनि हो, तो जीव में केवल ज्ञान तो अखण्ड रूप से सदैव है, इसलिये वाणी भी सदैव होना चाहिये, किन्तु वाणी तो अमुक काल ही खिरती है, वाणी तो उसके अपने स्वकाल में ही खिरती है। भगवान को त्रिकाल का ज्ञान वर्तता है, किस समय वाणी खिरेगी उसका भी ज्ञान है, केवलज्ञान किसी परकी पर्याय को करता या रोकता नहीं है। लोग "अरिहन्त-अरिहन्त" करते हैं किन्तु अरिहन्त के केवलज्ञान को नहीं पहिचानते।

'भगवान की वाणी"—ऐसा कहना वह उपचार है, और भगवान की वाणी से दूसरे जीवों को वास्तव में ज्ञान नहीं होता, किन्तु सभी जीव अपनी-अपनी योग्यतानुसार समझें उसमें वह निमित्त होती है। जीव-अजीव स्वतन्त्र हैं, दोनों की अवस्था भिन्न भिन्न है-इसप्रकार यथार्थ विशेषण से जीव को पहिचाने वह मिथ्यादृष्टि नहीं रहता।

आत्माम से तो वाणी नहीं निकलती और वास्तवमें शरीरमें से भी वाणी नहीं निकलती। शरीर तो आहार वर्गणा से बनता है और भाषा भाषावर्गणा से बनती है। जिस प्रकार चने के आटे में जो आटा लड्डुओंके लिये तैयार किया हो उसमें से मगज नहीं बन

सकता, मगज के लिये मोटे आटे की आवश्यकता होती है। उसी-प्रकार आहारवगणा और भाषावगणा भिन्न भिन्न हैं, उनमें आहार-वगणासे सीधी भाषा नहीं हो सकती, किन्तु भाषावगणासे ही भाषा होती है। और कम की कामण वगणा है वह भी अलग है, इसलिये कम के कारण भाषा हुई—ऐसा भी नहीं है। जगत में भिन्न-भिन्न योग्यता वाले अनन्त परमाणु हैं।

'हे भगवान ! आप स्वग-मोक्ष दातार हो"—ऐसा स्तुति में आता है, वहाँ अज्ञानी वास्तव में ऐसा मान लेता है कि भगवान हमें तार देंगे। भाई ! स्वग तो तेरे शुभ परिणामो से होता है और मोक्षदशा तेरे शुद्ध उपयोग से प्रगट होती है उसमें भगवान तो निमित्त मात्र हैं। भगवान तुझे मोक्ष दें और दूसरे को मोक्ष न दें—उसका कोई कारण ? क्या भगवान रागी-द्वेषी हैं ? जीव अपने परिणामों से ही स्वग-मोक्ष प्राप्त करता है, भगवान किसी को कुछ नहीं देते।

मैं ज्ञानानन्द स्वरूप हूँ। मेरा स्वरूप निरागी है, और यह जो राग है वह रोग है—ऐसा जानकर ज्ञानी विनयपूवक कहता है कि "हे भगवान ! मुझे भावआरोग्य और बोधि का लाभ दो ! मुझे उत्तम समाधि दो !"—वहाँ वह उपचार है। मैं अपने ज्ञानानन्द स्वरूप में से समाधि प्रगट करूँ, उसमें भगवान तो निमित्त हैं। स्वयं अपने में से भावआरोग्य और समाधि प्रगट की तब विनय से—नम्रता से ऐसा कहा कि 'हे भगवान् ! आप बोधि—समाधि दातार हो। लोक में भी नम्रता से कहते हैं कि 'बडों के पुण्य का प्रताप है," किन्तु बडों के पास पाँच हजार की सम्पत्ति हो और तेरे पास लाखों की हो जाय, तो बडों का पुण्य वहाँ से आया ? अपने पुण्य

का फल है वहाँ विनय से बडो का पुण्य कहते हैं। उसी प्रकार धर्मी जीव स्वय अपने पुरुषार्थ से बोधि—समाधि प्रगट करके तरता है, वहाँ भगवान को विनय–बहुमान से ऐसा कहता है कि हे भगवान ! आप हमे बोधिसमाधि देने वाले हो, आप दीनदयाल तरनतारन हो, आप अधम उधारक और पतितपावन हो। यह सब कथन भक्ति के–निमित्त के–उपचार के हैं। भगवान पतितपावन हों तो सब का उद्धार होना चाहिये और पाप का नाश होना चाहिये, किन्तु ऐसा नहीं है। जिस प्रकार मिट्टी के घडे को उपचार से "घी का घडा" कहा जाता है, किन्तु उससे कहीं वह घडा घी के समान खाया नहीं जा सकता, उसी प्रकार भगवान को उपचार से तरनतारन, अधम उद्धारक कहा जाता है, किन्तु सचमुच कहीं भगवान इस जीव के परिणामों के कर्ता नहीं हैं।—ऐसी यथार्थ वस्तुस्थिति को न समझे और यों ही अरिहन्त को माने तो वह भी व्यवहाराभासी मिथ्या दृष्टि है।

जिस प्रकार अन्यमती कर्तृत्वबुद्धि से ईश्वर को मानते हैं, उसी प्रकार यह भी अरिहन्त को मानता है, किन्तु ऐसा नहीं जानता कि—फल तो अपने परिणामों का मिलता है। ज्ञानी जीव अरिहन्त देव को निमित्त मानता है इसलिये उपचार से तो यह विशेषण सम्भव है किन्तु अपने परिणाम सुधारे बिना तो अरिहन्त में यह उपचार भी सम्भवित नहीं है ऐसा जो नहीं जानता और बिना जाने अरिहन्त का नाम लेकर मानता है वह भी व्यवहाराभासी मिथ्या दृष्टि है, वह वास्तव मे जैन नहीं है।

× × ×

[फाल्गुन शुक्ला १० सोमवार, ता० २३-२-५३]

आचार्य भगवान की कही हुई बात पं० टोडरमलजी ने चालू देश भाषा में कही है। मैं शुद्ध चिदानन्द हूँ—ऐसी दृष्टि नहीं हुई है और पुण्य परिणामों में धर्म मानता है वह व्यवहाराभासी है। लहसुन खाते-खाते कस्तूरी की डकार नहीं आती, उसीप्रकार शुभभाव-रूपी विकार करते-करते कभी शुद्ध दशा प्राप्त नहीं होती। अज्ञानी शुभभाव को धर्म का कारण समझता है। राग तो त्याग करने योग्य है, तथापि ऐसा मानना कि राग करते-करते सम्यग्दर्शन हो जायगा, वह मिथ्यादर्शन शल्य है। बाहुबलि भगवान की प्रतिमा के कारण आकर्षण होता हो तो सभी को होना चाहिये, किन्तु ऐसा नहीं होता जीव को फल तो अपने परिणामों का है। जो जीव शुभ परिणाम करे उसे भगवान अथवा दिव्यध्वनि शुभ का निमित्त कहलाता है। भगवान है इसलिये कषाय मन्दता हुई—ऐसा नहीं है। धर्मी जीव समझता है कि मेरे परिणाम मुझ से होते हैं, भगवान अथवा प्रतिमा तो निमित्त मात्र हैं, इसलिये उपचारसे भगवानको ये विशेषण सम्भव हैं।

परिणाम शुद्ध हुए बिना व्यवहार से अरिहन्त को भी स्वर्ग मोक्षादि के दाता कहा नहीं है। अरिहन्त देव तथा वाणी परवस्तु है। शुभभाव पुण्याश्रव है, उससे रहित चिदानन्द की दृष्टि पूर्वक शुद्ध परिणाम करे-वह मोक्षदातार है तो अरिहन्त को उपचार से मोक्षदातार कहा जाता है। जितना शुभराग शेष रहता है उसके निमित्त से स्वर्ग प्राप्त होता है, तो फिर भगवान को निमित्त रूपसे स्वर्गदाता भी कहा जायेगा। यदि भगवान इस जीवके शुभ या शुद्धपरिणामोंके कर्ता हों तो वे निमित्त नहीं रहते, किन्तु उपादान हो गये, इसलिये वह भूल है। कोई कहे कि—सम्मेदशिखर और

गिरनार का वातावरण ऐसा है कि धर्म की रुचि हो तो ऐसा मानने वाला मिथ्यादृष्टि है।

पुनश्च, वे कहते हैं कि अरिहंत भगवानका नाम सुनकर कुत्तों आदि ने स्वर्ग प्राप्त किया है। अज्ञानी मानते हैं कि भगवान के नाम में बड़ा अतिशय है, किन्तु वह भ्रांति है। अपने परिणामों में कषाय-मन्दता हुए बिना मात्र नाम लेने से स्वर्ग की प्राप्ति नहीं होती, तो फिर नाम सुननेवालों को कहाँ से होगी? परिणाम के बिना फल नहीं है। नाम तो परवस्तु है, उससे शुभ परिणाम होते हों तो सबके होना चाहिये, किन्तु ऐसा नहीं होता। जो दृष्टान्त दिया गया है, उसमें उन श्वानादिकने अपने परिणामोंमें कषायकी मन्दता की है और उससे फलस्वरूप स्वर्गकी प्राप्ति हुई है। नाम के कारण शुभ-भाव नहीं होते। कोई भगवान के समवसरणमें गया अथवा मन्दिरमें गया, किन्तु वहाँ व्यापारादिके अशुभपरिणाम करे तो क्या भगवान उन्हें बदल देंगे? अपने पुरुषार्थ पूर्वक शुभभाव करे तो भगवान को निमित्त कहा जाता है। यहाँ भगवान के नाम की मुख्यता करके उपचारसे कथन किया है।

कितने ही अज्ञानी ऐसा मानते हैं कि भगवानका नाम लो, आरती करो, छत्र चढाओ, पूजा करो तो रोग नष्ट होगा, पुत्रकी प्राप्ति होगी, पसा मिलेगा, अनुकूलता हो जायेगी, तो ऐसा माननेवाले मिथ्यादृष्टि हैं। अनुकूलता तो पूर्व पुण्यके कारण प्राप्त होती है। वर्तमानमें शुभभाव करने के कारण वर्तमान संयोग प्राप्त नहीं होता। कोई कहे कि भक्तामर स्तोत्र पढने से श्री मानतुंगाचार्यके ४८ ताले टूट गये थे, तो उससे कहते हैं कि ताले उस समय टूटना

ही थे। शुभ परिणामों के कारण ताले नहीं टूटे हैं। ताले स्वयं टूटे तब भक्तामरस्तोत्रके शुभभावको निमित्त कहते हैं।

सीताजी के ब्रह्मचर्यसे अग्नि पानीरूप हो गई यह भी उपचार कथन है। सुकौशल मुनि ब्रह्मचारी थे, तथापि उन्हें व्याघ्री क्यों खाती है? ब्रह्मचर्य बाह्यमें कार्य नहीं करता। सीताजी का पूर्व कर्मका उदय आया, तब ब्रह्मचर्यमें आरोप किया गया। गजकुमार मुनि तो छट्ठे गुणस्थानमें विराजमान थे, ब्रह्मचारी थे तथापि अग्निका परिषह क्यों आया? इसलिये ब्रह्मचर्य से बाह्य परिषह दूर नहीं होते। अज्ञानी जीव धनकी प्राप्तिके लिये दुकान की देहरीके अथवा गल्लेके परों पड़ते हैं और भगवानका नाम लेते हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं। पूर्व पुण्यानुसार अनुकूल सामग्री प्राप्त होती है और पापका उदय हो तो प्रतिकूल।

कोई-कोई पण्डित कहते है कि जीवकी वर्तमान चतुराई के कारण अनुकूल सामग्री प्राप्त होती है, किन्तु यह भूल है। सामग्री तो सामग्री के कारण प्राप्त होती है उसमें वर्तमान बुद्धिमत्ता नहीं किन्तु पूर्व पुण्य निमित्त है। भगवानके नामके कारण सामग्री आती हो तो भगवान जड़के कर्ता हो जायें, किन्तु ऐसा नहीं है। सामग्री अपने कारण आती है उसमें कर्म निमित्त है—ऐसा बतलाना है। जो भगवानको सामग्री प्रदान करनेवाला मानता है वह व्यवहारा-भासी है। अरिहन्तकी स्तुति करने से पूर्व पापकर्मोंका संक्रमण होकर पुण्यरूप हो जाते हैं, और उनके निमित्तसे सामग्री प्राप्त होती है, इसलिये भगवानकी स्तुति पर वैसा आरोप आता है।

स्तुति में आता है कि 'हे प्रभु! मुझे तारो," वह निमित्त का कथन है। "तुझमें ज्ञानानन्द शक्ति विद्यमान है, तू स्वयं से ही

तरेगा,"—ऐसा भगवान कहते हैं। जो स्वयं तरता है उसे भगवान निमित्त कहलाते हैं। सीमंधर भगवान वर्तमान में विराजमान हैं, उनसे तरते हों तो महाविदेह क्षेत्रमें सब तर जाना चाहिये, किन्तु ऐसा नहीं होता। जो जीव पहले से ही संसार प्रयोजनके हेतुसे भक्ति करता है वह पापी है। पूजा करने से अनिष्ट टलेगा और इष्टकी प्राप्ति होगी—ऐसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि तो है ही तथा अशुभ परिणामी भी है। मंदिर बनवाने और पूजा करने से पुत्र प्राप्त होगा—ऐसा माननेवाले को मिथ्यात्व सहित पाप लगता है। अपने में कषायकी मंदता करे तो पूर्वके पाप कर्मोंका संक्रमण होता है, किन्तु आकांक्षावाले को पाप का संक्रमण नहीं होता, इसलिए उसका कार्य सिद्ध नहीं होता।

भगवानकी भक्तिसे मोक्ष होगा—ऐसा जो मानता है वह मिथ्यादृष्टि है। जो भगवानकी भक्तिमें ही तल्लीन हो जाता है किन्तु अपने ज्ञानस्वभावको ध्येय नहीं बनाता उसकी मुक्ति नहीं होती। अज्ञानी जीव भक्तिमें अति अनुराग करता है भगवान से कहता है कि "हे प्रभो! अब तो पार उतारो!" इसका अर्थ यह हुआ कि अभीतक भगवान ने डुबाया है, उन्हें अभीतक पार उतारना नहीं आया, किन्तु यह बात मिथ्या है। जीव अपने कारण तरता है और भटकता है। भक्तिके कारण मोक्ष माने तो अन्यमती जैसी दृष्टि हुई। जिसे आत्मा का भान हुआ है ऐसे जीवको शुभरागका व्यय होकर शुद्धदशा होगी तब मोक्ष होगा। इसलिये धर्मी जीवके शुभ रागको मोक्षका परम्परा कारण कहा है। अज्ञानी जीव भक्तिसे सम्यग्दर्शन मानता है वह भूल है। भक्ति तो बंधमार्ग है और सम्यग्दर्शनादि मुक्तिका मार्ग है। बंधमार्गको मुक्तिमार्ग मानना वह

मिथ्यात्व है। जीवों को सच्चा निर्णय करना चाहिये। धर्मी जीवको भक्तिका शुभराग आता है किन्तु उसे वह मुक्तिका कारण नहीं मानता। भगवान की भक्ति राग है, विकार है, पुण्य है, उपाधि है, उससे तो बन्ध होता है।

अपने कारण शुभभाव करे तो पुण्य बन्ध होता है किन्तु वह मोक्षका कारण नहीं है। मुनिको आहारदान देते समय शुभराग करे तो पुण्य बन्ध होता है। भावलिंगी संतको निर्दोष आहार दे, उनके लिये खरीदकर न लाये, उद्देशक आहार न दे, तथा भक्ति सहित विधिपूर्वक दे तो पुण्यसे भोगभूमि में उत्पन्न होता है। दयकी या मुनिकी भक्ति मुक्तिका कारण नहीं है। जैसा भगवान कहते हैं वैसी श्रद्धा तो करो मानमें गड़बड़ी नहीं चल सकती।

× × ×

[फाल्गुन शुक्ला ११ मंगलवार, ता० २४-२-५१]

ज्ञानी के ही सच्ची भक्ति होती है

सच्चे देव, निर्ग्रन्थ गुरु और शास्त्रकी भक्तिको धर्मी जीव बाह्य निमित्त मानता है। मेरा स्वरूप राग रहित है—ऐसे शुद्ध स्वरूपमें केलि करना सो मोक्षमार्ग है। अज्ञानी बाह्य क्रियाकाण्ड और पुण्यसे धर्म मानता है। सम्प्रदायमें जन्म लेनेसे जैन नहीं हुआ जाता, किन्तु गुण से जैन हुआ जाता है। जैन राग द्वेष मोहका विजेता है। धर्मी जीव भक्तिके रागको उपादेय नहीं मानता, किन्तु हेय मानता है। राग कभी भी हित करनेवाला नहीं है। त्रिलोकीनाथकी भक्ति भी हेय है। अशुभसे बचने के लिये शुभ आता है। ज्ञानी शुभ रागको हेय समझता है, उस धर्मी जीवके निश्चय और व्यवहार दोनों सच्चे हैं। आत्माका भान हुआ हो और सिद्ध समान अंशसे आनन्दका अनुभव

करता हो वह अविरति सम्यग्दृष्टि है। छट्ठे गुणस्थान वाले मुनिकी बात तो अलौकिक है, वे अन्तर आनन्दमें झूलते हैं। क्षण भरमे देह से आत्मपिण्ड पृथक् हो जाता है—ऐसी उनकी दशा होती है। यहाँ सम्यग्दर्शनकी बात है। सम्यग्दृष्टि जीव रागको उपादेय नही मानता। सच्चा जैन भक्तिके परिणाम छोडकर शुद्धमें रहने का प्रयत्न करता है। शुद्धमे न रह सके तो शुभ करता है, किन्तु उसे हेय मानता है।

पुण्य और धर्म दोनो वस्तुएँ भिन्न हैं। सात तत्त्व हैं। भगवान की भक्ति आस्रव तत्त्व है। संवर–निर्जरा धर्म है। सात तत्त्व पृथक हैं। विज्ञान द स्वभावके आश्रयसे जो दशा प्रगट होती है वह संवर निर्जरा है। आस्रवसे संवर नही होता। भक्तिसे अथवा पुण्यसे धर्म मानता है उसे नवतत्त्वकी श्रद्धा नही है। वह अज्ञानी मिथ्यादृष्टि है। अज्ञानी जीव आस्रवमे आनन्द मानता है। आत्मा तो सुन्दर आनन्दकन्द है, उसकी पर्यायमें रागद्वेषके परिणाम होते हैं, वह मल है। अशुभ राग तो मल है ही, किन्तु शुभराग भी मैल है। राग-रहित अन्तर परिणाम होना वह धर्म है। धर्मी जीव भक्तिके परिणाम को उपादेय नही मानता, किन्तु शुद्धोपयोगका उद्यमी होता है।

पं० टोडरमलजी श्री अमृतचन्द्राचार्य की पंचास्तिकाय गाथा १३६ की टीका का आधार देते हैं।

अयं हि स्थूललक्ष्यतया केवलभक्तिप्राधान्यस्याज्ञानिनो भवति। उपरितनभूमिकायामलब्धास्पदस्यास्थानरागनिषेधार्थं तीव्ररागज्वरविनोदार्थं वा कदाचिज्ज्ञानिनोऽपि भवतीति।

अर्थ—यह भक्ति, मात्र भक्ति ही है प्रधान जिनके ऐसे अज्ञानी

जीवों के ही होती है, तथा तीव्र रागज्वर मिटाने में हेतु और अस्थान के राग का निषेध करने के लिये कदाचित् ज्ञानी के भी होती है।

भक्ति से कल्याण होगा—ऐसी मान्यता सहित भक्ति अज्ञानी जीवों के ही होती है। ज्ञानी के तीव्र अशुभ राग मिटाने के लिये भक्ति का शुभराग आता है, तथापि उसे वे हेय समझते हैं।

ज्ञानी और अज्ञानी की भक्ति में विशेषता

प्रश्न —यदि ऐसा है तो ज्ञानी की अपेक्षा अज्ञानी के भक्ति की विशेषता होती होगी।

उत्तर —जिसे सम्यग्दर्शन हुआ है, जो पुण्य-पाप को हेय समझता है, देहादिकी क्रिया को ज्ञेय समझता है, चिदानन्द स्वभाव को उपादेय समझता है—ऐसे धर्मी जीवको सच्ची भक्ति होती है। मिथ्यादृष्टि जीव भक्ति को मुक्तिका कारण मानता है, इसलिये उसके श्रद्धान में अति अनुराग है। वह मानता है कि भगवान की भक्ति से सम्यग्दर्शन और मुक्ति होगी। सम्यग्दर्शन अरागी पर्याय है, क्या राग पर्यायमें से अरागी पर्याय आ सकती है ? नहीं, उसका निश्चय मिथ्या है इसलिये व्यवहार भी मिथ्या है। अज्ञानी जीव भक्ति में अति अनुराग करता है। भक्ति करते-करते कभी कल्याण हो जायेगा—ऐसा मानता है। राग करते-करते सम्यग्दर्शन नहीं होता। राग को हेय समझकर, आत्मा को उपादेय माने तो सम्यग्दर्शन होता है। श्रुतज्ञान प्रमाण-सम्यग्ज्ञान होने के पश्चात् निश्चय और व्यवहार-ऐसे दो नय होते हैं। जिसे निश्चय का भान नहीं है उसे व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि कहते हैं।

निश्चय समिति और व्यवहार समिति, निश्चय गुप्ति और व्यवहार गुप्ति—एसे दो प्रकार हैं। शुद्ध स्वभावम लीनता ही निश्चय गुप्ति है और वही निश्चय समिति है। आत्मामें लीन न हो, उस समय जो शुभराग आता है और अशुभसे बचता है वह व्यवहार गुप्ति है, और शुभमे प्रवृत्ति हो वह व्यवहारसमिति है। गुरुके स्वरूपकी पहिचान नही है और उनकी भक्ति करके धर्म मानता है वह मिथ्यादृष्टि है।

गुरु का स्वरूप समझे बिना गुरु मानना वह अज्ञान है।

अब, जन सम्प्रदायमे ज म लेकर शुद्ध जीव आज्ञानुसारी होते हैं। परीक्षा बिना सम्यग्दृष्टि नही हुआ जाता। यह हमारे गुरु हैं—ऐसा कहकर उनकी भक्ति करता है, किन्तु साधुके स्वरूपकी उसे खबर नही है। आत्मभान होने के पश्चात् मुनिदशामे भी व्यवहार आता है। व्यवहार आता ही नही—ऐसा माने तो वह मिथ्यादृष्टि है। और कोई परीक्षा करना भी है तो—"यह मुनि दया पालन हैं' —ऐसा मानकर उनकी भक्ति करता है। मुनि ४६ दोष रहित आहार लेते है उसम पाँच समिति क भाव आस्रव हैं। २८ मूल गुणमे जो समिति है वह आस्रव है अत हेय है। निर्विकल्प आनन्द-दशाम लीन होना वह निश्चय समिति है। और वह संवर निर्जरा है, उपादेय है।

समिति तो आस्रव है। अपने लिये बनाया हुआ आहारादि मुनि नही लेते। ऐसा जो न लेने का भाव है वह शुभभाव है, धर्म नहीं है। मुनिके निश्चय और व्यवहार दोनो होते हैं। चौथे गुणस्थान से निश्चय और व्यवहार दोनो होते है। श्रावकोंके व्यवहार और मुनियो के निश्चय होता है—ऐसा अज्ञानी मानते हैं, किन्तु वह भूल है। देह, मन, वाणीसे रहित और रागसे भी रहित आत्मामें निर्वि

रूप अनुभव सहित प्रतीतिका होना सो सम्यग्दर्शन है, वह निश्चय है और जो राग आता है वह व्यवहार है। दोनों का ज्ञान होना आवश्यक है। अज्ञानी जीव दया पालनके परिणामसे और निर्दोष आहार से मुनिपनेकी परीक्षा करता है, किंतु वह ठीक नहीं है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी एकता वह मुनिपना है। बाह्यसे परीक्षा करना यथार्थ नहीं है। परीक्षा बिना मान लेना अज्ञान है। निश्चय और व्यवहारके भान बिना सम्यग्दर्शन नहीं है, सम्यग्दर्शनके बिना सम्यग्ज्ञान नहीं है, सम्यग्दर्शन और ज्ञानके बिना चारित्र और ध्यान नहीं है, ध्यानके बिना केवलज्ञान नहीं है।

तीर्थंकर देव कहते हैं कि परीक्षा किये बिना मानना वह मिथ्यात्व है। यहाँ तो सच्चे मुनि की बात है। भावलिंगी मुनिको निर्दोष आहार लेने का विकल्प उठता है वह राग है, चारित्रका दोष है, आश्रव है। शुद्ध आहार न होने पर भी 'आहार शुद्ध है'—ऐसा कहना वह झूठ है। मुनि को ध्यान आ जाय कि यह दोष युक्त आहार है, तो नहीं लेते। अशुभसे निवृत्ति वह व्यवहार गुप्ति है। व्यवहार गुप्ति आश्रव है और निश्चय गुप्ति संवर है—ऐसा अच्छी तरह समझना चाहिये। कोई कहे कि निश्चय सम्यग्दर्शन सातवें गुणस्थान में होता है तो वह भूल है। निश्चय सम्यग्दर्शन चौथे गुणस्थानसे होता है, तत्पश्चात् मुनिपना आता है। मुनि पंच समितिका पालन करते हैं। ब्रह्मचर्य से मुनि की परीक्षा करे तो वह भी सच्ची परीक्षा नहीं है। ब्रह्मचर्यका पालन करके जीव अनन्तबार नववें ग्रैवेयक में गया है।

व्रतके दो भेद हैं—एक निश्चयव्रत और दूसरा व्यवहारव्रत।

अपने स्वभावसे च्युत होकर पाँच महाव्रतके परिणाम आवें वह निश्चय से हिंसा है, किन्तु जिस आत्मा का भान हो उसके अहिंसा के शुभभाव को व्यवहारसे अहिंसा कहते हैं। हमारे मुनि वस्त्र, धन आदि नहीं रखते, सकल मूलगुणोंका पालन करते, अपने लिये पुस्तक नहीं खरीदते —ऐसे ऐसे शुभ परिणाम भी आस्रव हैं। उनके द्वारा मुनि की परीक्षा करे तो वह परीक्षा सच्ची नहीं है।

पुनश्च, उपवास, अथवा वृत्तिपरिसंख्यानादि नियमसे मुनि की परीक्षा करे तो वह भी यथार्थ नहीं है। जीवने अनेकों बार ऐसे उपवासादि किये हैं। शीत–ताप सहन करना वह मुनिपना नहीं है, अंतरका अनुभव मुनिपना है। उसकी परीक्षा अज्ञानी नहीं करता। और कोई मुनि तीव्र क्रोधादि करे तो वह व्यवहाराभासमें भी नहीं आता किन्तु कोई मुनि बाह्य क्षमाभाव रखता हो और उसके द्वारा परीक्षा करे तो वह भी सच्ची परीक्षा नहीं है। दूसरों को उपदेश देना मुनि का लक्षण नहीं है, उपदेश तो जड़की क्रिया है, आत्मा उसे नहीं कर सकता। ऐसे बाह्य लक्षणों से मुनिकी परीक्षा करता है वह यथार्थ नहीं है ऐसे गुण तो परमहंस आदिमें भी होते हैं। दया पाले, उपवासादि करे–यह लक्षण तो मिथ्यादृष्टिमें भी होते हैं, ऐसे पुण्यपरिणाम तो जैन मिथ्यादृष्टि मुनियों तथा अन्य मतियोंमें भी दिखाई देते हैं, इसलिये उसमें अतिव्याप्ति दोष आता है। अतिव्याप्ति, अव्याप्ति और असम्भव दोष रहित परीक्षा न करे वह जीव मिथ्यादृष्टि है। शुभभावों द्वारा सच्ची परीक्षा नहीं होती।

क्रोधादि परिणामों को दूर करना आत्माश्रित है। शुद्धपरिणाम शुभपरिणाम और जड़के परिणाम—इन तीनों की स्वतंत्रताकी खबर

अज्ञानीको नहीं है। क्षुधा जडकी पर्याय है। अन्तर सहनशीलताके परिणाम होते हैं वह जीवाश्रित हैं। जठराग्निरूप क्षुधा जीवके नहीं है। अज्ञानी मानता है कि मुझे क्षुधा लगी है। इच्छा–विभावपरिणाम जीवके हैं। सम्यक्त्वीको भी विभावपरिणाम आते हैं। वह समझता है कि मेरी निर्बलताके कारण ये परिणाम आते हैं, परके कारण नहीं आते। कोई जीव परकी दया पालता है उस कथनमें परके शरीरकी क्रिया जडके आश्रित है, और अपने में अनुकम्पाके परिणाम हुए वे जीवाश्रित हैं। आहारादि बाह्य सामग्रीका न आना वह जडके आश्रित है और रागकी मंदता होना वह जीवाश्रित है–इसप्रकार जिसे जीवाश्रित और पुद्गलाश्रित भावोंकी खबर नहीं है वह मिथ्यादृष्टि है।

उपवासमें रागकी मंदता होना वह जीवाश्रित है और खाद्य-पदार्थोंका न आना वह जडाश्रित है क्रोधके परिणामोंका होना वह जीवाश्रित है और आँखें लाल हो जाना जडाश्रित है, उपदेश वाक्य जडके आश्रित हैं और उपदेश देने का भाव जीवके आश्रित है।—इसप्रकार जिसे दोनोंके भेदज्ञानकी खबर नहीं है वह सच्ची परीक्षा नहीं कर सकता। चैतन्य और जड असमानजातीय पर्याय हैं। जड की पर्याय मुझसे होती है—ऐसा अज्ञानी मानता है। वह असमान जाति मुनि पर्यायमें एकत्व बुद्धिसे मिथ्यादृष्टि ही रहता है।

मुनि का सच्चा लक्षण

अब, मुनिकी सच्ची परीक्षा करते हैं। मुनिके व्यवहार होना अवश्य है, किन्तु उससे उनकी सच्ची परीक्षा नहीं होती। सम्यग्दर्शन ज्ञान–चारित्रकी एकतारूप मोक्षमार्ग ही मुनिका सच्चा लक्षण है।

यहाँ एकताकी बात है, पूर्णताकी नहीं। चौथे, पाँचवें में सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान है। तत्पश्चात् आगे बढे तो प्रथम सातवाँ गुणस्थान आता है, फिर छट्ठा आता है। स्वरूपमें अकषाय परिणति होती है वह निश्चयव्रत है और जो शुभपरिणाम आते हैं वह व्यवहार व्रत है। चौथे गुणस्थानमें स्वरूपाचरण चारित्र है। देवादिकी श्रद्धा सम्यग्दर्शन नहीं है, शास्त्रोंका अध्ययन सम्यग्ज्ञान नहीं है, और २८ मूल गुणोंका पालन वह सम्यक्चारित्र नहीं है, वह सब व्यवहार है।

अष्टसहस्रीमें कहा है कि परीक्षा करके देवादिकी आज्ञा माने वह सम्यक्त्वी है। जिसप्रकार व्यापारी कोई वस्तु खरीदते समय परीक्षा करता है, उसीप्रकार यहाँ उपादान–निमित्त, स्वभाव–विभाव, द्रव्य–गुण–पर्याय आदिका स्वरूप समझकर परीक्षा करना चाहिये। भान बिना मुनिपना लेकर, शुक्ल लेश्या करके जीव नवमें ग्रैवेयक तक गया है, तथापि धर्म नहीं हुआ, और आत्माका भान करे तो मेंढक भी सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकता है। ज्ञानी अपनी शक्तिके अनुसार व्रत–तप करता है, हठ करे तो मिथ्यादृष्टि हो जाता है। मोक्षमार्गकी पहिचान हो जाये तो मिथ्यादृष्टि रह ही नहीं सकता, किन्तु मुनिका सच्चा स्वरूप न जाने तो सच्ची भक्ति कहाँ से होगी ?—नहीं हो सकती।

जिसप्रकार सुवर्ण कसौटी करके लिया जाता है, उसीप्रकार धर्मकी कसौटी करना चाहिये। धर्मकी कसौटी न करे तो नहीं चल सकता। अज्ञानी सच्चे मुनिके अंतरकी परीक्षा नहीं करता और व्यवहार तथा शुभ क्रियासे परीक्षा करके उनकी सेवा से भलाई मानता है, किन्तु परकी सेवासे भला नहीं होता, परकी सेवा का

भाव पुण्य है, धर्म नहीं है। अज्ञानी जीव उसमें भला मानकर सेवा करता है। गुरु की भक्ति अनुरागी होकर करता है।—इसप्रकार उसकी भक्ति का स्वरूप कहा।

× × ×

[फाल्गुन शुक्ला १३ गुरुवार ता० २६-२-५३]

अज्ञानी की शास्त्र भक्ति सम्बन्धी भूल

अब अज्ञानी की शास्त्र भक्तिका स्वरूप कहते हैं।

कोई जीव तो, यह केवली भगवानकी वाणी है केवली भगवान के पूज्यपने से उनकी वाणी भी पूज्य है—ऐसा मानकर उनकी भक्ति करते हैं। आत्मा और जडकी भिन्नताका तथा सात तत्त्वोंके पृथक्त्व की खबर नहीं है मात्र वाणी की भक्ति करते हैं तो वह पुण्यपरिणाम है, धर्म नहीं है।

पंचास्तिकाय गाथा १७२ की टीकामें श्री अमृतचन्द्राचार्य ने निश्चयाभासी और व्यवहाराभासी का वर्णन किया है। पर्याय में रागद्वेष होने पर भी उसे प्रगट शुद्ध मानकर वह निश्चयाभासी है। देवगुरु शास्त्रकी परीक्षा किये बिना शुभराग में धर्म माने वह व्यवहाराभासी है। जो जीव परीक्षा किये बिना वाणी को शुद्ध मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है।

और कोई इसप्रकार परीक्षा करता है कि—हमारे शास्त्रों में राग मंद करने का कहा है, किन्तु शास्त्र ने तो राग रहित ज्ञान स्वभाव की प्रतीति करने को कहा है। राग का अभाव करने को कहा है उसे वह नहीं समझता। कषाय मन्द करे वह पुण्य है धर्म नहीं है।

पुनश्च, हमारे शास्त्रों में जैसी दया है वैसी दया अन्यत्र नहीं है–ऐसा वह कहता है, किन्तु परकी दया जीव नहीं पाल सकता। परकी दया पालन का भाव पुण्य है, धर्म नहीं है–ऐसा शास्त्र कहते हैं। अज्ञानी उसे नहीं समझता। अपनी पर्याय में राग की उत्पत्ति न होना सो अहिंसा है। परकी दया का भाव निश्चय से हिंसा है।

'जियो और जीने दो'–ऐसा अज्ञानी कहते हैं। किसी का जीवन किसी पर के आधीन नहीं है। शरीर या आयु से जीना वह आत्मा का जीवन नहीं है। अपनी पर्याय में पुण्य–पाप के भाव स्वभाव की दृष्टि पूर्वक न होने देना और ज्ञाता–दृष्टा रहना उसका नाम जीवन है।

जैन आत्मा का स्वरूप है। जैन शास्त्र पर की दया पालन करने को नहीं कहते। अज्ञानी कहते हैं कि निगोद में अनन्तानन्त जीव हैं, दो इन्द्रियादि भी अनेक जीव हैं, उनकी दया पालना चाहिये, किन्तु वह भूल है। जगत्कर्ता ईश्वर की मान्यतावाला जीव जिसप्रकार मिथ्यादृष्टि है, उसी प्रकार पर जीवों की पर्यायको अपने शुभरागके आधीन माननेवाला परकी पर्याय का कर्ता होता है, वह भी ईश्वर को जगत् कर्ता माननेवालों की भाँति मिथ्यादृष्टि है।

कोई प्रश्न करे कि–देखकर चलने को तो कहा है न ? तो कहते हैं कि शरीर की पर्याय मुझसे होती है–ऐसा मानना वह मिथ्यात्व शल्य है। जड़ की पर्याय जड़ से होती है, तथापि आत्मा के ध्यान पूर्वक शरीर की ऐसी क्रिया करूँ और शरीर को ऐसा रखूँ तो जीव बच जायें—ऐसा मानने वाला जैन नहीं है। यदि आत्मा की इच्छा से शरीर में कार्य होता हो तो रोग क्यों आता है ? आत्माकी इच्छासे

शरीर की क्रिया होती हो तो वह पराधीन हो जाये । कोई पदार्थ दूसरे पदार्थ की क्रिया नहीं कर सकता । अपने ज्ञानानन्द स्वभावके भानपूर्वक राग न होने देना तथा राग रहित लीनता करना वह अहिंसा और दया है, और ऐसे भानपूर्वक दूसरे प्राणियों को दुःख न देने का भाव या व्यवहार दया है, वह पुण्यास्रव है। आत्मा पर जीव की पर्याय का तथा शरीर मन, वाणी की पर्याय का कर्ता नहीं है। यदि जड़ की क्रिया आत्मा से हो तो जड़ के द्रव्य और गुण ने क्या किया ? जगत को अनेकान्त तत्त्व की खबर नहीं है। आत्मामें जड़ नहीं है और जड़ में आत्मा नहीं है -इस प्रकार जिसे अनेकान्त की खबर नहीं है और बाह्य में दया मानता है वह मिथ्यादृष्टि है।

और वह कहता है कि हमारे शास्त्रों में क्षमा का कथन है, तो अन्य मत के शास्त्रों में भी क्षमा का कथन है। वैराग्य और क्षमा शास्त्रों को पहिचानने का लक्षण नहीं है। फिर कहता है कि हमारे शास्त्रों में शील पालने तथा सन्तोष रखने को कहा है, इसलिये हमारे शास्त्र ऊँचे हैं, तो मंद शुभ परिणाम रखने को तो अन्य मत के शास्त्रों में भी कहा है, इसलिये यह लक्षण सच्चा नहीं है। पुनश्च, इन शास्त्रोंमें त्रिलोकादिका गम्भीर निरूपण है, ऐसी उत्कृष्टता जानकर उनकी भक्ति करता है। अब, जहाँ अनुमानादि का प्रवेश नहीं है वहाँ सत्य-असत्य का निर्णय कैसे हो सकता है ? इसलिये इसप्रकार तो सच्ची परीक्षा नहीं हो सकती।

जैन शास्त्रों का सच्चा लक्षण

यहाँ जैन शास्त्रों में तो अनेकान्त रूप सच्चे जीवादि तत्त्वों का निरूपण है। शरीर में आत्मा का अभाव है, आत्मा में शरीर का

अभाव है, कर्म का आत्मा मे अभाव है, आत्मा का कर्म मे अभाव है, ऐसा कथन अनेकान्त स्वरूप शास्त्रो मे होना चाहिये। शरीर जड है, वह आत्मा से नही चलता। शरीर आत्मा से पृथक् है तो उसकी क्रिया भी पृथक है—इसप्रकार ज्ञानी अनेकान्त द्वारा शास्त्रो की पहिचान करता है। शरीर मे रोग आये वह जड की पर्याय है, द्वष होना वह आस्रव है, जड की पर्याय मे आस्रव का अभाव और आस्रव में जड का अभाव है—ऐसा माने वह अनेकान्त है। मैं जीव हूँ और दूसरे अनन्त जीव तथा अनन्तानन्त पुद्गल में नही हूँ, अर्थात् पर की पर्याय मुझसे नही है और मेरी पर्याय पर मे नही है,—ऐसा अनेकान्त है। अज्ञानी मानता है कि पर जीव के बचने से मुझे पुण्य होता है, और मुझे शुभ भाव हुआ इसलिये पर जीव बच गया, किन्तु ऐसा मानने से अनेकान्त नही रहता। परजीव की पर्याय पर मे है और शुभ भाव स्वतन्त्र तुझमें है, दोनो को स्वतन्त्र समझना चाहिये। भगवान की प्रतिमा के कारण शुभ भाव माने तो एकान्त हो जाता है। शुभ भाव हुआ इसलिये मन्दिर बन गया तो एकान्त हो जाता है। जैन शास्त्र सात तत्त्वो को पृथक रूप बतलाते हैं। जीव है इसलिये अजीव है—ऐसा नही है। शुभ परिणाम हैं इसलिय अजीव की पर्याय होती है—ऐसा नही है। पाप के परिणाम हुए इसलिए पर जीव मर गया—ऐसा नही है। पापपरिणाम जीवमें होते हैं, और पर जीव पृथक तथा स्वतन्त्र है। उमास्वामी महाराज सात तत्त्वो की श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहते हैं। जीव में अजीवादि छह तत्त्वो का अभाव है। अजीव में जीवादि छह तत्त्वो का अभाव है। पाप—परिणाम अपने मे होते हैं और परजीव उसके अपने कारण मरता है। और अपने शुद्ध स्वभाव के आश्रय से प्रगट होने

वाली शुभ-अशुभ-रहित संवर पर्याय शुद्ध है। पुण्य से संवर माने तो आस्रव और संवर एक हो जाय। ऐसी परीक्षा किये बिना शास्त्र की भक्ति करे तो पुण्य है उससे जन्म-मरण का अंत नहीं आता। एक में दूसरा तत्त्व नहीं है। मैं त्रिकाली ज्ञायक तत्त्व हूँ और संवर-निर्जरा पर्याय है। त्रिकाली द्रव्य में पर्याय नहीं है और पर्याय में त्रिकाली द्रव्य नहीं है ऐसा समझना चाहिये।

निमित्त के कारण नैमित्तिक नहीं है। शास्त्र के कारण ज्ञान हुआ—ऐसा नहीं है, और ज्ञान हुआ इसलिये शास्त्रको आना पड़ा—ऐसा भी नहीं है। दोनों पदार्थ भिन्न-भिन्न हैं एक में दूसरे का अभाव है।—ऐसी परीक्षा नहीं है और बिना समझे शास्त्रकी भक्ति करे तो धर्म नहीं है। शास्त्र का लक्षण दया, वैराग्यादि मानने से अतिव्याप्ति दोष आता है, क्योंकि मंद परिणाम करना तो अन्य मत के शास्त्रों में भी कहा है। अनेकान्तस्वरूप सच्चे जीवादि तत्त्वों का निरूपण—वह शास्त्र का लक्षण है।

और दिव्यध्वनि में तथा शास्त्रों में सच्चा रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग कहा है। व्यवहार रत्नत्रय अपूर्ण दशा में आता है, किन्तु वह सच्चा मोक्षमार्ग नहीं है। ज्ञान स्वभावी आत्मा की प्रतीति, स्वसंवेदन ज्ञान और राग रहित रमणता को मोक्षमार्ग कहते हैं। जिस प्रकार अरिहंत का लक्षण वीतरागता और केवलज्ञान है किन्तु बाह्य समवसरणादि लक्षण नहीं है, उसी प्रकार मुनि का लक्षण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता है, किन्तु शरीर की नग्न दशा सच्चा लक्षण नहीं है। उसी प्रकार शास्त्र का लक्षण नवतत्त्वों की भिन्नता और सच्चा रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग है, किन्तु दया-दानादिकी प्ररूपणा वह शास्त्र का लक्षण नहीं है।

उनके सब बर्तन टूट जाते हैं। उसी प्रकार अनेकान्त तत्त्वों में भूल रह जाये और एकान्त हो जाये तो सब भूल ही होती है। देव, गुरु और शास्त्र कहते हैं कि प्रत्येक तत्त्व पृथक है, तथा शुद्ध आत्मा के आश्रय से वीतरागता होती है, इसमें कहीं भूल अथवा विपरीत अभिप्राय रह जाये तो मोक्षमार्ग नहीं होता।—इसप्रकार शास्त्र भक्तिका स्वरूप कहा।

—इसप्रकार उसे देव-गुरु-शास्त्र की प्रतीति हुई है इसलिये वह अपने को व्यवहार सम्यक्त्व मानता है, किन्तु निश्चय प्रगट हुए बिना व्यवहार कैसा? अरिहन्तादि का सच्चा स्वरूप भासित नहीं हुआ है इसलिये प्रतीति भी सच्ची नहीं है और सच्ची प्रतीति के बिना सम्यक्त्व की भी प्राप्ति नहीं है, इसलिये वह मिथ्यादृष्टि ही रहता है।





तत्त्वार्थश्रद्धान की अयथार्थता

उमास्वामी महाराज ने तत्त्वार्थ सूत्रकी रचना की है, उसमें "तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्" सूत्र है। उसमें तत्त्व=भाव, और अर्थ=पदार्थ, (द्रव्य, गुण, पर्याय)। पदार्थके (अर्थात् द्रव्य, गुण, पर्याय के) भावका यथार्थ भासन होना वह निश्चय सम्यग्दर्शन है। यहाँ व्यवहार सम्यग्दर्शनकी बात नहीं है। इसलिये जो सात तत्त्वों की भिन्न-भिन्न यथार्थ रूपसे श्रद्धा करता है उसे सम्यग्दर्शन होता है। जीवका स्वभाव ज्ञायक शुद्ध चिदानन्द है, राग और शरीरसे भिन्न है। शरीर, कर्म आदि अजीव हैं और अजीवका स्वभाव जड़ है। पुण्य-पापके परिणाम आस्रव हैं, और उसका स्वभाव आकुलता है। मेरा स्वभाव अनाकुल आनन्द है। विकार में अटकना वह बन्ध है। आत्मा की शुद्धि अर्थात् यथार्थ रुचि ज्ञान और रमणता वह संवर-तत्त्व है। शुद्धिकी वृद्धि होना वह निर्जरा तत्त्व है और सम्पूर्ण शुद्धि वह मोक्ष है। सात तत्त्वों में जीव और अजीव द्रव्य हैं, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष-यह पर्याय हैं।—इसप्रकार सात तत्त्वार्थ यथार्थ और पृथक्-पृथक् भावका श्रद्धान और भासन होना वह सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है। अज्ञानीको ऐसा श्रद्धान और भासन नहीं होता।

मुनिका शुभराग निमित्तमात्र है मुनि वास्तवमें शास्त्रके कर्ता नहीं है। शुभराग आता है वह आस्रव है, उसे मुनि जानते हैं। मुनि द्वारा शास्त्रकी रचना हुई—ऐसा कहना वह निमित्तका कथन है।

शास्त्रोंमें जसे जोवादि तत्त्व लिखे हैं उसीप्रकार अज्ञानी स्वयं सीख लेता है वहाँ उपयोग लगाता है और दूसरों को उपदेश देता है, किन्तु स्वयको तत्त्वोंका भाव भासन नहीं है, इसलिये सम्यक्त्व नहीं होता।

× × ×

[फाल्गुन शुक्ला १४ शुक्रवार ता० २७-२-५३]

अब कदाचित् कोई शास्त्रानुसार सात तत्त्वोंकी श्रद्धा करके शास्त्र में लिखे अनुसार सीख ले, शास्त्र क्या कहते हैं उसमें उपयोग लगाये दूसरों को उपदेश दे किन्तु जीव-अजीवादिके भावकी उसे खबर नहीं है, तो भाव भासनके बिना तत्त्वार्थश्रद्धा कहाँ से होगी? नहीं हो सकती। भाव भासन किसे कहते हैं वह यहाँ कहते हैं।

भावभासनका दृष्टान्तसहित निरूपण

जिसप्रकार कोई पुरुष चतुर होने के हेतु संगीत शास्त्र द्वारा स्वर, ग्राम, मूर्च्छना और तालके भेद तो सीखता है, किन्तु स्वरादि का स्वरूप नहीं जानता, और स्वरूपकी पहिचानके बिना अन्य स्वरादिको अन्य स्वरादिरूप मानता है अथवा सत्य भी माने तो निर्णय पूर्वक नहीं मानता इसलिये उसमें चतुरता नहीं होती। उसीप्रकार कोई जीव सम्यग्ज्ञान प्राप्त करने के लिये शास्त्रमें से जीव-अजीवका स्वरूप सीख लेता है, किन्तु आत्मा ज्ञानस्वभावी है, पुण्य पाप आस्रव हैं उन सबका निर्णय अपने अन्तरसे नहीं करता। शास्त्र से सीखता है किन्तु मैं ज्ञायक स्वरूप हूँ, पुण्य-पाप विकार है, शरीर अजीव है, आत्माके आश्रयसे शुद्धता प्रगट हो वह संवर-निर्जरा है, इसप्रकार निर्णयपूर्वक नहीं समझता वह व्यवहाराभासी है। वह अन्य तत्त्वोंको अन्य तत्त्वरूप मान लेता है, अथवा सत्य माने तो वहाँ

ज्ञाता रहना एसा कहा था, लेकिन उसे वे भूल गये, तथापि उन्हें ऐसा भावभासन था। एकबार आहार लेने जा रहे थे। मार्गमें एक स्त्री उड़दकी दाल के छिलके निकाल रही थी। दूसरी स्त्रीने जब उससे पूछा कि क्या कर रही है? तब उसने उत्तर दिया कि 'तुषमापभिन्न" करती हूँ। माष अर्थात् उड़द और तुष अर्थात् छिलका। उड़दकी दाल से छिलके अलग कर रही हूँ। मुनि को भान तो था ही कि मैं शुद्ध चिद्घन द्र हूँ, किन्तु विशेष लीनता करके वे वीतराग दशाको प्राप्त हुए। मैं मन, वाणी, देहसे भिन्न हूँ, राग रूप छिलके हैं उनसे रहित हूँ ज्ञान स्वभावी हूँ—ऐसी विशेष लीनता करके वे केवलज्ञानको प्राप्त हुए। यह सम्यग्दर्शनके पश्चात्की बात है। शिवभूति मुनि जो शब्द बोले थे वे सैद्धांतिक शब्द नहीं थे, किन्तु स्व-परके भानसहित ध्यान किया, इसलिये केवलज्ञान प्राप्त कर लिया।

ग्यारह अङ्गका पाठी हो अथवा उग्र तपश्चर्या करे, तथापि जिसे आत्माका भान नहीं है वह मिथ्यादृष्टि है। और ग्यारह अङ्गका पाठी तो जीवादि के विशेष जानता है, किन्तु उसे अन्तरंग भाव भासित नहीं होते इसलिये वह मिथ्यादृष्टि रहता है। अभव्यको नाम निक्षेपसे तत्त्वका श्रद्धान है, किन्तु भावनिक्षेपसे भावभासन नहीं है। जो जीव सांसारिक बातों में चतुराई बतलाता है, किन्तु धर्म में मूढ़ता प्रगट करता है उसे धर्मकी प्रीति नहीं है, तथा यदि शास्त्रकी प्रीति हो, किन्तु भावभासन न हो तो वह भी मिथ्यादृष्टि है।

जीव-अजीवतत्त्व के श्रद्धानकी अयथार्थता

वीतराग शास्त्रों में जैसी जीवादि तत्त्वोंकी बात है वैसी अन्यत्र

कहीं नहीं है। भगवान की वाणी के अनुसार आचार्यों ने शास्त्रों की रचना की है। समयसार, नियमसार पटखण्डागम आदि जन शास्त्र हैं। उनमें कहे हुए त्रस-स्थावरादिरूप जीवके भेद सीखता है गुणस्थान, मार्गणास्थान के भेदों को पहिचानता है जीव-पुद्गलादिके भेदों को और उनके वर्णादि भेदों को जानता है, व्यवहार-शास्त्रों की बातें समझता है, किन्तु अध्यात्म शास्त्रोंमें भेदविज्ञानके कारणभूत तथा वीतरागदशा होने के कारणभूत जैसा निरूपण किया है वैसा नहीं जानता। आत्मा जड कर्मसे भिन्न है—ऐसा यत यस्वरूप अध्यात्म शास्त्रमें कहा है, व्यवहारशास्त्रमें कर्मके साथ निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध कहा है। अध्यात्मशास्त्रमें ऐसा कहा है कि गुणस्थान-मार्गणास्थान जीवका मूलस्वरूप नहीं है। वीतरागदशाका सच्चा कारण जीव-द्रव्य है। अध्यात्मशास्त्रमें किस अपेक्षासे कथन है उसे नहीं समझता।

आगम शास्त्रमें जीवका स्वरूप मार्गणास्थान, गुणस्थान तथा वर्तमान पर्याय सहित कहा है, और अध्यात्म शास्त्रमें मुख्यत मात्र शुद्ध कहा है। वर्तमान पर्यायको गौण करके त्रिकाली शुद्ध स्वभाव को जीव कहा है, उसके स्वरूपको अज्ञानी यथार्थ नहीं जानता, और किसी प्रसंग पर वैसा भी जानना पडे तो शास्त्रानुसार जान लेता है। किन्तु अपने को अपने रूप जानकर उसमें परका अंश भी न मिलाना, तथा अपना अंश परमें न मिलाना—ऐसा सच्चा श्रद्धान नहीं करता। स्वयं अपने को नहीं जानता। मैं तो नायक चिदानन्द हूँ कर्म-शरीर का अंश अपने में नहीं मानना चाहिये, शरीरकी क्रिया मुझसे होती है—ऐसा नहीं मानना चाहिये। आत्माकी इच्छा

कम और शरीरमें कार्यकारी नहीं है, और अपनी ज्ञानपर्याय शास्त्र मे नहीं है—ऐसा भेदज्ञान नहीं करता। मैं इच्छा करता हूँ इसलिये परकी दयाका पालन होता है—ऐसा मानने से जीवका अंश अजीव म आ जाता है। कर्मके उदय अनुसार जीवको रागादि करना पडता है ऐसा मानने से अजीवका अंश जीवमें आ जाता है।

अब, कोई जीव तत्त्वों के नाम अध्यात्मशास्त्रानुसार जान ले, किन्तु ऐसा मान ले कि वाणीसे ज्ञान होता है तो वह मिथ्यादृष्टि है। परसे सम्यग्दर्शन नहीं होता, अपने आत्माकी श्रद्धासे होता है। मैं हूँ इसलिये कर्म बंध होता है यह बात मिथ्या है। एक तत्त्वको दूसरे म न मिलाये तो ठीक है, किन्तु वसी भिन्नता उसे भासित नहीं होती इसलिये जीव–अजीवकी सच्ची श्रद्धा नहीं होती। जिस प्रकार अन्य मिथ्यादृष्टि निर्धार बिना पर्याय बुद्धिसे ज्ञातृत्वमें तथा वर्णादिकमें अहंबुद्धि धारण करते हैं, ज्ञातृत्व हो वह भी मैं हूँ, शरीर वर्णादि भी मैं हूँ और रागादि भी मैं हूँ—इसप्रकार सबको एक मानता है, उसी प्रकार जैन कुलमें जन्म लेकर ऐसा माने कि "मैं उपदेश देता हूँ अथवा शरीरको चलाता हूँ" तो वह भी जीव–अजीवको एक करता है। उपदेश और शरीरकी क्रिया तो जडकी है, वह क्रिया आत्मा नहीं कर सकता, तथापि जो ऐसा मानता है कि वह मुझसे हुई है वह जीव–अजीवकी सच्ची श्रद्धा नहीं करता, इसलिये वह मिथ्यादृष्टि है।

× × ×

[फाल्गुन शुक्ला १५ शनिवार ता० २८–२–५१]

यहाँ व्यवहाराभासी का निरूपण हो रहा है। जीवकी क्रिया जीवमे है और अजीवकी अजीवमे,—उसका जिसे भान नहीं है वह मिथ्यादृष्टि है।

जिसप्रकार अन्यमती जीव बिना निर्णय किये वर्तमान भ्रम में दृष्टि करता है और नातृत्व तथा वर्णादिमें अहंबुद्धि धारण करता है उसीप्रकार जैन में जन्म लेकर ऐसा माने कि मैं ज्ञानवान हूँ और उपदेश भी देता हूँ, वह जीव और अजीवको एक मानता है। ज्ञान आत्माश्रित है और उपदेश जड़ाश्रित—ऐसी उसे खबर नहीं है। पुनश्च, उपवासके समय शरीरका क्षीण होना अथवा भोजनका छूटना वह जड़की क्रिया है, तथापि उसे अपनी मानता है वह व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि है। दया-दानादिके तथा ज्ञानादिक परिणाम आत्माश्रित हैं और शरीरकी क्रिया जड़ाश्रित है, तथापि जो सब क्रियाओं को आत्माश्रित मानता है वह मिथ्यादृष्टि है। ज्ञानपर्याय, रागपर्याय और देहादि जड़की पर्याय—सबको वह एक मानता है। उपदेश मैंने दिया और राग भी मैंने किया—ऐसा वह मानता है। भगवान के पास जाने का शुभराग आत्माश्रित है और शरीरका हलन-चलन, हाथ जुड़ना आदि पुद्गलाश्रित है, तथापि दोनों को एक मानना वह भूल है।

और किसी समय शास्त्रानुसार सच्ची बात भी बनाये किन्तु वहाँ अंतरंग निर्धाररूप श्रद्धान नहीं है। शरीर की और परजीवकी क्रिया मेरी नहीं है, ज्ञान और राग होता है वह जीव करता है—ऐसी खबर नहीं है, अंतरंग में शास्त्रानुसार श्रद्धान नहीं है। जिस प्रकार नशेबाज व्यक्ति माता को माता भी कहे तथापि वह सयाना नहीं है, उसी प्रकार इसे भी सम्यग्दृष्टि नहीं कहते। कोई शास्त्रोंकी बात कहे, किन्तु अंतर में श्रद्धान नहीं हुआ तो उसे सम्यग्दृष्टि नहीं कहते। जीव ने इच्छा की इसलिये शुद्ध आहार आया—ऐसी मान्यता वाला जीव और अजीव को एक मानता है। सात तत्त्वों में

उसे जीव-अजीव की प्रतीति का भी ठिकाना नहीं है। जिसप्रकार कोई दूसरे की ही बात करता हो उसी प्रकार यह जीव आत्मा का कथन करता है, किन्तु मैं स्वयं ही आत्मा हूँ, पुण्यपरिणाम विकार है और शरीरादि जड़ हैं—ऐसी भिन्नता उसे भासित नही होती। आत्मा से शरीर भिन्न है-ऐसा वह कहता है, किन्तु शरीर की क्रिया मैं नही कर सकता, शरीर से मेरा आत्मा बिलकुल पृथक् है-ऐसा भाव अपने मे नही बिठाता। जड की पर्याय प्रतिक्षण जड से होती है, अपने परिणाम पृथक हैं ऐसे भिन्नत्व का भास नही होता इसलिये वह मिथ्यादृष्टि है।

नैमित्तिक क्रिया स्वतंत्र होती है, उसमें अन्य पदार्थ निमित्त मात्र हैं।

पर्याय मे जीव-पुद्गल के परस्पर निमित्त से अनेक क्रियाएँ होती हैं, उन सबको दो द्रव्यो के मेल से उत्पन्न हुई मानता है, मैं जीव हूँ इसस शरीर चलता है, इन्द्रियाँ हैं इसलिये मुझे ज्ञान होता है-ऐसा मानता है, किन्तु इन्द्रियाँ तो निमित्त मात्र हैं—ऐसा नही जानता। *निमित्त है इसलिये कार्य होता है—ऐसा मानता है।* भाषा निकलती है वह नैमित्तिक है और उसमे रागी का राग निमित्त मात्र है। राग हुआ इसलिये भाषा निकलती है—ऐसा नही है। आँख, कान आदि इन्द्रियों के कारण ज्ञान हुआ माने वह एकत्वबुद्धि है। इच्छाके कारण हाथ चला और रोटी आदि के टुकडे हुए—ऐसा वह मानता है, रसोई बनाते समय रोटी जल जाती है वह उसके अपने कारण जलती है, तथापि रसोइन स्त्री ने ध्यान नहीं रक्खा इसलिये जल गई—इत्यादि मानना वह भ्रमणा है। स्त्री तो निमित्त मात्र है,

तथापि स्त्री का ध्यान न होना और रोटी का जल जाना—इन दो क्रियाओं का होना एक जीव से मानना मूढ़ता है। पुद्गल की पर्याय अपने कारण होती है तब दूसरे पदार्थ को निमित्त कहा जाता है।

बालक के हाथ से काँचका गिलास गिरकर फट जाये वहाँ पुद्गल की पर्याय नमित्तिक है और बालक का बेध्यानपना निमित्त है। ज्ञानी धर्मात्मा को अल्प रागद्वेष होता है, तथापि समझते हैं कि माया तो माया के कारण निकलती है, निबलता से दूर आता है, किन्तु वे पर के स्वामी नहीं बनते। आत्मा में रागद्वेष अथवा ज्ञान अपने से होता है, उसमें पर पदार्थ निमित्त मात्र हैं। निमित्त है इसलिये क्रोध आता है—ऐसा नहीं है। डाक्टर अपने कारण आता है, जीवकी इच्छा के कारण नहीं आता। पग की क्रिया पग के कारण है, जीवकी इच्छा के आधीन नहीं है।

अज्ञानी जीव मानता है कि दो पदार्थ साथ मिलकर एक कार्य करते हैं। रसोइन ने ध्यान नहीं दिया इसलिये कढ़ी उफनकर नीचे गिरती है ? नहीं। जड़की क्रिया जड़से होती है। मूर्ख रसोइन स्त्री मानती है कि मैं उपस्थित होती तो चूल्हे में से लकड़ी निकाल लेती, और कढ़ी को उफनने से बचा लेती, किन्तु यह मान्यता मूढ़ की है। अज्ञानी मानता है कि मैं विचारक हूँ इसलिये संसारकी व्यवस्था कर सकता हूँ, मैं देशका, कुटुम्बका व्यवस्थापक हूँ—ऐसा मानता है वह मूढ़ है। मूर्खसे जड़की अवस्था बिगड़ती है और चतुरसे सुधरती है—वह ऐसा जो मानता है वह मिथ्यादृष्टि है। जीवकी चतुराई पसे में भी काम नहीं आती। व्यापारी मूर्ख है इसलिये व्यापार में लाभ नहीं होता और चतुर है इसलिये लाभ होता है—ऐसा मानना वह

मूढता है। तिजोरी मे ताला लगाता है, वहाँ ताले की पर्याय तो अजीव की है, जीव के कारण वह नही होती। चोर तो चोरी का भाव करता है और हाथ म पिस्तौल रखता है वह जड की क्रिया है चोर की इच्छानुसार पिस्तौल नही चलती। पिस्तौल की क्रिया जड के कारण है, उसमे चोर का द्रव्यभाव निमित्त मात्र है।

इसप्रकार नमित्तिकदशा और निमित्त की स्वतन्त्रता की जिसे खबर नही है अर्थात् उसका सच्चा भावभासन नही हुआ है उसे जीव-अजीव का सच्चा श्रद्धानी नही कहा जा सकता। अज्ञानी कदाचित् कहे कि जीव-अजीव पृथक हैं किन्तु उस भावभासन नही है। जीव-अजीव को जानन का यही प्रयोजन है कि जीव की पर्याय जीव से होती है उसमें अजीव निमित्त मात्र है—ऐसा भावभासन होना चाहिये वह अज्ञानी को नही होता। इसप्रकार मिथ्यादृष्टिके जीव-अजीव तत्त्व के श्रद्धान की अयथार्थता बतलाई। पुद्गल जाति अपेक्षा से एक हैं किन्तु सख्या से अनन्तानन्त हैं। एक पुद्गल से दूसरे पुद्गल म कार्य हो तो अनन्तानन्त पुद्गल नही रहते।—इसप्रकार सात तत्त्वो का भान नही है और माने कि मैंने पर की दया की तो वह भ्रान्ति है। यहाँ कोई प्रश्न करे कि पुद्गल पुद्गल तो सजातीय हैं, तो फिर एक पुद्गल दूसरे का कुछ कर सकता है न ? नहीं, एक उंगलीके स्कन्ध म अनन्त परमाणु हैं, उन प्रत्येक की क्रिया भिन्न-भिन्न है।

एक परिनाम के न करता दरव दोइ,
दोइ परिनाम एक दर्व न धरतु है।
एक करतूति दोइ दर्व कबहू न करें,
दोइ करतूति एक दर्व न करतु है॥

"समयसार नाटक" में यह बात कही है। दो द्रव्य एक परिणाम का नहीं करते, एक द्रव्य दो परिणाम नहीं रखता, दो द्रव्य एकत्रित होकर एक परिणाम करें—ऐसा कभी नहीं होता और एक द्रव्य कर्ता होकर दो परिणाम करे—ऐसा नहीं होता।—इसप्रकार जिसे यथार्थ श्रद्धान नहीं है उसे जीव-अजीव की स्वतंत्रता की खबर नहीं है, इसलिये वह मिथ्यादृष्टि है।

× × ×

[चत्र कृष्णा २, सोमवार, ता० २-३-५१]

आस्रवतत्त्व के श्रद्धान की अयथार्थता

और आस्रवतत्त्वमें जो हिंसादिरूप पापास्रव है उसे तो हेय जानता है तथा अहिंसादिरूप पुण्यास्रव है उसे उपादेय मानता है। दया, ब्रह्मचर्यादि के परिणाम जीवसे स्वयं होते हैं, उन परिणामोंरूप क्रिया जीव से हुई है, कर्म के कारण नहीं हुई। जो जीव कर्म के कारण दया-दानादि के परिणाम माने तो जीव-अजीव तत्त्वमें भूल है। शुभ-अशुभ परिणाम कर्म से होते हैं, वह जीव-अजीव तत्त्वकी भूल है, आस्रवतत्त्व की भूल नहीं है किन्तु जिस जीवके ऐसी भूल है उसकी तो सभी तत्त्वों में भूल है। दया-दानादि के परिणाम जीव के अस्तित्वमें हैं, कर्म निमित्तमात्र है। स्वयं से केवलज्ञान हो उसमें केवलज्ञानावरणीय का अभाव निमित्तमात्र है,—ऐसा यथार्थ न समझे और माने कि निमित्त है इसलिये कार्य हुआ, वह जीव अजीव तत्त्व की भूल है। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध पृथक् स्वतंत्र न माने तो दो के अस्तित्व का प्रयोजन सिद्ध नहीं हुआ। जीव में भावबंध होता है वह स्वतन्त्र है और द्रव्यबंध भी स्वतन्त्र है। भावबंध से

कारण द्रव्य कर्मोंका बन्ध माने तो अजीव परतन्त्र हो जाता है। कर्मबन्ध कर्मके कारण होता है उसमें भाव आस्रव निमित्तमात्र है। ऐसा न माने तो जीव–अजीव दोनो में भूल है जब जीव स्वतन्त्र विकार करता है तब कर्मबन्ध कर्म के कारण होता है, वह भी स्वतन्त्र है।

निमित्त का ज्ञान कराने के लिए व्यवहार से कथन आता है कि–जीवने विकार किया इसलिये कर्मबन्ध हुआ किन्तु उसका तात्पर्य में स्वतन्त्र निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध समझना चाहिये। कर्मों का बन्धन कर्मके कारण होता है तब जीव का विकार निमित्तमात्र है–ऐसा समझना चाहिये। जिसे सच्ची प्रतीति हो उसे सच्चा ज्ञान होता ही है। श्री समयसार के बन्ध अधिकार में भी यही कहा है कि —

सब जीवो के जीवन–मरण होना, वह उनके अपने आश्रित है। अपने जीवन–मरण दूसरे के आश्रित नही हैं। परजीवो को मारना या बचाना क्या जीवके हाथ की बात है ? नही, शरीर की क्रिया शरीर के कारण होती है, उसमे जीव निमित्तमात्र है। सब जीवोके जीवन–मरण, सुख–दुःख अपने–अपने कर्मोदयके निमित्तसे हैं। जीव अपने आयुकर्मके निमित्त से जीता है—यह भी व्यवहार का कथन है। जीव अपनी स्वतन्त्र योग्यतासे रहता है, उसमें आयुकर्म निमित्तमात्र है, किन्तु दूसरा जीव निमित्त नही है ऐसा यहाँ बतलाना है। अज्ञानी जीव मानता है कि मैं हूँ इसलिये परके जीवन–मरण, सुख-दुःख होते हैं, तो वह जीव–अजीव तत्त्वकी भूल है, और दया दानादि के परिणामोको उपादेय मानना वह आस्रव तत्त्वको भूल है। पुनश्च, सुख–दुःख के सयोग प्राप्त होने में वेदनीय कर्म निमित्त है, उसम

दूसरा जीव सीधा निमित्त नही है। सामग्री आती है वह अपने कारण आती है, उसमे वेदनीय निमित्त है, और जीव सुख-दुखकी कल्पना करता है वह स्वतंत्र करता है उसमें दर्शन मोहनीय निमित्त है। दूसरा जीव सुख-दुख नही दे सकता। मैं दूसरो को निभा रहा हूँ—ऐसा मानकर परपदार्थों का कर्ता होता है वह मिथ्या दृष्टि है।

मैं दूसरे को जिलाता हूँ मैंने दूसरा को सुखी किया, उनकी क्षुधा-तृषा मिटाई,-ऐसा अभिमान करता है वह भ्रांति है पर जीव को सुखी करनेका अथवा जिलानेका अध्यवसाय हो वह तो पुण्य बंधका कारण है, इसलिये सतुष्ट होने जैसा नही है। अज्ञानी जीव पुण्य होने से प्रसन्न होता है कि पुण्य बंध तो हुआ न! वह मिथ्यादृष्टि है। और मारने तथा दुखी करने का अध्यवसाय हो वह पापबन्ध के कारणरूप है।

सत्य बोलना, बिना पूछे वस्तु न लेना, शरीर से ब्रह्मचर्य का पालन करना आदिमें शुभ भाव है और उससे पुण्य बंध होता है। उसमे सन्तुष्ट हो तो वह महान भूल है। तत्त्वार्थ-श्रद्धानसे विरुद्ध श्रद्धा करे वह निगोदका आराधक है। मुनि नाम धारण करके वस्त्रादि परिग्रह रखे तो महान पापी है। मुनिपना न होने पर भी मुनित्व माने वह निगोदका आराधक है—ऐसा श्री कुंदकुंदाचार्य कहते हैं।

यहाँ अज्ञानी, "मैंने शरीर से ब्रह्मचर्यका पालन किया है,"—ऐसा मानकर शरीरकी क्रियाका स्वामी होता है, वह जीव-अजीव में भूल है, और उसमे होने वाले शुभ-परिणामसे धर्म माने वह आश्रव में भूल है। अज्ञानी मानता है कि जीवका विकल्प आता है इसलिये वस्त्र छूट जाते हैं, तो ऐसा नही है। वस्त्र छूटने का कार्य

तो वस्त्रसे होता ह । यदि विकल्पके कारण वस्त्रोका छूटना माने तो जीव–अजीव म भूल ह । परिग्रह न रखने का भाव शुभ है—पुण्य बन्धका कारण ह, उसे उपादेय मानना वह आश्रवमे भूल ह । पसा रहना, असत्य वचन बोलना आदि तो जडकी क्रिया है, और पसा रखू आदि परिणाम पाप अध्यवसान हैं । उसमें पापको हेय और पुण्य को उपादेय मानना वह आश्रवतत्त्वमें भूल है । हिंसादिक की भांति असत्यादिक पापबन्ध के कारण हैं,—यह सब मिथ्या अध्यवसाय हैं और त्याज्य हैं ।

हिंसा में मारने की बुद्धि होती ह, किन्तु सामनेवाला जीव आयु पूण हुए बिना कभी नही मरता । मारने का द्वेष स्वय किया वह पाप ह । स्वय अहिंसाका भाव किया, इसलिये जीव नही बचा है, अपनी आयुके बिना वह नहीं जीता । अपने शुभ परिणामो स जो पुण्य बन्ध करता हूं, वह धम नही है । पुण्यको आदरणीय मान वह आश्रवमें भूल ह । मैं ज्ञाता–दृष्टा हू, परका कर्ता नही हू, मैं रागका भी कर्ता नही हू,—एसा माने वहाँ निवृत्ता ह और निवृत्तभाव उपादेय ह ।

अब, पूण वीतरागदशा न हो तबतक प्रशस्त रागरूप प्रवतन करो,—यह उपदेशका वाक्य ह । वीतरागी दशा न हो, तब–तक शुभराग उसके अपने कालक्रमसे आता ह–ऐसा जानो, किन्तु श्रद्धान तो ऐसा रखो कि दया, दान, भक्ति आदि बन्धके कारण हैं, हेय हैं । यदि श्रद्धानमें पुण्यको मोक्षमाग जाने तो वह मिथ्यादृष्टि है । जो निश्चय मोक्षमार्गकी साधना करता है उसके शुभरागको व्यवहार मोक्षमाग कहते हैं, किन्तु निश्चयसे वह बन्ध माग ह,—ऐसा जानना चाहिये । × × ×

[चत्र कृष्णा ३ मंगलवार ता० ३-३-५३]

विपरीत अभिप्रायरहित तत्त्वार्थश्रद्धान वह सम्यग्दर्शन है, उसे जो नहीं जानता और बाह्यसे धर्म मानता है वह मिथ्यादृष्टि है। यहाँ यह बतलाते हैं कि आश्रवतत्त्वमें किस प्रकार भूल करता है। पापको हेय माने किन्तु पुण्य को उपादेय माने वह आश्रवकी भूल है। और *मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग—यह आश्रवके भेद हैं।* उन्हें बाह्यरूपसे तो मानता है किन्तु उन भावोंकी जाति नहीं पहिचानता। सच्चे देव, गुरु, शास्त्र की बाह्य लक्षणोंसे परीक्षा करे, वह गृहीत मिथ्यात्वका त्याग है, किन्तु अनादिकालीन अगृहीत मिथ्यात्वको न पहिचाने और ज्ञायकस्वरूप आत्माकी दृष्टि नहीं है, किन्तु पुण्य पाप पर दृष्टि है वह अनादिकालीन मिथ्यात्व है, उसे नहीं जानता। स्व की दृष्टि करके आश्रव छोड़ना चाहिये किन्तु उस मूलको दूर नहीं करता। दया दानादिके परिणाम आश्रव हैं उनके ऊपर की दृष्टि वह पर्यायदृष्टि है। अंतरमें रागको हितकर मानता है वह मिथ्यात्वको नहीं पहिचानता।

पुनश्च, बाह्य त्रस स्थावर की हिंसाको अविरति मानता है। इन्द्रियविषयोंकी प्रवृत्तिको अविरति मानता है, किन्तु वह अविरति का स्वरूप नहीं है। जड़की क्रिया कम हुई तो मानता है कि विषय कम होगये। स्त्री, लक्ष्मी के संसर्गको अविरति मानता है, किन्तु हिंसा में प्रमादपरिणति मूल है। उग्रप्रमाद होना वह अविरति है। नग्न होने से मानता है कि *अव्रत छूट गये, वह भूल है। विषयोंमें* आसक्ति का होना वह अव्रत है। अंतरंग आसक्ति छूटती नहीं है और मानता है कि मैं व्रतधारी हूँ। शरीर द्वारा बाह्य इन्द्रियविषयोंमें लीन न हो तो मानता है कि अव्रत छूट गया, वह अविरतिमें भूल है। पर्यायमें

तीव्र प्रमाद भावका और विषयासक्तिका स्वभावके भानपूर्वक त्याग नही हुआ और बाह्यसे आसक्तिका त्याग माने वह अविरतिरूप आस्रव तत्त्वमें भूल है। ऐसी भूलवाले का सम्यग्दर्शन नही होता।

आत्माके भानपूर्वक विशेष स्थिरता होना वह व्रत है, उसे नही पहिचानता, प्रमादभावको नही जानता, कि तु बाह्य निमित्तोके छूटनेसे अव्रत छूट गये—ऐसा मानता है। मैं शुद्ध चिदानंद हूँ—ऐसे भानपूर्वक अंतर लीनता होने से अव्रत परिणाम छूट जाते हैं और निमित्त भी निमित्तके कारण छूट जाते हैं,—उसे जो नही जानता वह आस्रवतत्त्वमे भूल करता है।

और बाह्य क्रोधादि करने को कषाय जानता है, किंतु अभिप्राय की खबर नही है। अनुकूल पदार्थोंके संयोगसे राग और प्रतिकूल पदार्थोंके संयोगसे द्वेष करना पड़ता है यह कषायका अभिप्राय है। अज्ञानी मानता है कि मैं विकल्प करता हूँ इसलिये बाह्य पदार्थ आते हैं। अभिप्रायमें कषाय विद्यमान है इसलिये आस्रवतत्त्वकी भूल है। और आत्मामें योग (—प्रदेश कम्पन) की क्रिया है उसे अज्ञानी नहीं मानता। जड़की क्रिया मैंने रोकी इसलिये योग रुका—ऐसा मानता है। मन, वचन कायाकी क्रिया जड़की है, उसकी खबर नही है और ऐसा मानता है कि शरीरादि की क्रिया रुकने से धर्म हुआ, किन्तु अंतरमें शक्तिभूत योगों को वह नही जानता।—इसप्रकार वह आस्रवोंका स्वरूप अन्यथा जानता है।

पुनश्च, राग–द्वेष–मोहरूप जो आस्रवभाव है उसे नष्ट करने की चिंता नही है और बाह्य क्रिया सुधारूँ—ऐसा वह मानता है। अनुकूल निमित्त प्राप्त करने और प्रतिकूल निमित्त दूर करने का प्रयत्न

रमता है। वाह्य क्रिया छोडो, भोजन छोडो, स्त्री छोडो, लक्ष्मी छोडो, बाह्य परिग्रहका परिणाम करो तो धर्म होगा–ऐसा अज्ञानी मानता है। बाह्यमें क्रिया छूट जाने से प्रतिमा होगई–ऐसा वह मानता है, किंतु प्रतिमा बाहरसे नही आती। अन्तरपरिणाम सुधरे नही हैं जीव अजीवका भेदज्ञान नही है, जीवकी स्वतंत्र क्रियामें अजीव निमित्त मात्र है और अजीवकी स्वतंत्र क्रियामें जीव निमित्त मात्र है। ऐसी स्वतंत्रताकी जिसे खबर नही है उसे प्रतिमा कहाँ से होगी?

कंचन कामिनी और कुटुम्ब–इन तीन को छोड दो तो धर्म होगा—ऐसा अज्ञानी कहते हैं, किन्तु वे तो पृथक ही हैं, मैं उन्हें छोडता हूँ—यह मान्यता ही मिथ्यात्व है। आत्मा उनसे पर है और राग–द्वेष रहित है।—ऐसा आत्मभान पूर्वक राग छूटे तो कंचन, कामिनी और कुटुम्ब के निमित्त छूटे ऐसा कहे जाते हैं नही तो निमित्त भी छूटे नही कहलाते। स्वरूप में लीनता करना वह चारित्र है बाह्य त्याग चारित्र नहीं है। अज्ञानी कहते हैं कि बाह्य वस्तुओं का त्याग करो तो अंतरमें राग दूर होगा, किंतु वह बात मिथ्या है।

द्रव्यलिंगी मुनि अन्य देवादिक की सेवा नही करता, २८ मूल गुणोंका पालन करता है, और प्राण जायें तथापि व्यवहार धर्म नही छोडता, तो वहाँ गृहीत मिथ्यात्वका त्याग है, किंतु अगृहीतका त्याग नहीं है। वह बाह्यहिंसा बिलकुल नही करता, अपने लिये बनाया हुआ आहार नही लेता, तब तो शुभ परिणाम होते हैं, किन्तु धर्म नही होता। झूठ नही बोलता, दया पालन करता है, विषय सेवन नही करता, क्रोधादि नही करता, कोई शरीरके टुकडे टुकडे करदे तथापि क्रोध न करे ऐसा व्यवहार है, किन्तु अंतरमें भान नहीं है इसलिये अगृहीत मिथ्यात्व नही छूटा है। उसके मिथ्यात्व

कषाय और योग—ऐसे चारों आश्रव होते हैं। मैं निमित्त हूँ इसलिये जड की क्रिया होती है—ऐसा वह मानता है, उसे यथार्थ बात की खबर नहीं है। दूसरे, यह कार्य वह कपटसे नहीं करता। यदि कपट से करे तो ग्रैवेयक तक कैसे पहुँच सकता है? नहीं पहुँच सकता। अंतरंग मिथ्या अभिप्राय अव्रत, रागद्वेषकी इष्टता आदि रागादिभाव आते हैं वही आश्रव है, उसे नहीं पहिचानता, इसलिये उसे आश्रवतत्वकी सच्ची श्रद्धा नहीं है।

बंधतत्त्व के श्रद्धान की अयथार्थता

हिंसा, झूठ, चोरी आदि अशुभभावों द्वारा नरकादिरूप पाप बंधको बुरा और दया दानादि के बंधको भला जाने वह मिथ्यादृष्टि है। दोनों बंध हैं आत्माका हित नहीं करते। दया-दानादिसे मुझे पुण्य *बंध तो हुआ है!—इसप्रकार हर्षित होता है, दोनों बंध हैं तथापि* पुण्यबंधको भला जानता है वह मिथ्यादृष्टि है।

पुण्य बंधसे अनुकूल और पाप बंधसे प्रतिकूल सामग्री प्राप्त होती है किन्तु उसके द्वारा स्वभावकी प्राप्ति नहीं होती। पापबंधको बुरा जानकर द्वेष करता है नरकादि की सामग्री पर द्वेष करता है और पुण्य बंधसे अच्छी सामग्री प्राप्त होगी—ऐसा मानकर उसमें राग करता है, किन्तु वह भ्रांति है। समवशरण देखने को मिला उसमें आत्मा को क्या लाभ? परवस्तुसे लाभ-अलाभ नहीं है। स्वर्ग में जायेंगे और फिर भगवान के पास पहुँचेंगे—तो उसमें क्या मिला? समवशरण तो जड है, पर है, वहाँ जीव अनन्त बार गया है। सामग्रीके स्वभावकी प्राप्ति नहीं होती। अज्ञानी जीव प्रतिकूल सामग्रीमें द्वेष करता है और अनुकूल सामग्रीमें राग

करता है वह मिथ्यात्व है। रागका अभिप्राय रहा वह बन्धतत्त्व की भूल है, उसकी तत्त्वार्थश्रद्धा मिथ्या है। तत्त्वार्थ श्रद्धान बिना सम्यग्दर्शन नहीं है और सम्यग्दर्शन के बिना चारित्र नहीं होता। जैनदर्शनमें गड़बड़ी नहीं चल सकती तत्त्वमें अन्याय नहीं चल सकता। धर्म ध्रुव स्वभाव की श्रद्धा ज्ञान, चारित्रसे धर्म होता है। अज्ञानी जीव सोलहकारण भावनामें राग करता है, इस तीर्थंकर प्रकृति का बंध नहीं होता। ज्ञानी जीव रागको हेय मानता है और तीर्थंकर प्रकृति का भी हेय मानता है। किसी ज्ञानी जीव को निर्बलता से शुभराग आये तो तीर्थंकर पुण्य-प्रकृतिका बंध हो जाता है।

भक्तिमें आता है कि हे भगवान! अपने पाससे एक देव भेजो!—आदि निमित्त का कथन है। अज्ञानी जीव संयोग की भावना करता है, पापके बंधको बुरा मानता है क्योंकि उससे प्रतिकूल सामग्री प्राप्त होगी और पुण्य बंधसे अनुकूल। उसमें किसी सामग्री को अनुकूल और किसी को प्रतिकूल मानना वह मिथ्यादर्शन शल्य है। यहाँ, व्रत-तप करो तो स्वर्ग प्राप्त होगा, और वहाँ से भगवानके निकट पहुँचेंगे, फिर सम्यग्दर्शन प्राप्त होगा—ऐसा अज्ञानी मानता हैं। उनकी दृष्टि संयोग पर है किन्तु स्वभाव पर नहीं है, उन्हें अपने आत्मा के पास नहीं आना है। बन्धन अहितकर है, पुण्य-पाप हेय है, संवर-निर्जरा हितकर है और मोक्ष परम हितकर है—ऐसी पहिचान नहीं है वह मिथ्यादृष्टि है। बंध तत्त्वमें पुण्यसे शुभ बंध हुआ—ऐसा मानकर हर्षित हो वह मिथ्यादृष्टि है।

यहाँ पं० टोडरमलजी कहते हैं कि पुण्य-पापसे सामग्री प्राप्त होती है। आजकल कोई वर्तमान पण्डित कहते हैं कि सामग्री पुण्य

पापसे नहीं मिलती, किन्तु वह भूल है। जिसप्रकार—अच्छी जल वायु आदि अनुकूल सामग्री प्राप्त होने पर जीव राग करता है और सर्प, विष आदि प्रतिकूल सामग्री मिले उस समय द्वेष करता है, उसी प्रकार यह जीव पुण्यसे भविष्यमें अनुकूल पदार्थ मिलेंगे—ऐसा मान कर राग करता है और पापसे प्रतिकूल पदार्थ प्राप्त होंगे—ऐसा मानकर द्वेष करता है—उसे इसप्रकार राग द्वेष करनेका श्रद्धान हुआ। इसलिये उसके अभिप्रायमें मिथ्यात्व है। जिसप्रकार इस शरीर सम्बन्धी सुख-दुःख सामग्री में राग-द्वेष करना हुआ, उसीप्रकार भविष्यमें अनुकूल-प्रतिकूल सामग्री में रागद्वेष करना हुआ।

और दया-दानादि शुभपरिणामों से तथा हिंसादि अशुभ-परिणामों से अघाति कर्मोंमें फेर पड़ता है। शुभसे सातावेदनीय का बंध होता है और अशुभसे असाता कर्मका। शुभसे वेदनीय, आयु, नाम, गोत्रमें फेर पड़ता है, किन्तु अघाति कर्म कहीं आत्म गुणोंके घातक नहीं हैं। शुभाशुभभावोंसे घाति कर्मोंका बंध तो निरंतर होता है कि जो सब पापरूप ही हैं। यहाँ कम-अधिक बंधका प्रश्न नहीं है। पुण्य से घातिकर्मोंमें कम रस गिरता है, किन्तु बंध तो निरंतर है ही। शुभ हो या अशुभ हो, तथापि मिथ्यादृष्टिको ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अंतराय का बंध निरंतर होता है। सम्यग्दृष्टिको भी शुभभावके समय उसका बंध होता है। वे सब पापरूप ही हैं और वे ही आत्मगुणोंके घातक हैं।

शुभ के समय भी बंध होता है—ऐसा यहाँ बतलाते हैं। बंध हानिकारक है और अबंध स्वभाव हितकारक है,—ऐसी समझ

बिना पुण्यबन्धको हितकारी माने, वह बन्धतत्त्वमें भूल करता है।

× × ×

[चैत्र कृष्णा ४ बुधवार ता० ४-३-५१]

तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शन का लक्षण है। यह लक्षण चौथे गुणस्थान से लेकर सिद्धमें भी रहता है। तत्त्वार्थ श्रद्धान निश्चय सम्यग्दर्शन है। यदि तत्त्वार्थ श्रद्धान व्यवहार हो तो सिद्ध में वैसा व्यवहार नही होता, और वहां तत्त्वार्थश्रद्धान तो सम्भवित है, इस लिये तत्त्वार्थश्रद्धान निश्चय सम्यग्दर्शन है। मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ ३२३ में कहा है कि केवली सिद्ध भगवानको भी तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण होता ही है, इसलिये वहाँ अव्याप्तिपना नहीं है।

तत्त्व अर्थात् भाव। जीव का भाव ज्ञायक है। व्यवहार रत्नत्रय का भाव राग होने से आत्मा के आनन्द लूटने वाला है, इसप्रकार भेदज्ञान द्वारा भाव का भासन होना वह निश्चय सम्यग्ज्ञान है। जीव का ज्ञायक स्वभाव है, अजीव का स्वभाव जड है, पुण्य-पाप दोनों आस्रव हैं—हेय हैं, बन्ध अहितकारी है, संवर-निर्जरा हित रूप है और मोक्ष परम हितरूप है—ऐसा भाव भासन होना वह तत्त्वार्थ श्रद्धान है। और मोक्षशास्त्र के प्रथम अध्याय के चौथे सूत्रमें "जीवाजीवास्रवबंधसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्" कहा है। वहाँ तत्त्वम् एकवचन कहा है, इसलिये वहाँ निश्चय सम्यग्दर्शन की बात है। रागरहित भाव की बात है। एक स्व-पर प्रकाशक ज्ञान स्वभाव में सात का राग रहित भावभासन होना वह निश्चय सम्यग्दर्शन है। और तत्त्वार्थसूत्र में सम्यग्दर्शन के निसर्गज तथा अधिगमज ऐसे दो

भेद बतलाये हैं, वे व्यवहार के नहीं हो सकते, इसलिये तत्त्वार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन वह निश्चय सम्यग्दर्शन है।

तीर्थंकर की वाणी से किसी को लाभ नहीं होता। जिस परिणाम से तीर्थंकर पुण्य प्रकृति का बंध हुआ वह परिणाम जीव को अपने लिये हेय है और प्रकृति अहितकर है, तो फिर दूसरों को हितकर कैसे हो सकती है ? अज्ञानी जीव तीर्थंकर पुण्य प्रकृति से लाभ मानता है और उससे अनेक जीव तरते हैं ऐसा मानता है वह भूल है। स्वयं अपने कारण तरता है तब तीर्थंकर की वाणी को निमित्त कहा जाता है,—ऐसा वह नहीं समझता। इसप्रकार शुभाशुभ भावों द्वारा कर्म बंध होता है, उसे भला-बुरा जानना ही मिथ्याश्रद्धान है और ऐसे श्रद्धान से बंध तत्त्व का भी उसे सत्य श्रद्धान नहीं है।

संवरतत्त्व के श्रद्धान की अयथार्थता

पर जीवको न मारने के भाव, ब्रह्मचर्य पालनके भाव, तथा सत्य बोलने के भाव—आदि भाव आश्रव हैं। उन्हें अज्ञानी संवर अथवा संवरका कारण मानते हैं। संवर अविकार है और आश्रव विकार है। अविकारका कारण विकार कहाँ से होगा ? इसलिये *ऐसा माननेवाले की भूलमें भूल है।* यहाँ तत्त्वार्थ श्रद्धानकी भूल बतलाते हैं। तत्त्वार्थ अर्थात् तत्त्व+अर्थ। अर्थ में द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों आ जाते हैं और तत्त्व अर्थात् भाव। द्रव्यका भाव, गुणका भाव और पर्यायका भाव—इसप्रकार तीनोंमें भावका भासन होना वह सम्यग्दर्शन है। सात तत्त्वोंमें जीव और अजीव द्रव्य हैं, आश्रव, बंध संवर निर्जरा और मोक्ष—यह पर्यायें हैं। उनके भावका भासन

होना चाहिये। और द्रव्य आस्रव, द्रव्यबन्ध, द्रव्य संवर, द्रव्यनिर्जरा तथा द्रव्यमोक्ष—यह अजीवकी पर्यायें हैं, उनका भी भाव भासन होना चाहिये। इसप्रकार द्रव्य, गुण और पर्यायके भावका भासन होना वह सम्यग्दर्शन है।

अहिंसा परम धर्म है। रागरहित शुद्धदशा—महाव्रतादिके परिणामसे भी रहितदशा—वह अहिंसा है, वह संवर है, और महाव्रतादि के परिणाम आस्रव हैं, वह संवर नहीं है।

पुनश्च, तत्त्वार्थसूत्रके दूसरे अध्यायके पहले सूत्रमें औपशमिकभावको पहले लिया है, इसलिये तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शनमें निश्चय सम्यग्दर्शनकी बात है। पारिणामिकभाव द्रव्य है और औपशमिक, क्षायोपशमिक, औदयिक तथा क्षायिक—चारों पर्याय हैं, वह जीवका स्वतत्त्व है। उस सूत्रमें प्रथम औपशमिकभाव लिया है, क्योंकि जिसे पहले औपशमिकभाव प्रगट होता है वह दूसरे भावोंको यथार्थ जान सकता है। जिसके औपशमिकभाव प्रगट नहीं हुआ वह औदयिकभाव को भी यथार्थ नहीं जानता।

अज्ञानी जीव संवरतत्त्वमें भूल करता है। व्रत, प्रतिमादिके परिणाम आस्रव हैं, संवर नहीं हैं। आत्मा ज्ञायक चिदानन्द है उसके आश्रयसे सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। आश्रवसे संवर प्रगट नहीं होता। और जीवके आश्रयसे संवर प्रगट होता है—ऐसा कहना भी सापेक्ष है। पहले निरपेक्ष निर्णय करना चाहिये। सातों के भाव स्वतंत्र हैं। जीव जीवसे है, संवर संवरसे है—इसप्रकार सातों स्वतंत्र हैं। ऐसा निर्णय करनेके पश्चात् जीवके आश्रयसे संवर प्रगट होता है—ऐसा सापेक्ष कहा जाता है।

शुभ-अशुभ परिणाम दोनो अशुद्ध हैं। जो परिणाम आत्माके आश्रयसे होते हैं वे शुद्ध हैं। अज्ञानी अहिंसादिरूप शुभास्रवको संवर मानते हैं, वह संवर तत्त्वमें भूल है।

प्रश्न —मुनिको एक ही कालमें यह भाव होते हैं, वहाँ उनके बन्ध भी होता है तथा संवर-निर्जरा भी होते हैं वह किसप्रकार ?

उत्तर —वह भाव मिश्ररूप है। चिदानन्द आत्माके आश्रयसे जो वीतरागी दशा होती है वह संवर है, और जितना राग शेष रहता है वह आस्रव है। अकषाय परिणति हो वह वीतरागीभाव है और वह यथार्थ मुनिपना है। जितना राग शेष है वह व्यवहार है, बन्धका कारण है। यदि व्यवहार सर्वथा न हो तो केवलदशा होना चाहिये, और यदि व्यवहारसे लाभ माने तो मिथ्यादृष्टि हो जाता है। साधक जीवके अंशतः शुद्धता है और अंशतः अशुद्धता है। वह शुभरागको भी हेय मानता है।

कोई प्रश्न करे कि ऐसा शुभराग लाना चाहिये या नहीं ?

समाधान —किस रागको बदल सकेगा ? चारित्र गुणकी जो क्रमबद्ध पर्याय होना है वही होगी, उसे किसप्रकार बदला जा सकता है ? ज्ञानीको शुभराग बदलनेकी दृष्टि नहीं है, अपने स्वभावमें एकाग्र होने की भावना है।

श्री उमास्वामी तत्त्वार्थश्रद्धान कहते हैं, उन सातके भावभासन बिना कर्मका उपशम, क्षयोपशम तथा क्षय नहीं होता। पंचास्तिकाय गाथा १७३ की टीकामें जयसेनाचार्य ने तत्त्वार्थ सूत्रको द्रव्यानुयोग के शास्त्ररूप माना है, और द्रव्यानुयोगमें द्रव्य-गुण-पर्याय तीनोंकी

व्याख्या आती है। यहाँ तो, जिसे तत्त्वार्थका यथार्थ भासन नहीं है उसकी बात चलती है। मिथ्यादृष्टिको भावभासन नहीं है। उसे नाम निक्षेपसे अथवा आगम द्रव्य निक्षेपसे तत्त्वश्रद्धा कही जाती है। आगमसे धारणा कर ले, किन्तु स्वयंको भावका भासन नहीं है, इसलिये उसे सच्ची श्रद्धा नहीं है। यह बात यहाँ नहीं है, यहाँ तो निश्चय सम्यग्दर्शनकी बात है।

यहाँ संवरकी भूल बतलाते हैं। एक क्षणमें जो मिश्रभाव होता है उसमें दो कार्य तो बनते हैं, किन्तु महाव्रतादिके परिणाम आस्रव हैं उन्हें संवर-निर्जरा मानना वह भ्रम है। अंतरसे निर्विकल्प शांति और आनन्दकी उत्पत्ति हो वह संवर है तथापि जिस प्रशस्त रागके भावसे आस्रव होता है उसी भावसे संवर-निर्जरा भी होती है—ऐसा मानना वह संवरतत्त्वमें भूल है।

× × ×

[चैत्र कृष्णा ५ गुरुवार, ता० ५-३-५३]

शुभराग संवर नहीं किन्तु आस्रव है।

आत्मामें पंचमहाव्रत, भक्ति आदिके परिणाम हों वह शुभराग है, वह आस्रव है। उस रागका आस्रव भी मानना और उसीको संवर भी मानना वह भ्रम है। एक ही भावसे—शुभरागसे आस्रव तथा संवर दोनों कैसे हो सकते हैं? मिश्रभावका ज्ञान सम्यग्दृष्टिको ही होता है। सम्यग्दृष्टिको भी जो शुभ राग है वह धर्म नहीं है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र राग रहित हैं वही धर्म है। मैं ज्ञायक हूँ—ऐसे स्वभावके श्रद्धा ज्ञानसे जितना वीतरागभाव हुआ वह संवर धर्म है,

और उसी समय जो राग द्वेष है वह आस्रव है। एक ही समय में ऐसा मिश्ररूपभाव है, उसमें वीतराग अंश और सराग अंश—दोनोंको धर्मी जीव भिन्न भिन्न जानता है। पहले व्यवहार और फिर निश्चय—ऐसा नहीं है। व्यवहारका शुभराग तो आस्रव है, आस्रव संवरका कारण कैसे हो सकता है? पहला व्यवहार, और वह व्यवहार करते-करते निश्चय होता है—ऐसी दृष्टि से तो सनातन जैन परम्परामें से पृथक् होकर श्वेताम्बर निकले, और कोई दिगम्बर सम्प्रदायमें रहकर भी ऐसा माने कि राग करते-करते धर्म होगा, व्यवहार करते-करते निश्चय होगा, तो ऐसा माननेवाला भी श्वेताम्बर जैसे ही अभिप्रायवाला है, उसे दिगम्बर जैन धर्मकी खबर नहीं है।

जिसने रागका आदर किया कि 'राग करते-करते सम्यग्दर्शन हो जायगा, पहले व्यवहारकी क्रिया सुधारो फिर धर्म होगा।'—ऐसा माननेवाले ने दिगम्बर जैन शासनको अथवा मुनियोंको नहीं माना है। अपने को दिगम्बर जैन कहलवाता है किन्तु जैनधर्म क्या है उसकी उसे खबर नहीं है। वह जीव व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि है। वस्तु एकसमय में सामान्य शक्तिका भण्डार है, और उसमें विशेषरूप पर्याय है वस्तुमें अभेदरूप सामान्यकी दृष्टि करे तो पर्यायमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट हो। उस अभेदका आश्रय तो करता नहीं है और व्यवहार करते-करते उसके आश्रयसे कल्याण मानता है वह अनादिरूढ व्यवहार विमूढ मिथ्यादृष्टि है। द्रव्य स्वभावकी दृष्टि प्रगट करके निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान हुआ वहाँ जो राग द्वेष

रहा उसे उपचारसे व्यवहार कहा है, किन्तु धर्मीकी दृष्टिमें उसका आदर नहीं है।

पर्याय दृष्टिसे आत्मा रागसे अभिन्न है और त्रिकाली द्रव्यकी दृष्टिमें वह रागसे भिन्न ज्ञायक स्वरूप है। वहाँ त्रिकाली की दृष्टि करके रागको हेय जाना, तब रागको व्यवहार कहा जाता है। मिथ्यादृष्टि जीव शुभमें वर्तता है और उसे धर्म मानता है किन्तु वह व्यवहाराभासी है। निश्चयधर्मकी प्रतीति बिना रागमें व्यवहार धर्मका आरोप भी कहाँ से आयेगा? निश्चय के बिना व्यवहार कैसा? वह तो व्यवहाराभास है। और समिति–गुप्ति–परिषहजय–अनुप्रेक्षा–चारित्रको संवर कहता है किन्तु अज्ञानी उसके स्वरूपको नहीं समझता। निश्चय स्वरूपके अवलम्बन बिना समिति–गुप्ति आदि सच्चे नहीं होते। मनमें पापका चिंतवन न करे और शुभराग रखे, वचनसे मौन धारण करे और कायासे हलन–चलनादि न करे,—ऐसी मन–वचन–कायाकी क्रियाको अज्ञानी जीव गुप्ति मानता है और उसे संवर मानता है, किन्तु मौन तो जड़की क्रिया है, शरीर स्थिर रहे वह भी जड़की क्रिया है, तथा अंतरंगमें पापका चिंतवन नहीं किया वह शुभराग है, उसमें सचमुच संवर नहीं है। स्वभावदृष्टि होने के पश्चात् शुभाशुभ विकल्प–रहित वीतरागभाव प्रगट हुआ वह सच्ची गुप्ति और संवर है। वहाँ शरीर स्थिर हो और वाणीकी क्रियामें मौन आदि हो, उसे उपचारसे कायगुप्ति और वचनगुप्ति कही है। एकेन्द्रियके तो सदैव मौन ही है, किंतु उसे कहीं गुप्ति नहीं कहा जाता। अंतरमें वीतरागभाव प्रगट हुए बिना शुभराग रखे तो वह भी गुप्ति नहीं है। सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र तीनों वीतरागभाव हैं, वहाँ मन–वचन–कायाका अवलम्बन नहीं है, स्वाध्यायादिका विकल्प भी नहीं

सूत्रमें २८ मूल गुणवाली समितिको सवर नही कहा, किन्तु स्वभाव के आश्रयसे प्रगट हुई मुनियों की वीतराग परिणतिरूप निश्चय समितिको ही संवरका कारण कहा है। दोनो प्रकार पृथक् हैं उन्हे न समझे और व्यवहार समिति को ही सवर मान तो उसे सवर तत्त्वकी खबर नही है। शुभराग मुनिपना नही है। अतरमें जो वीतरागभाव हुआ है वह मुनिपना है। वहां शुभ राग रहा वह व्यवहार समिति है—आश्रव है। यथार्थ समझे बिना मात्र सम्प्रदाय के नाम से कही तर नहीं जाते, समझकर यथार्थ निर्णय करना चाहिये।

छट्ठे सातवें गुणस्थान वाले मुनि चलते हो, प्रमादभाव न हो और नीम का सूक्ष्म कीर परोके नीचे आजाय, वृक्ष परसे जीव जन्तु शरीर पर गिरकर गर्मीसे मर जाये, तो वहां मुनिका कोई दोष नहीं है, क्योकि उनकी परिणतिमें प्रमाद नही है। अपनी परिणति में प्रमाद हो तो दोष है। यहां तो कहते हैं कि देखकर चलनेका शुभ भाव भी वास्तवमे सवर नही है। देखकर चले, प्रमाद न करे, और कोई जीव भी न मरे, तथापि उस शुभरागसे धर्म माने तो उस जीव को सवरतत्वकी खबर नहीं है।

स्वर्ग मोक्षकी इच्छासे या नरकादिके भयसे क्रोधादि न करे और मदराग रखे, किन्तु उससे कही धर्म नही होता, क्योकि कषाय क्या है और स्वभाव क्या है ?—उसका भान नही है। लोकमें प्रतिष्ठा आदि के कारण परस्त्री सेवन न कर राजा के भयसे चोरी न करे, तो उससे कही व्रतधारी नहीं कहलाता, क्योंकि कषाय करने का अभिप्राय तो छूटा नही है। जिसे पुण्य की

प्रीति है उसे कषाय का ही अभिप्राय विद्यमान है। जिसको ज्ञायक स्वभाव का अनादर और राग का आदर है, उस जीव के अभिप्राय में अनंतानुबंधी क्रोध विद्यमान है, वह धर्मी नहीं है। जिसे ज्ञायक-स्वभावका भान नहीं है और परपदार्थों को इष्ट-अनिष्ट मानता है, उस जीव के रागद्वेष का अभिप्राय दूर नहीं हुआ है। पंचपरमेष्ठी भगवान इष्ट और कम अनिष्ट—ऐसी जिसकी बुद्धि है वह भी अज्ञानी है। मैं तो ज्ञान हूँ और समस्त पर द्रव्य मेरे ज्ञेय हैं, उनमें कोई मुझे इष्ट-अनिष्ट नहीं है,—ऐसा भान होने के पश्चात् धर्मी को शुभ राग होने पर भगवान का बहुमान आता है। वहाँ पर भी इष्ट बुद्धि नहीं है और राग का आदर नहीं है, राग पर के कारण नहीं हुआ। तत्त्वज्ञान के अभ्यास से जब कोई भी परपदार्थ इष्ट-अनिष्ट भासित न हो, तब रागके कर्तृत्व का अभिप्राय नहीं रहता।

× × ×

[वीर सं० २४७९ चैत्र कृष्णा ६ शुक्रवार ता० ६-३-५३]

मात्र आत्मज्ञान से इष्ट-अनिष्ट बुद्धि दूर होती है—ऐसा न मानकर, मार्गमें सात तत्वों को यथार्थ रूपसे जाने तो अपने शुद्ध स्वरूप को उपादेय माने और परसे उदासीन हो जाये, इसप्रकार उन अनित्यादि भावनाओं की गणना मोक्षमार्ग में की है। शरीर, स्त्री, कुटुम्ब, धनादि अजीव हैं, उनमें कोई इष्ट-अनिष्ट नहीं है। सात तत्त्वों की सम्यक् श्रद्धा होने से, शुद्धात्माका प्रतिभास होने पर परपदार्थों में इष्ट-अनिष्टता भासित नहीं होती और न रागद्वेष उत्पत्ति होती है, वह धर्म है।

पुनश्च, शरीरादि में अशुचि, अनित्यादि चिंतवन से उसे बुरा जानकर—अहितरूप जानकर उससे उदास होने का वह अनुप्रेक्षा कहता है, किंतु वह तो द्वेष बुद्धि है। स्त्री, पुत्रादि स्वार्थके सगे हैं, लक्ष्मी पाप उत्पन्न करती है—ऐसा मानकर उनपर द्वेष करता है, तो क्या पर द्रव्य तेरा बुरा करते हैं ? नहीं करते। यह तो उनके प्रति द्वेषभाव हुआ। जैसे—पहले कोई मित्र से राग करता था, फिर उसके दोष देखकर द्वेषरूप उदास होगया, उसी प्रकार पहले शरीरादि पर राग था, फिर उन्हें अनित्यादि जानकर उनसे उदास हो गया और द्वेष करने लगा,—यह कोई सच्ची अनुप्रेक्षा नहीं है।

एक उपदेशक कहते थे कि—रागके कारणरूप स्त्री, धनादि पर ऐसा द्वेष करो कि उनके प्रति किंचित् राग न रहे। तो क्या पर वस्तु से राग, द्वेष, मोह होते हैं ? क्या पर वस्तु का ग्रहण त्याग किया जा सकता है ? तत्त्वज्ञान पूर्वक स्वसन्मुख ज्ञातामात्र स्वभाव में स्थिर दशा होने से सहज ही पर वस्तु के राग का त्याग हो जाता है और पर वस्तु उसके अपने कारण छूट जाती है। अज्ञानी को कर्ता बुद्धि का मोह है।

प्रति समय भूमिकानुसार राग होता है, उसे भी छोड़ा नहीं जा सकता, आत्मा तो मात्र ज्ञाता रह सकता है—उसकी अज्ञानी को खबर नहीं है। इसलिये वह ऐसा मानता है कि पर वस्तुका त्याग करूं और पर संयोगोंसे दूर रहूं तो शांति होगी—धर्म होगा, किन्तु अपने ज्ञानानंद स्वरूप को तथा शरीरादिके स्वभाव को जानकर, भ्रम छोड़कर, किन्हीं पर को भला-बुरा न मानकर मात्र ज्ञाता-दृष्टा

रहने का नाम सच्ची उदासीनता है। निश्चय तत्त्वश्रद्धानपूर्वक स्वसन्मुख होकर, यथार्थ ज्ञातापने में जितनी एकाग्रता बढ़ती है उसका नाम संवर-निर्जरा का कारण सच्ची अनुप्रेक्षा है। जो शुभराग रहा वह व्यवहारअनुप्रेक्षा है, वह तो आस्रव है।

और क्षुधादि लगने पर उनके शमनका उपाय न करने, आहारादि न लेने को वह परिषह सहन करना कहता है। चूँकि संयोगी दृष्टि तो है, और अंतरमें क्षुधादिको अनिष्ट मानकर दुखी हुआ है, वह तो अशुभभाव है, किन्तु कभी शुभ भाव हो, तो भी धर्म नहीं है। कोई कहे कि-प्रथम परिषह सम्बन्धी प्रतिकूलता का विकल्प आये और फिर दूसरे समय राग को जीत ले वह परिषहजय है, तो वह बात मिथ्या है, क्योंकि विकल्प तो राग है, आस्रव है वह परिषहजयरूप संवर नहीं है। क्षुधा, तृषा, रोगादि को मिटाने का उपाय न करना वह परिषहजय नहीं है, क्योंकि उसमें तो शुभ राग की उत्पत्ति है। मुनि नग्न रहते हैं, वह भी परिषहजय नहीं है, किन्तु तत्त्वज्ञान पूर्वक स्वाश्रय के बल से राग की उत्पत्ति का न होना वह परिषहजय है। ज्ञातामात्र रूपसे स्वरूपमें स्थिर रहने का नाम संवर है-परिषहजय रूप धर्म है।

आत्मानुशासन ग्रन्थ में लिखते हैं कि अज्ञानी त्यागी हो, और उसके बाह्य सामग्री का अभाव वर्त रहा हो, वह तो अंतराय के कारण है। अंतरंग ज्ञान, वैराग्य के बिना उपचार से भी धर्म नहीं है। जिसे अनुकूल संयोगों की रुचि है, उसे उसी समय प्रतिकूल संयोगों का द्वेष है। उपवासादि में दुःख मानता है, इसलिये उसे रति

के कारण मिलने से उनमें सुखबुद्धि है ही। यह पराश्रय सुख दुःख रूप परिणाम हैं और यही आर्त–रौद्र ध्यान है, इससे संवर निर्जरा-रूप धर्म नहीं है। पर की अपेक्षा रहित मात्र ज्ञाता स्वभावकी श्रद्धा, ज्ञान और लीनता द्वारा स्वसं मुख ज्ञाता रहे और किसी को अनुकूल-प्रतिकूल न माने वही सच्चा परिषहजय है। अनुकूल प्रतिकूल संयोग प्राप्त हो, तथापि अपने सहज ज्ञान स्वभाव के आश्रयसे सर्वत्र ज्ञाता-दृष्टा रहने से जितनी अपनी वीतरागदशा हुई उतने अंश में धर्म है। और वह तो हिंसादिक सावद्ययोग के त्याग को चारित्र मानता है, किन्तु हिंसा, आरंभ, समारम्भ बाह्य में नहीं हैं, जीवके अरूपी विकार भाव में आरम्भ–हिंसादि रूप भाव होते हैं। बाह्य त्याग दिखाई दे, तो हिंसारूप आरम्भ से छूट गया—ऐसा नहीं है।

२८ मूलगुण तथा महाव्रतादिके पालनरूप शुभोपयोग शुभास्रव है, वह धर्म नहीं है। अज्ञानी उस व्रत–तपादिके शुभरागको उपादेय मानता है, हितकारी–सहायक मानता है, किन्तु वह चारित्र नहीं है। चरणानुयोग की अपेक्षा से भी अज्ञानीके व्यवहार त्याग नहीं कहा जा सकता। आत्माके तत्वज्ञान पूर्वक अकषाय शांति हो वह संवर-रूप धर्म है और वहाँ अव्रतादि के रागका त्याग होने पर व्यवहार से बाह्यत्याग कहलाता है, किन्तु मात्र बाह्यवस्तुका त्याग वह धर्म नहीं है। रागका त्याग किया—ऐसा कहना भी नाममात्र है–उपचार से है, क्योंकि ज्ञाता तो रागके भी अभावस्वरूप है। आत्मा आत्मा में स्थिर हो वही सच्चा प्रत्याख्यान है। व्रतादिका शुभ राग है वह आस्रव है, वह आस्रव तो बंध का साधक है और चारित्र तो वीतराग भाव मात्र होने से मोक्षका साधक है, इसलिये उस महाव्रतादिरूप

शुभ भाव को चारित्रपना सम्भव नहीं है। अज्ञानी के व्रत उपचार से (—व्यवहार [illegible]) भी व्रत नहीं कहलाते।

निश्चय सम्यग्दर्शन पूर्वक स्वसन्मुख वीतरागभाव हो उतना चारित्र है, और महाव्रतादि शुभराग मुनिदशामें होता है वह चारित्र नहीं है, किन्तु चारित्रका मल है—दोष है। उसे छूटता न जानकर उसका त्याग नहीं करते और अव्रतादि अशुभरागका त्याग करते हैं, किन्तु उस शुभास्रवको धर्म नहीं मानते। जिसप्रकार कोई कंदमूलादि अत्यन्त दोष वाली हरियालीका त्याग करे और दूसरी लौकी आदि हरियाली खाये, किन्तु उसे धर्म न माने उसीप्रकार मुनि हिंसादि तीव्र कषाय भावरूप अव्रतका त्याग करते हैं और अकषाय दृष्टि तथा स्थिरतापूर्वक मंद कषायरूप महाव्रतादिका पालन करते हैं, किन्तु व्रतादि आस्रवको मोक्षमार्ग नहीं मानते।

× × ×

[वीर सं० २४७६ माघ कृष्णा ७ शनिवार ता० ७-१-५३]

व्यवहाराभासीका वर्णन चल रहा है सात तत्त्वोंका भाव भासित हुए बिना अगृहीत मिथ्यात्व दूर नहीं होता। वह जीव संवर तत्त्व में क्या भूल करता है वह बतलाते हैं।

प्रश्न —यदि ऐसा है तो चारित्रके तेरह भेदों में उन महाव्रतादिकका क्यों वर्णन किया है ?

उत्तर —वहाँ उसे व्यवहारचारित्र कहा है। चारित्र जैसा है वैसा न माने वह संवर तत्त्वमें भूल है। व्यवहार उपचारका नाम है। मुनिदशामें अकषाय भाव होता है और विकल्पके समय पाँच

महाव्रतके परिणाम आते हैं। ऐसा सम्बन्ध जानकर, महाव्रतमें चारित्रका उपचार करते हैं। चारित्र साक्षात् मोक्षमार्ग है और सम्यग्दर्शन परम्परा मोक्षमार्ग है। तत्त्वार्थ श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते हैं। आत्मामें अकषाय शांति प्रगट हो वह चारित्र है। जिनके ऐसा चारित्र प्रगट हुआ है उन मुनिके पंच महाव्रतो को उपचार से चारित्र कहा है। निश्चयसे निष्कषायभाव ही सच्चा चारित्र है। इसप्रकार संवरके कारणोको अन्यथा जानता है, इसलिये अगृहीत मिथ्यात्व नही छूटता। महाव्रतादिक परिणामो को संवर माने वह सच्चा श्रद्धानी नही है।

निर्जरातत्त्व के श्रद्धानकी अयथार्थता

अज्ञानीको निर्जरातत्त्वमें भूल होती है वह बतलाते हैं। उपवास, वृत्तिसंक्षेप आदिको वह निर्जरा मानता है वे सब बाह्य तप हैं। उनमें कषाय मंद करे तो पुण्य है। शुद्ध आत्माका भान होने के पश्चात् अन्तर्लीनता करे वह निर्जरा है। बाह्य तप तो शुद्धोपयोग बढ़ाने के हेतु किया जाता है। इसका यह अर्थ है कि स्वयं ज्ञान स्वभावी है,—ऐसी दृष्टि पूर्वक लीनता करने से पूर्व उपवासादिका शुभभाव निमित्तरूप होता है, इसलिये बाह्यतप शुद्धोपयोग बढ़ाने के हेतु से किया जाता है—ऐसा कहते हैं। जिसे उपवासादि में अरुचि हो उसकी बात नही है। स्वभाव में लीन होने पर बाह्य तपरूपी निमित्त पर से लक्ष हट गया, इसलिये बाह्यतप पर उपचार आता है। स्वभाव मे लीनता करने से सहज ही इच्छा टूट जाती है। स्वयं ज्ञानस्वभावी है इसप्रकार निश्चयपूर्वक लीनता करने से शुभ उपयोग छूट जाता है। शुद्धता में अपना स्वभावभाव कारण होता है,

तो शुभका अभाव कारण है—ऐसा उपचार किया जाता है। सम्यग्दर्शनके समय अशत शुद्ध उपयोग हुआ है विशेष लीनता होने पर शुद्ध-उपयोगमे वृद्धि होती है। जिसे सम्यग्ज्ञान, सम्यक्-अनुभूति तथा अशत आनन्द प्रगट नही हुआ है उसके शुभमें तो उपचार भी नहीं किया जाता।

अज्ञानी जीव कहते हैं कि प्रथम निश्चय सम्यक्दर्शनका पता नही लग सकता है प्रथम उपवास करो, प्रतिमा आदि धारण करो, किन्तु भाई! सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् विशेष शुद्धताके लिए प्र योग वह प्रतिमा है। प्रतिमा बाह्यवस्तु नही है। अतरमें शुद्ध उपयोग होने से इच्छा टूट जाती है तब बाह्य तप पर आरोप आता है। आत्माके भान बिना अज्ञानी अनन्त तप करता है किन्तु उसके निर्जरा नही होती। मैं यह करूँ और यह छोड़ूँ—ऐसा जो भाव है वह मिथ्या है। ऐसा विकल्प वस्तुस्वभावमें नही है। समयसारके ६२ वें कलशमें कहा है कि —

आत्मा ज्ञान स्वय ज्ञान ज्ञानादन्यत्करोति किम्।
पर भावस्य कर्तात्मा मोहोऽय व्यवहारिणाम्॥

आत्मा स्वय ज्ञानस्वरूप है। ज्ञानके अतिरिक्त वह दूसरा क्या कर सकता है? राग करे या छोडे—यह भी ज्ञानका स्वरूप नही है। ज्ञान आहारका ग्रहण या त्याग कर सकता है? नही, आत्मामे तो जानने की क्रिया है। निर्णय होनेके पश्चात लीनता होना वह निर्जरा का कारण है।

ज्ञानी जीवके बाह्य तपको उपचारसे निर्जराका कारण कहते हैं। यदि बाह्य दुःखोंको सहन करना निर्जराका कारण हो, तो पशु आदि

था, इच्छा टूटी इसलिये आहार रुक गया—ऐसा नही है। स्वभाव में लीन होने पर इच्छा टूट जाती है उसे तोडना नही पडता। कोई पूछे कि—इच्छा को होती, तब तो आहार आता न ?—यह प्रश्न ही नही है। अपने ज्ञान स्वभाव में लीनता होने से इच्छा उत्पन्न न हुई, और आहार उसके अपने कारण न आया वह उपवास है।

ज्ञानी को उपवासादि की इच्छा नही है, मैं ज्ञायक चिदानन्द-स्वरूप हूँ—ऐसा भान है, और एक शुद्ध उपयोग की भावना है, किंतु आश्रव की इच्छा नही है। सोलहकारण भावना राग है, उसकी भी भावना ज्ञानी के नही है। उपवासादि करने से शुद्धोपयोग में वृद्धि होती है, इसलिये वे उपवासादि करते हैं, अर्थात् अपने स्वभाव के लक्ष से शांति बढती है—तब ऐसा कहा जाता है कि उपवास से निर्जरा हुई। वस्तु का स्वभाव है वह धर्म है धर्म स्वद्रव्य के आलंबन से होता है इसलिये द्रव्य गुण पर्याय के स्वरूप का प्रथम निर्णय करना चाहिये।

यदि धर्मी जीव अथवा मुनि को ऐसा लगे कि उपवास के परिणाम सहज नही आते और शरीर मे शिथिलता मालूम होती है, तथा शुद्धोपयोग शिथिल हो रहा है, तो वहां वे आहारादि ग्रहण करते हैं। धर्मात्मा ज्ञानी देखें कि अपने परिणामो में सहज शांति नहीं रहती तो वे आहारादि लेते हैं। ज्ञानी हठ पूर्वक उपवास नही करते, परिणामो की शक्ति को देखकर तप करते हैं। जहाँ हठ है वहाँ लाभ नहीं है। मुनित्व या प्रतिमा को हठ पूर्वक निभाना उचित नही है।

ज्ञानी तत्त्वज्ञान होने के पश्चात् द्रव्य क्षेत्र काल भाव देखकर

प्रतिमा प्रतिमा या मुनित्व ग्रहण करते हैं देखा देखी प्रतिमा नहीं लेते। वह सब दशा विपरीतता रहित सहज ही होती है।

नियत का निर्णय पुरुषार्थ से होता है।

"एक में अनेक खोज"—यह बनारसीदासजी का कथन गंभीर है। 'समयसार नाटक" पृष्ठ ३३८ में वे कहते हैं कि—

टेक डारि एक में अनेक खोज सो सुबुद्धि,
खोजी जीव वादी मर साची कहवति है।"

प्रतिसमय जो परिणति होना है वह होगी यह निर्णय किसने किया ? वस्तु स्वभाव ज्ञान ही है, वह स्वयं ही निर्णय करता है। नियतका निर्णय पुरुषार्थसे होता है। जिस समय जो होना है वह होगा ही,—ऐसा निर्णय पुरुषार्थसे होता है। पुरुषार्थ स्वभावमें है और नित्य स्वभाव ज्ञानस्वरूप है, उसके आश्रय से ही ज्ञातापनका सच्चा पुरुषार्थ होता है।

जो खोजता है वह जीता है, और वादी मरता है।

वस्तु स्वरूप समझे बिना सब व्यर्थ है। मुनि ध्यान में शिथिलता देखें तो आहार लेते हैं। अजितनाथ आदि तीर्थकरों ने दीक्षा लेकर दो उपवास ही क्यों किये ? उनकी तो शक्ति भी बहुत थी, किन्तु जैसे परिणाम हुए बस बाह्य साधन द्वारा एक वीतराग शुद्धोपयोगका अभ्यास किया। यह बात भी निमित्त नैमित्तिक—सम्बन्धसे की है।

प्रश्न—यदि ऐसा है तो, आहार न लेने, ऊनोदर करने को तप क्या कहा है ?

था, इच्छा टूटी इसलिये आहार रुक गया—ऐसा नही है। स्वभाव मे लीन होने पर इच्छा टूट जाती है उसे तोडना नही पडता। कोई पूछे कि—इच्छा की होती तब तो आहार आता न ?—यह प्रश्न ही नही है। अपने ज्ञान स्वभाव मे लीनता होने से इच्छा उत्पन्न न हुई, और आहार उसके अपने कारण न आया वह उपवास है।

ज्ञानी को उपवासादि की इच्छा नही है, मैं ज्ञायक चिदानन्द-स्वरूप हूँ—ऐसा भान है, और एक शुद्ध उपयोग की भावना है, किंतु आस्रव की इच्छा नही है। सोलहकारण भावना राग है, उसकी भी भावना ज्ञानी के नही है। उपवासादि करने से शुद्धोपयोग मे वृद्धि होती है, इसलिये वे उपवासादि करते हैं, अर्थात् अपने स्वभाव के लक्ष से शांति बढती है—तब ऐसा कहा जाता है कि उपवास से निर्जरा हुई। वस्तु का स्वभाव है वह धर्म है, धर्म स्वद्रव्य के आलंबन से होता है इसलिये द्रव्य गुण पर्याय के स्वरूप का प्रथम निर्णय करना चाहिये।

यदि धर्मी जीव अथवा मुनि को ऐसा लगे कि उपवास के परिणाम सहज नही आते और शरीर मे शिथिलता मालूम होती है, तथा शुद्धोपयोग शिथिल हो रहा है, तो वहाँ वे आहारादि ग्रहण करते हैं। धर्मात्मा ज्ञानी देखें कि अपने परिणामो मे सहज शांति नही रहती तो वे आहारादि लेते हैं। ज्ञानी हठ पूर्वक उपवास नही करते, परिणामो की शक्ति को देखकर तप करते हैं। जहाँ हठ है वहाँ लाभ नही है। मुनित्व या प्रतिमा को हठ पूर्वक निभाना उचित नही है।

ज्ञानी तत्त्वज्ञान होने के पश्चात् द्रव्य क्षेत्र काल भाव देखकर

प्रतिज्ञा प्रतिमा या मुनित्व ग्रहण करते हैं ऐसा देखो प्रतिमा नहीं लेते। यह सब दशा विपरीतता रहित सहज ही होती है।

नियत का निर्णय पुरुषार्थ से होता है।

"एक में अनेक मौज"—यह बनारसीदासजी का वचन गंभीर है। "समयसार नाटक" पृष्ठ ३३८ में वे कहते हैं कि—

टेक डारि एक मे अनेक खोज सो सुबुद्धि,
खोजी जीव वादी मरे सांची कहवति है।"

प्रतिमामय जो परिणति होना है वह होगी, यह निर्णय किसने किया? वस्तु स्वभाव ज्ञान ही है, वह स्वयं ही निर्णय करता है। नियतका निर्णय पुरुषार्थसे होता है। जिस समय जो होना है वह होगा ही —ऐसा निर्णय पुरुषार्थसे होता है। पुरुषार्थ स्वभावमें है और नित्य स्वभाव ज्ञानस्वरूप है उसके आश्रय से ही ज्ञातापनका सच्चा पुरुषार्थ होता है।

जो खोजता है वह जीता है, और वादी मरता है।

वस्तु स्वरूप समझे बिना सब व्यर्थ है। मुनि अपने में शिथिलता देखें तो आहार लेते हैं। अजितनाथ आदि तीर्थंकरों ने दीक्षा लेकर दो उपवास ही क्यों किये? उनकी तो शक्ति भी बहुत थी, किन्तु जैसे परिणाम हुए वैसा बाह्य साधन द्वारा एक वीतराग शुद्धोपयोगका अभ्यास किया। यह बात भी निमित्त नैमित्तिक—सम्बन्धका की है।

प्रश्न —यदि ऐसा है तो, आहार न लेने, ऊनोदर करने को तप क्यों कहा है?

था, इच्छा टूटी इसलिये आहार रुक गया—ऐसा नही है। स्वभाव में लीन होने पर इच्छा टूट जाती है उसे तोडना नही पडता। कोई पूछे कि—इच्छा की होती, तब तो आहार आता न ?—यह प्रश्न ही नही है। अपने ज्ञान स्वभाव में लीनता होने से इच्छा उत्पन्न न हुई, और आहार उसके अपने कारण न आया वह उपवास है।

ज्ञानी को उपवासादि की इच्छा नही है, मैं ज्ञायक चिदानन्द-स्वरूप हूँ—ऐसा भान है, और एक शुद्ध उपयोग की भावना है, किंतु आस्रव की इच्छा नही है। सोलहकारण भावना राग है, उसकी भी भावना ज्ञानी के नही है। उपवासादि करने से शुद्धोपयोग में वृद्धि होती है, इसलिये वे उपवासादि करते हैं, अर्थात् अपने स्वभाव के लक्ष से शाति बढती है—तब ऐसा कहा जाता है कि उपवास से निर्जरा हुई। वस्तु का स्वभाव है वह धर्म है, धर्म स्वद्रव्य के आलबन से होता है इसलिये द्रव्य गुण पर्याय के स्वरूप का प्रथम निर्णय करना चाहिये।

यदि धर्मी जीव अथवा मुनि को ऐसा लगे कि उपवास में परिणाम सहज नही आते और शरीर में शिथिलता मालूम होती है, तथा शुद्धोपयोग शिथिल हो रहा है, तो वहाँ वे आहारादि ग्रहण करते हैं। धर्मात्मा ज्ञानी देखें कि अपने परिणामो मे सहज शाति नही रहती तो वे आहारादि लेते हैं। ज्ञानी हठ पूर्वक उपवास नही करते, परिणामो की शक्ति को देखकर तप करते हैं। जहाँ हठ है वहाँ लाभ नही है। मुनित्व या प्रतिमा को हठ पूर्वक निभाना उचित नही है।

ज्ञानी तत्त्वज्ञान होने के पश्चात् द्रव्य क्षेत्र काल भाव देखकर

प्रतिज्ञा प्रतिमा या मुनित्व ग्रहण करते हैं देखा देखी प्रतिमा नहीं लेते। वह सब दशा विपरीतता रहित सहज ही होती है।

नियत का निर्णय पुरुषार्थ मे होता है।

"एक में अनेक खोज"—यह बनारसीदासजी का कथन गंभीर है। "समयसार नाटक" पृष्ठ ३३८ मे वे कहते हैं कि—

'टेक डारि एक मे अनेक खोजै सो सुबुद्धि,
खोजी जीव बादी मर साची कहवति है।"

प्रतिसमय जो परिणति होना है वह होगी यह निर्णय किसने किया? वस्तु स्वभाव ज्ञान ही है वह स्वयं ही निर्णय करता है। नियतका निर्णय पुरुषार्थसे होता है। जिस समय जो होना है वह होगा ही —ऐसा निर्णय पुरुषार्थसे होता है। पुरुषार्थ स्वभावमे है और नित्य स्वभाव ज्ञानस्वरूप है उसके आश्रय से ही ज्ञातापनेका सच्चा पुरुषार्थ होता है।

जो खोजता है वह जीता है, और वादी मरता है।

वस्तु स्वरूप समझे बिना सब व्यर्थ है। मुनि अपने मे शिथिलता देखें तो आहार लेते हैं। अजितनाथ आदि तीर्थकरो ने दीक्षा लेकर दो उपवास ही क्यों किये? उनकी तो शक्ति भी बहुत थी, किन्तु जैसे परिणाम हुए बस बाह्य साधन द्वारा एक वीतराग शुद्धोपयोगका अभ्यास किया। यह बात भी निमित्त नैमित्तिक—सम्बन्धस की है।

प्रश्न—यदि ऐसा है तो, आहार न लेने, ऊनोदर करने को तप क्यों कहा है?

उत्तर —उसे बाह्य तप कहा है। बाह्यका अर्थ यह है कि— दूसरा को दिखाई देता है कि यह व्यक्ति तप करता है, किंतु स्वयको तो जसे परिणाम होगे वसा ही फल मिलेगा, क्योंकि परिणामो के बिना शरीर की क्रिया फलदाता नही है।

प्रश्न —शास्त्रम तो अकाम निर्जरा कही है। वहाँ इच्छा के बिना भी भूख तृषादि सहन करने से निर्जरा होती है, तो उपवास करे, कष्ट सहन करे, उसे निर्जरा क्यो नही होगी?

उत्तर —अकाम निर्जरामे भी बाह्य निमित्त तो इच्छारहित भूख तृषा सहन करना है। वहाँ भी अतरग कषायम दता हो तो अकाम निर्जरा है। कषायम दता न हो तो अकाम निर्जरा नही है। बाह्यमे अन्न जल न मिले, और उस काल कषायम दता हो तो अकाम निर्जरा है।

× × ×

[वीर स० २४७६ चैत्र कृष्णा ८, रविवार ता० ७-१-५३]

प्रश्न —उपवास करे, बाह्य सयम पाले, कन्दमूलादिका त्याग करे, उसे धर्म क्यो नही होता?

उत्तर —पशु आदि को भूख प्यास सहन करते समय कषाय-मदता होती है वह अकाम निर्जरा है। उस अकाम निर्जरा मे भी बाह्य निमित्त तो इच्छारहित भूख, प्यासादि सहन करना हुआ है। वहाँ मद कषाय न हो तो पाप बध होता है। कषायमदता करे तो पुण्य होता है देवादि गतिका बध होता है, कि तु वहाँ मिथ्यात्वका पाप तो है ही। अतर स्वभावका भान नही है उसे धर्म नही होता।

निर्जराके चार प्रकार

निर्जरा चार प्रकार की है। (१) बाह्यसे प्रतिकूल संयोग हों और उस समय कषायमन्दता करे तो अकाम निर्जरा होती है। गरीब लोगों को अन्नादि न मिले, उस समय कषायमंदता करें तो पुण्य होता है। कोई युवती विधवा हो जाये, वहाँ कषायमंदता करके ब्रह्मचर्यका पालन करे वह पुण्य है। उसे अकाम निर्जरा होती है। मंदकषायकी हालतमें ज्ञानी या अज्ञानी दोनोंके यह निर्जरा होती है।

(२) आत्मा शुद्ध चिदानन्द स्वरूप है,—वैसे अकषायभाव का लक्ष हो, देहादिकी क्रिया जड़से होती है, आत्मासे नहीं और देहकी क्रियासे आत्माका भला-बुरा नहीं हो सकता पुण्य पापके भाव दोनों बंध हैं, बंधरहित शुद्धस्वभावका भान हो उसे सकामनिर्जरा होती है।

(३) और लोभादिके परिणाम प्रतिसमय करता है, तब जो कर्मके परमाणु खिर जाते हैं उसे सविपाक निर्जरा कहते हैं। अज्ञानीका नवीन बंधसहित यह निर्जरा होती है। यह सविपाक निर्जरा चारों गतिके जीवों के होती है।

(४) मैं ज्ञाता हूँ, देहकी क्रिया मेरी नहीं है, परवस्तुका त्याग मैं नहीं कर सकता,—ऐसी सच्ची दृष्टि होने के पश्चात् कर्म खिरते हैं वह अविपाक निर्जरा है।

सकाम शब्दका अर्थ होता है "आत्माकी सम्यक् भावनासहित" मैं ज्ञानान ■ स्वरूप हूँ, राग मेरा स्वरूप नहीं है—अहितकर है शुभ-राग भी करने लायक नहीं है और शरीरकी क्रिया मैं कर ही नहीं

सकता, राग करना मेरे स्वभावमें नहीं है,—ऐसे ज्ञानीको अकाम, सकाम, सविपाक और अविपाक—ऐसी चारों प्रकारकी निर्जरा होती है। कर्म पके बिना खिर गये इसलिये अविपाक कहा है। आत्माका पुरुषार्थ बतलाने के लिये उसीको सकाम निर्जरा कहते हैं। सकाम और अविपाक निर्जरा ज्ञानीके ही होती है। तदुपरान्त ज्ञानी के अकाम और सविपाक निर्जरा भी होती है। अज्ञानीके अकाम और सविपाक दोनों प्रकार की निर्जरा होती है।

जैन कौन और अजैन कौन ?

मैं त्रिकाल ज्ञायक हूं शुभाशुभभावका नाशक हूं-ऐसा भान होनेसे भ्रान्ति दूर हो जाती है, और शुभाशुभका रक्षक है—एसा माने वह भ्रान्ति है। मैं कुटुम्ब, देश आदि का रक्षक नहीं हूं, तथा शुभाशुभभावका भी रक्षक नहीं हूं, किन्तु नाशक हूं—ऐसा भान होने पर सम्यग्दर्शन होता है। उस समय शुभाशुभभाव सर्वथा दूर नहीं हो जाते। भ्रान्ति दूर होती है, किन्तु पुण्य पाप दूर नहीं होते। फिर स्वरूपमें विशेष लीनता करे तो पुण्य पाप दूर होते हैं।—ऐसा करे वह सच्चा जैन है। अपनी पर्यायमें पुण्य पापके भाव होते हैं, उनका स्वभाव के लक्षसे नाश करनेवाला जैन है। वैसे जीवको शुद्धिकी वृद्धि करने वाली निर्जरा होती है। मैं आत्मा हूं, शरीर, मन, वाणी आदि मेरे नहीं हैं, मैं उन सबका ज्ञाता हूं। मैं विभावका भक्षक और स्वभावका रक्षक हूं—ऐसा माननेवाला जैन है। जो विभावका रक्षक और स्वभावका नाशक है वह अजैन है। शुद्ध चिदानन्दका भान करनेवाला जैन है।

अब यहाँ मूल प्रश्न की बात लेते हैं।

बाह्य प्रतिकूल निमित्तके समय पशु आदि कषायमंदता करें तो पुण्यबंध होता है और देवगतिमें जाते हैं। प्रतिकूलताके समय कषाय मंदता न करे तो पुण्य भी नहीं होता। मात्र दुःख सहन करने से स्वर्ग प्राप्त नहीं होता। आलू आदिके जीवों को महान प्रतिकूलता होती है, अग्निमें सिक जाते हैं। वहाँ दुःखका निमित्त तो है, किन्तु कहीं सबको पुण्यबंध नहीं होता जो कषायमंदता करे उसीको पुण्य होता है। कष्ट सहन करते समय यदि तीव्र कषाय होने पर भी पुण्य-बंध होता हो तो सब तिर्यंचादिक देव ही हो जावेंगे, किन्तु ऐसा नहीं होता। उसीप्रकार इच्छा करके उपवासादिक करने में भूख-प्यास सहन करता है वह बाह्य निमित्त है किन्तु वहाँ रागकी मंदता करे तो पुण्यबंध होगा, किन्तु धर्म नहीं हो सकता। उपवासके समय भी जैसे परिणाम करे वैसा फल है। यहाँ निर्जरा तत्त्वकी भूल बतलाते हैं। स्वरूप शुद्धिकी वृद्धि और रागका अभाव होना वह भाव निर्जरा है और कर्मोंका खिरना द्रव्य निर्जरा है।

जीव जैसे परिणाम करे वैसा ही बंध होता है। बाह्य प्रति-कूलता सहने में कष्ट करने से पुण्य नहीं होता। जैसे—अन्नको प्राण कहा है वह उपचार मात्र है, आयु प्राणके बिना जीव जीवित नहीं रह सकता, यदि आयुप्राण हो तो अन्नको निमित्त कहा जाता है, उसीप्रकार उपवासादि बाह्य साधन होने से अंतरंग तपकी वृद्धि होती है, अर्थात् शुद्ध चिदानन्दके भानपूर्वक अन्तर्लीनता करे तो उपवास को बाह्य साधन कहा जाता है। चिदानन्द आत्मा विभावरहित है— ऐसे भान बिना धर्म नहीं होता। कुदेवादिकी श्रद्धा छोड़ी हो, सच्चे देवादिकी श्रद्धा हुई हो, और उस विकल्पका भी आदर न हो

धर्म नहीं होता। यहाँ कोई कहे कि यदि ऐसा है तो हम उपवासादिक नहीं करेंगे तो उससे कहते हैं कि—हम तो उपवास और निर्जरा का सच्चा स्वरूप कहते हैं। उपदेश ऊपर चढ़ने के लिये है। आहार के प्रति राग कम करे तो पुण्य होता है, तीव्र कषाय घटे तो पुण्य होता है, आहार न ले तो पुण्य हो ऐसा नहीं होता। धर्म तो पुण्य से अलग है जो आत्मा के भान से होता है। तू उल्टा नीचे गिरे तो हम क्या करें?

यदि तू मानादि से उपवासादि करता है तो कर अथवा न कर, कीर्ति के लिये, दिखावा के लिये, बड़प्पन के लिये करता हो तो कर या न कर,—सब समान है, किंतु व्यवहार धर्म बुद्धि से अर्थात् शुभ भाव से आहारादि का राग छोड़े तो जितना राग छूटा उतना छूटा। तीव्र तृष्णा छोड़कर मंद तृष्णा को उसे पुण्य समझ उसे तप मानेगा तो मिथ्यादृष्टि रहेगा। वस्तुओं के प्रति राग कम हो उसे पुण्य मानो, निर्जरा न मानो। उसे जो धर्म मानता है वह मिथ्यादृष्टि है।

अंतरंग तपों में भी प्रायश्चित लेने में शुभ विकल्प होने से पुण्य है निर्जरा नहीं है। सच्चे देव गुरु शास्त्र की विनय करना वह पुण्य परिणाम है। वैयावृत्य करने से पुण्य होता है, धर्म नहीं होता। अज्ञानी लोग कहते हैं कि साधु की वैयावृत्य करने से तीर्थंकर नाम-कर्म का बंध होता है। तीर्थंकर नामकर्म जड़ प्रकृति है, वह बांधने की भगवान की आज्ञा नहीं है और जिस भाव से यह प्रकृति बंधती है वह शुभास्रव करने की भी भगवान की आज्ञा नहीं है। भगवान तो शुद्ध आत्मा की भावना करने को कहते हैं। स्वाध्याय का शुभ भाव

वह पुण्य है। व्युत्सर्ग में शुभ भाव पुण्य है। बाह्य ध्यानमें शुभ-भाव है। कषाय मंदता करे तो पुण्य होता है और कषाय स्वभावका भान करे तो धर्म होता है।

× × ×

[वीर सं० २४७६ चैत्र कृष्णा १० मंगलवार ता० १०-३-५१]

प्रायश्चित्त, विनय आदि अंतरंग तपों में बाह्य प्रयत्न है उसे तो बाह्यतपवत् ही जानना। प्रायश्चित्त और विनय निमित्तरूप से प्रवर्तित होने पर "मैं ज्ञानानन्द हूँ" इसप्रकार अनुभवद्वारा शुद्धि की वृद्धि होना वह निर्जरा है। सम्यग्दर्शन के बिना सच्चा तप नहीं है। मैं ज्ञायक हूँ एक रजकण की क्रिया मेरी नहीं है, मैं दयादि का स्वामी नहीं हूँ,—ऐसे भान पूर्वक अकषाय परिणाम हों वह निर्जरा है।

मैं शुद्ध चिदानन्द हूँ—ऐसी दृष्टि करके स्वसन्मुखज्ञाता रहे, जगत् का साक्षी रहे उतने अंश में शुद्धि है वह भाव निर्जरा है और उनके निमित्त से कर्म खिरते हैं वह द्रव्य निर्जरा है। बारह प्रकारके तप में जितना विकल्प उठता है वह बंध है। जितने अंशमें परिणामोंकी निर्मलता हुई वही वीतरागता है। ऐसे मिश्र भाव ज्ञानीके युगपत् होते हैं। अज्ञानी बाह्य में धर्म मानता है उसके निर्जरा नहीं होती।

प्रश्न —शुभ भावों से पाप की निर्जरा और पुण्यका बंध होता है, और आत्मा शुभाशुभ रहित दृष्टि करे तो दोनों की निर्जरा होती है—पुण्य पाप दोनों खिर जाते हैं—ऐसा क्यों नहीं कहते ? लोग भी कहते हैं कि पुण्य से पाप धुलते हैं।

है। निर्जरा अल्प है और बंध अधिक है। अन्तर आनन्दका अनुभव करता हो उस समय भी उसके निर्जरा कम है। यहाँ पाँचवें—छट्ठे गुणस्थानवाले के साथ तुलना करते हैं। चौथे गुणस्थानवाला धर्मी जीव निर्विकल्प अनुभव में हो, तो उसके निर्जरा कम है, पंचम गुणस्थानवाला श्रावक उपवास और विनयादि करता हो उस कालमे भी छट्ठे वालेकी अपेक्षा उसके कम निर्जरा है, क्योंकि अंतर अकषाय परिणमनके आधारसे निर्जरा है। शुभकी अपेक्षा अथवा बाह्यक्रिया की अपेक्षासे निर्जरा नही है। पंचम गुणस्थानवाला उपवास करता हो तो कम और छट्ठे गुणस्थानवाले मुनि आहार करते हो तथापि उनके अधिक निर्जरा है। उस समय जो राग वर्तता है उससे निर्जरा नही है। शुभरागसे पुण्य है किंतु उसकाल निर्जरा अधिक है, क्योंकि मुनि को स्वरूपके आश्रयसे तीन कषायोंका नाश हो गया है। अकषाय स्वभावके अवलम्बनसे निर्जरा होती है। गुरुकी सेवा तो पुण्यभाव है, उससे निर्जरा नहीं है। जिस भावसे कर्म खिरते हैं उसे निर्जरा कहते हैं। आत्मामें शुद्धभावसे निर्जरा होती है और उससे कर्म खिरते हैं, किन्तु पुण्यका अनुभाग बढता है।

बाह्य क्रियासे निर्जरा नही है। पंचम गुणस्थानवाला श्रावक एक महीने के उपवास करे, उस समय उसके जो निर्जरा होती है उसकी अपेक्षा मुनिको निद्राके समय [illegible] आहारके समय विशेष निर्जरा है। इसलिये अकषाय परि[illegible] निर्जरा होती है। [illegible] पर आधार नहीं है

[illegible] धर्म मानते [illegible] लें,
कार्योंमें धर्म [illegible]

दृष्टिपूर्वक आत्मामें लीनता हो उसके निर्जरा है। वस्त्र पात्र सहित मुनिपना मनाये वह गृहीत मिथ्यादृष्टि है। नग्न दशापूर्वक अकषाय दशा हो उसे भावलिंगी मुनि कहते हैं। मात्र बाह्यसे नग्नतामें मुनिपना नहीं है। जीवकी क्रिया जीवसे होती है, उसमें अजीव निमित्त मात्र है,—आदि नवतत्त्वोंका जिसे भान नहीं है, वह बाह्यमें उपवासादि करे, नमक न खाये तो उससे क्या हुआ? सादा आहार लेनेमें निर्जरा मानता है, अमुक पदार्थ न खाये उससे धर्म मानता है। बाह्य वस्तुओं के खाने या न खाने पर धर्मका आधार नहीं है। किन्तु अपने शुद्धोपयोगसे निर्जरा होती है। किसी ने अन्न-जल छोड़ दिया हो, तो उससे उसे त्यागी मान लेते हैं, वह भ्रांति है।

पंचम गुणस्थान वाला बल हरा घास खाता हो उस समय भी उसे चौथे गुणस्थान वाले ध्यानी की अपेक्षा विशेष निर्जरा है। अंतर में दो कषायों का नाश है, उसके प्रतिक्षण शुद्धि की वृद्धि होती जाती है। हरियाली खाने का पाप नहीं है। निर्बलता के कारण जो अशुभ भाव होता है उससे अल्प बंध है। अशुभ भाव से निर्जरा नहीं है, किन्तु अशुभ भाव के समय दो कषायों का नाश है इसलिये निर्जरा है।

छट्ठे गुणस्थान वाले मुनि को आहारादि से शुभ बंध होता है, किन्तु अंतर में तीन कषाय दूर हुए हैं इसलिये शुद्धता बढ़ती है। निर्जरा की अपेक्षा बंध कम है इसलिये बाह्य प्रवृत्ति अनुसार निर्जरा नहीं है, अंतरंग कषाय शक्ति घटने से और विशुद्धता होने पर निर्जरा होती है। यहाँ विशुद्धता अर्थात् शुद्धता की विशेषता समझना। अन्तर कषाय शक्ति कम होने से निर्जरा होती है।

पण्डित श्री टोडरमलजी के दृष्टि भी थी और ज्ञान का विकास भी था। हजारो शास्त्रो का निचोड मोक्षमार्ग प्रकाशक में भर दिया है।

—इसप्रकार अनशन, वृत्तिपरिसंख्यान, ध्यानादि को उपचार से तप संज्ञा है—ऐसा जानना, और इसीलियें उसे व्यवहारतप कहा है। आत्मा में शुद्धता हो जाये तो, पहले जो विकल्प हो उसे व्यवहार कहते हैं। निमित्त का आश्रय छोडकर स्वाश्रय द्वारा शुद्धि मे वृद्धि हो तो निमित्त को साधन कहते हैं। व्यवहार उपचार का एक अर्थ है। और ऐसे साधन से वीतराग भावरूप जो विशुद्धता होती है वही सच्चा तप–निर्जरा का कारण जानना।

दृष्टा त —धन और अन्न को प्राण कहा है। उसका कारण धन से अन्न लाकर भक्षण करने से प्राणो की पुष्टि हो सकती है, इसलिये धन और अन्न को प्राण कहा है, कि तु आयुष्य न हो तो धन क्या काम करे? मुर्दे को आहार–जल दो तो क्या होगा? पांच इ द्रियां, मन, वचन, काय, श्वास और आयु—यह प्राण जीव सहित हो तो धन को प्राण कहा जाये, कि तु इ द्रियादि प्राणो को न जाने और धनको ही प्राण जानकर संग्रह करे तो मरण ही हो।

जिसके अ तद्द ष्टि और ज्ञान नही है उसके बाह्य तप को उपचार भी नही कहा जाता। उसी प्रकार अनशन, प्रायश्चित्त, विनय आदिक को तप कहा उसका कारण यह है कि अनशनादि साधन से प्रायश्चित रूप प्रवर्तित होने पर वीतरागभावरूप सत्यतप का पोषण हो सकता है। इसलिये उन अनशन, प्रायश्चित आदि को उपचार से तप

कहा है, किन्तु कोई वीतराग भावरूप तप को तो न जाने और बारह तपों को तप जानकर संग्रह करे तो संसार में भटकता है। लोग बाह्य तप में धर्म मानते हैं। कुदेवादि को माने, वहाँ गृहीत मिथ्यात्व का त्याग नहीं है, फिर उसे तपश्चर्या कैसी ? अज्ञानी की तपश्चर्या में सच्ची तपश्चर्या मानना और मनाना वह महान पाप है। दृष्टि की खबर नहीं है, सच्ची बात रुचती नहीं है और व्रत धारण करे, तो वह जन नहीं है, उसे अपनी खबर नहीं है। व्यवहार सहित सात तत्त्वों की पृथकता की खबर नहीं है उसे तत्त्वार्थश्रद्धान कहाँ से होगा ? नहीं हो सकता।

इसलिये इतना समझ लेना चाहिये कि निश्चय धर्म तो वीतरागता है। अपने में पुण्य–पाप रहित शुद्धता होती है वह वीतरागभाव है।

[वीर सं० २४७६ चैत्र कृष्णा ११ बुधवार ता० ११-३-५३]

यह व्यवहाराभासी का अधिकार चल रहा है। सात तत्त्वों का जैसा भाव है वैसा भाव का ख्याल नहीं है वह व्यवहाराभासी है। निर्जरातत्त्व क्या है उसका विचार करना चाहिये। कर्मों का छूटना वह द्रव्यनिर्जरा है। पर्याय में शुद्धता की वृद्धि होना अर्थात् पुण्य-पाप रहित स्वरूप में लीनता होना वह भावनिर्जरा है, धर्म है। रसपरित्याग, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय आदि धर्म नहीं हैं, उन्हें उपचार से तप कहा है। जानना देखना मेरा स्वभाव है, रागद्वेष मेरा स्वभाव नहीं है—ऐसी श्रद्धा करके स्वरूप में लीनता होना वह धर्म है। वीतराग भाव हो तो उपवास को निमित्त कहते हैं। दृष्टिपूर्वक अविकारी परिणाम को निर्जरा कहते हैं। बाह्य तप को

उपचार से धर्म सच्चा कहा है। द्रव्य–गुण–पर्याय का विचार करना वह राग है। वसे राग से भी आत्मा पृथक हो तो निर्जरा है। उपवास नाम धारण करे, किन्तु सात तत्त्वो के भाव का भासन नहीं है उसके उपवास नही किन्तु लघन है, उससे धर्म नहीं है। उससे निर्जरा माने तो मिथ्यात्व का पाप लगता है। आहार न आना वह जड की क्रिया है, कषाय मन्दता पुण्य है, पुण्य रहित शुद्ध आत्मा के *आश्रय से निर्जरा होती है। उसका रहस्य जो नही जानता उसे* निर्जरा की सच्ची श्रद्धा नही है। इसलिये उसके बाह्य उपवास को व्यवहार नाम लागू नही होता।

सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र की एकता वह मोक्षमार्ग है। उसमें निर्जरातत्त्व की भूल बतलाते हैं। अज्ञानी मानता है कि बाह्य पदार्थों का त्याग किया इसलिये निर्जरा होती है किन्तु वह निर्जरा नही है। आत्मा में निर्विकल्प अनुभव हुआ हो उस निर्जरा कहते हैं।

मोक्षतत्त्व के श्रद्धान की अयथार्थता

मोक्षतत्त्व अरिहन्त–सिद्ध का लक्षण है। पचपरमेष्ठी में अरिहन्त–सिद्ध लक्ष्य हैं और मोक्षतत्त्व उनका लक्षण है। जिसे मोक्षतत्त्व का भान नही है उसे अरिहन्त सिद्ध की खबर नही है। अपने में पूर्ण निर्मल पर्याय होना वह मोक्ष है।

"मोक्ष कह्यो निज शुद्धता"

अज्ञानी जीव मुक्ति शिला पर जाने को सिद्धपना कहते हैं, किन्तु वह भूल है। अपनी शक्ति में शुद्धता भरी है, उसमें से परिपूर्ण व्यक्त शुद्ध दशा का होना वह मोक्ष है। जब यहाँ पर्याय में

मान होता है उस समय ऊर्ध्वगमन स्वभाव से आत्मा ऊपर जाता है। मोक्ष और ऊर्ध्वगमन में समय भेद नहीं है। अपनी ज्ञान शक्ति में से केवलज्ञान प्रगट हुआ, दर्शन शक्तिमें से केवल दर्शन प्रगट हुआ, आनन्द शक्ति में से केवल आनन्द प्रगट हुआ—इत्यादि प्रकार से सब शुद्धता हुई वह मोक्ष है। केवलज्ञान लोकालोक का जानना है वह तो व्यवहार है। लोकालोक को जानता है इसलिये केवलज्ञान अथवा मोक्ष है—ऐसा नहीं है। ज्ञान, दर्शन, आनन्द, वीर्य आदि पर्यायों की परि-पूर्णता है इसलिये मोक्ष है, मुक्तिशिला पर रहना वह सिद्धपना नहीं है। मुक्तिशिला पर तो एकेन्द्रिय-निगोद के जीव भी हैं। और सिद्ध के जन्म, जरा, मरण, रोग इत्यादि दुःख दूर हुए हैं इसलिये मोक्ष मानता है, किन्तु अपना स्वभाव जन्म-जरा रहित है उसका उसे भान नहीं है। और वह ऐसा जानता है कि उन्हें अनन्त ज्ञान द्वारा लोकालोक का ज्ञान हुआ है। सिद्ध दशा में लोकालोक का ज्ञान हो जाता है—ऐसा जो नहीं जानता वह तो व्यवहाराभासियों में भी नहीं आता। यहाँ तो कहते हैं कि—लोका लोक का ज्ञातृत्व मानने पर भी, अपने में अनन्त ज्ञान भरा है,—ऐसी जिसे खबर नहीं है वह व्यवहाराभासी है।

अनन्तता के स्वरूपको केवली अनन्तरूपसे जानते-देखते हैं।

कोई कहे कि केवली भगवान अनन्त को अनन्त जानते हैं इस लिये वे अनन्तका अन्त नहीं जानते, इसलिये उनके सर्वज्ञत्व केवलज्ञान नहीं है, यह भी भूल है। अनन्तताको अनन्तरूपसे न जाने और अन्तरूप जाने तो केवलज्ञान मिथ्या सिद्ध हो। पं० बनारसी-दासजी ने "परमार्थ वचनिका" में कहा है कि उस अनन्तताका

वे ग्रात्मजनित सुख नही हैं। वहाँ बाग–बगीचे, हाथी–घोडे, हीरे–जवाहिरात ग्रादि ग्रनुकूल सयोगो को सुख मानता है, किन्तु उसे ग्रात्माके सुखका ग्राभास नही है। ग्रज्ञानी जीव कहता है कि मोक्षमें शरीर इन्द्रियें लाडी, वाडी, पसा, गाडी ग्रादि कुछ भी नही है तो वहाँ कैसा सुख ?—ऐसी 'उसकी' मान्यता है। ग्रौर कोई–कोई कहते हैं कि भगवान तीनकाल तीनलोकके नाटक देखते हैं, इसलिये उन्हें महान ग्रानद है।—ऐसे जीवो को मोक्षके स्वरूपकी खबर नही है। ग्रपनी पर्यायमें पूर्ण ग्रानद प्रगट हो वह मोक्ष है। जैसी परिपूर्ण शक्ति है वसी परिपूर्णता पर्यायमें प्रगट होना वह मोक्ष है,—ऐसी उसे खबर नही है। किन्तु महापुरुष मोक्षको स्वगसे उत्तम कहते हैं, इसलिये ग्रज्ञानी मोक्षको उत्तम मानता है। जस—कोई सगीतके स्वरूपको न जाने, किन्तु सारी सभाको प्रशसा करते देख स्वय भी प्रशसा करने लगे, उसीप्रकार ग्रज्ञानी मोक्षको उत्तम मानता है।

प्रश्न—शास्त्रोमे भी ऐसी प्ररूपणा है कि—इन्द्रोकी ग्रपेक्षा सिद्धोको ग्रनन्तागुना सुख है, उसका क्या कारण ?

उत्तर—यहाँ तो जिस मोक्षतत्त्वकी पहिचान नही है उसकी बात चल रही है। जिसप्रकार तीर्थंकरके शरीरकी प्रभा सूयके तेजसे करोडगुनी कही है, किन्तु वहाँ उसकी एक जाति नही है। भगवान मे उत्कृष्ट पुण्यप्रकृति ग्रौर परमौदारिक शरीर है, सूयका जो विमान दिखाई देता है वह पृथ्वीकाय है। तीर्थकरके पचेन्द्रिय शरीर है, इसलिये पुण्यप्रकृति महान है। किन्तु लोकमे सूयप्रभाका माहात्म्य है, उससे भी ग्रधिक माहात्म्य बतलाने के हेतु उपमा दी है। तीर्थंकर के केवलज्ञान की क्या बात! उनकी पुण्यप्रकृति भी लोकमें

अद्वितीय है। पूर्वकालमें तीर्थंकर नाम कर्मका बंध किया है, उसके निमित्तसे अद्भुत शरीर है। भक्तामर स्तोत्रमें आता है कि—हे नाथ! जगतम जितने भी शांत परमाणु हैं, वे सब आपके शरीरमें आकर परिणमित हुए हैं।—ऐसा सुन्दर और शांत है उनका शरीर। गौतमस्वामी ने ज्यों ही समवशरणमें प्रविष्ट किया कि भगवानको देखकर उनका मान गल गया, वहाँ भगवान निमित्त कहलाते हैं। इस दृष्टान्तके अनुसार सिद्धके सुखको इन्द्रादिके सुखकी अपेक्षा अनन्तागुना कहा है। वहाँ उसकी एक जाति नहीं है, किन्तु लोग मानते हैं, इसलिए उपमानकारसे ऐसा कहा है। महिमा बतलाने के लिये ऐसा कहा है। जिनके अन्तरसे आत्माका सुख प्रगट हुआ है, ऐसी जाति अन्यत्र नहीं हो सकती।

प्रश्न—सिद्धके और इन्द्रादिके सुखको वह एक ही जातिका मानता है,—ऐसा निश्चय आपने कैसे किया?

उत्तर—धर्मके जिस साधनसे वह स्वर्ग मानता है उसी साधन से मोक्ष मानता है इसलिये उसके अभिप्रायमें स्वर्ग और मोक्षकी एक ही जाति है। लोग कहते हैं कि व्यवहार करोगे तो एक दिन बेड़ा पार हो जायेगा। तो क्या राग करते–करते धर्म होता है? नहीं, बाह्य लक्ष छोड़े बिना कभी निश्चय प्रगट नहीं होता। तुम शुभराग की क्रिया से स्वर्ग मानते हो और उसी क्रियासे मोक्ष भी मानते हो, इसलिये तुम्हें मोक्षकी खबर नहीं है। जो व्यवहारसे मोक्ष मानता है वह मूढ़ है, उसे मोक्ष–जातिकी खबर नहीं है। अनशनादिक करने, णमोकार गिनने आदि से धर्म होगा ऐसा मानता है। अंजन चोरने अपने आत्माके आश्रयसे सम्यग्दर्शन प्राप्त किया था, तब पूर्वमें किये गये णमोकार मंत्रके शुभराग पर उपचार

वे आत्मजनित सुख नहीं हैं । वहां बाग-बगीचे, हाथी-घोड़े, हीरे-जवाहिरात आदि अनुकूल संयोगों को सुख मानता है, किन्तु उसे आत्माके सुखका आभास नहीं है । अज्ञानी जीव कहता है कि मोक्षमें शरीर इन्द्रियें लाड़ी, वाड़ी, पैसा, गाड़ी आदि कुछ भी नहीं है तो वहां कैसा सुख ?—ऐसी 'उसकी' मान्यता है । और कोई-कोई कहते हैं कि भगवान तीनकाल तीनलोकके नाटक देखते हैं, इसलिये उन्हें महान आनन्द है ।—ऐसे जीवों को मोक्षके स्वरूपकी खबर नहीं है । अपनी पर्यायमें पूर्ण आनन्द प्रगट हो वह मोक्ष है । जैसी परिपूर्ण शक्ति है वैसी परिपूर्णता पर्यायमें प्रगट होना वह मोक्ष है,—ऐसी उसे खबर नहीं है । किन्तु महापुरुष मोक्षको स्वर्गसे उत्तम कहते हैं, इसलिये अज्ञानी मोक्षको उत्तम मानता है । जैसे—कोई संगीतके स्वरूपको न जाने, किन्तु सारी सभाको प्रशंसा करते देख स्वयं भी प्रशंसा करने लगे, उसीप्रकार अज्ञानी मोक्षको उत्तम मानता है ।

प्रश्न :—शास्त्रोंमें भी ऐसी प्ररूपणा है कि—इन्द्रोंकी अपेक्षा सिद्धोंको अनन्तगुना सुख है, उसका क्या कारण ?

उत्तर :—यहां तो जिसे मोक्षतत्त्वकी पहिचान नहीं है उसकी बात चल रही है । जिसप्रकार तीर्थंकरके शरीरकी प्रभा सूर्यके तेजसे करोड़गुनी कही है, किन्तु वहां उसकी एक जाति नहीं है । भगवान में उत्कृष्ट पुण्यप्रकृति और परमौदारिक शरीर है, सूर्यका जो विमान दिखाई देता है वह पृथ्वीकाय है । तीर्थंकरके पंचेन्द्रिय शरीर है, इसलिये पुण्यप्रकृति महान है । किन्तु लोकमें सूर्यप्रभाका माहात्म्य है, उससे भी अधिक माहात्म्य बतलाने के हेतु उपमा दी है । तीर्थंकर के केवलज्ञान की क्या बात ! उनकी पुण्यप्रकृति भी लोकमें

अद्वितीय है। पूर्वकालमें तीर्थंकर नाम कर्मका बंध किया है, उसके निमित्तसे अद्भुत शरीर है। भक्तामर स्तोत्रमें आता है कि—हे नाथ! जगतमें जितने भी शांत परमाणु हैं, वे सब आपके शरीरमें आकर परिणमित हुए हैं।—ऐसा सुन्दर और शांत है उनका शरीर। गौतमस्वामी ने ज्यों ही समवशरणमें प्रविष्ट किया कि भगवानको देखकर उनका मान गल गया, वहाँ भगवान निमित्त कहलाते हैं। इस दृष्टान्तके अनुसार सिद्धके सुखको इन्द्रादिके सुखकी अपेक्षा अनन्तगुना कहा है। वहाँ उसकी एक जाति नहीं है, किन्तु लोग मानते हैं इसलिये उपमालकारसे ऐसा कहा है। महिमा बतलाने के लिये ऐसा कहा है। जिनके अन्तरसे आत्माका सुख प्रगट हुआ है, ऐसी जाति अन्यत्र नहीं हो सकती।

प्रश्न—सिद्ध और इन्द्रादिके सुखको वह एक ही जातिका मानता है,—ऐसा निश्चय आपने कैसे किया?

उत्तर—धर्मके जिस साधनसे वह स्वर्ग मानता है उसी साधन से मोक्ष मानता है, इसलिये उसके अभिप्रायमें स्वर्ग और मोक्षकी एक ही जाति है। लोग कहते हैं कि व्यवहार करोगे तो एक दिन बेड़ा पार हो जायेगा। तो क्या राग करते-करते धर्म होता है? नहीं, बाह्य लक्ष छोड़े बिना कभी निश्चय प्रगट नहीं होता। तुम शुभराग की क्रिया से स्वर्ग मानते हो और उसी क्रियासे मोक्ष भी मानते हो, इसलिये तुम्हें मोक्षकी खबर नहीं है। जो व्यवहारसे मोक्ष मानता है वह मूढ़ है, उसे मोक्ष-जातिकी खबर नहीं है। अनशनादिक करने, णमोकार गिनने आदि से धर्म होगा ऐसा मानता है। अंजन चोरने अपने आत्माके आश्रयसे सम्यग्दर्शन प्राप्त किया था, तब पूर्वमें किये गये णमोकार मंत्रके शुभराग पर उपचार किया

है। जिस भावसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है उससे मोक्ष माने वह मिथ्यादृष्टि है। जो जीव निश्चयदशा प्राप्त करता है, उसके पूर्वकालीन शुभरागको व्यवहार कहा है। अंजन चोरने सम्यग्दर्शन प्राप्त किया, उसका आरोप णमोकार मंत्र पर दिया है। नवमें ग्रैवेयक जानेवाले मिथ्यादृष्टि मुनिने अनेकोंबार नमस्कार मंत्र गिना है, उसपर क्या आरोप नहीं आता ?—तो कहते हैं कि उसे निश्चय प्रगट नहीं हुआ। इसलिये अभेद दृष्टि करके सम्यग्दर्शन प्रगट किया है, तब अंजन चोरके व्यवहारके एक अंश पर आरोप करके कहते हैं कि अंजनचोरने नमस्कार मंत्रसे धर्म प्राप्त किया, किन्तु अज्ञानी जीव तो मानता है कि बाह्यक्रिया और शुभरागसे मोक्ष होता है, वह मोक्षतत्त्वको नहीं जानता इसलिये अरिहंतको भी नहीं जानता।

× × ×

[वीर सं० २४७६ चैत्र कृष्णा १२ गुरुवार ता० १२-३-५३]

सिद्धचक्र विधान होता है उसमें जड़की क्रिया स्वतंत्र होती है, वह आत्मासे नहीं हुई है। नैमित्तिक क्रिया हो, तब आत्माकी इच्छा और योगको निमित्त कहते हैं। जड़ और चेतन दोनों भिन्न होने पर भी ऐसा मानना कि दोनों एकत्रित होकर कार्य करते हैं वह भ्रान्ति है। उपादान-निमित्त दोनों निश्चित हैं, और दोनों अपने-अपने निश्चय हैं। उपादानकी पर्याय निश्चय है और निमित्तकी पर्याय भी निश्चय है। प्रत्येक पदार्थ अपनी अपेक्षासे निश्चय है। दूसरे पदार्थ के साथके सम्बन्धको व्यवहार कहा जाता है।

प्रश्न —हम स्वर्गसुख और मोक्षसुखको एक मानते हैं—ऐसा आप क्यों कहते हैं ?

उत्तर—जिस परिणामसे स्वर्ग मिलता है उसी परिणाम से मोक्षकी प्राप्ति होती है—ऐसा तू मानता है, इसलिये तेरे अभिप्राय में स्वर्ग और मोक्षकी एक ही जाति है। व्यवहार करने से बेड़ा पार हो जायेगा—ऐसा अज्ञानी मानता है, किन्तु कारणमें विपरीतता है इसलिये कार्यमें भी विपरीतता है। अज्ञानी जीव यथार्थ कारणको नहीं मानता। अधिक पुण्य करोगे तो वह बढ़ते-बढ़ते मोक्षकी प्राप्ति हो जायगी—ऐसा माननेवाला मूढ़ है, वह मोक्षको नहीं मानता। जिस कारणसे बंध होता है उसे मोक्षका कारण मानना वह भूल है।

पुनश्च, जड़ कर्मका उदय है इसलिये जीवको संसारमें रुलना पड़ता है ऐसा नहीं है। कर्मके निमित्त जुड़ने से अपनी पर्यायमें जो औदयिकभाव है वह असिद्धभाव जीवका स्वतत्त्व है।—उसका भेदज्ञानरूप भाव अज्ञानीको भासित नहीं होता। भावमोक्ष अपनी पर्यायमें होता है। कर्मोंका दूर होना वह अपना भाव नहीं है। कर्मोदयमें जुड़ने से औदयिकभाव होता है वह स्वतंत्र स्वतत्त्व है। केवली भगवानको भी अपनी पर्यायमें कुछ गुणोंमें—कर्ता, कर्म, करण आदि तथा वैभाविक क्रियावती, योगादि में—विभावरूप परिणमन है, इतना उदयभाव है—वह मलिनता स्वतत्त्व है इसलिये सिद्धदशा को प्राप्त नहीं होते। असिद्धत्व अपनी पर्यायका दोष है। तत्त्वकी यथार्थ श्रद्धाके बिना दर्शन, ज्ञान, चारित्र सब विपरीत होता है।

चौदहवें गुणस्थान तक अपने कारण औपाधिकभाव है। अपनी नैमित्तिक पर्यायमें मलिनता है, उसका अभाव होकर सिद्धदशा होती है। वहाँ भी कर्म तो निमित्तमात्र है और अपनी पर्यायमें नैमित्तिकता अपने कारण है। वहाँ जीव स्वयं रुका है, इसलिये द्रव्य मोक्ष नहीं

होता। उपाधिभावका सर्वथा अभाव पूर्वक प्रगट दशामें पूर्ण शुद्ध-स्वभावरूप आत्मा होने से द्रव्यमोक्ष होता है। इसप्रकार मोक्षतत्त्व का भास होना चाहिये। जिसप्रकार स्कंध में से छूटने के समय परमाणु शुद्ध होते हैं उसीप्रकार आत्मा कर्म विपाकसे भिन्न होने पर शुद्ध होता है। केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तज्ञान द, अनन्त-वीर्यादिरूप आत्मा होता है। मोक्ष लक्षण है और अरिहन्त-सिद्ध लक्ष्य हैं। जिसे मोक्षके भावका भास नहीं है उसे अरिहन्त-सिद्धकी श्रद्धा विपरीत है। यथार्थ निर्णय करे तो सम्यग्दर्शन होता है।

दृष्टान्त —स्कंधसे परमाणु पृथक् हो जाये तो शुद्ध है, किन्तु विशेषता यह है कि परमाणु स्कंधमें हो तो दुःखी नहीं है और पृथक् हो तो सुखी नहीं है। उसे सुख-दुःख नहीं है। आत्मा अशुद्ध-दशाके समय दुःखी और शुद्धदशाके समय सुखी है।—इतना परमाणु और आत्माके बीच अन्तर है। औपाधिकभाव संसार है और उसका अभाव होना मोक्ष है, वहाँ निराकुल लक्षणवाले अनंत सुखकी प्राप्ति होती है। और इन्द्रादिकको जो सुख है वह तो आकुलताजनित सुख है, परमार्थसे वे भी दुःखी हैं। अपने स्वभावसे च्युत होकर परपदार्थादि में सुख माने वह दुःख है। रोगमें दुःख नहीं है और निरोगतामें सुख नहीं है। आकुलताजन्य परिणामोंका होना वह दुःख है, इसलिये देवादि परमार्थसे दुःखी हैं। यही कारण है कि उनके और सिद्धके सुखकी एक जाति नहीं है। पुनश्च, स्वर्गसुख का कारण तो प्रशस्त राग है और मोक्षसुखका कारण वीतरागभाव है—इसप्रकार कारणमें फेर है। अज्ञानीको सात तत्त्वोंकी श्रद्धाकी खबर नहीं है, श्रद्धाके बिना धर्म नहीं होता। दया, दान, यात्रा,

भक्ति आदि में धर्म है ? नहीं, चारित्र वह धर्म है और धर्मका मूल सम्यग्दर्शन है । मूल के बिना वृक्ष या शाखाएँ हो सकती हैं ?—नहीं हो सकती ।

अज्ञानी को तत्त्वार्थश्रद्धान नामनिक्षेप से है ।

अज्ञानी जीवको नवतत्त्वोंकी विकल्प सहित श्रद्धा हुई किन्तु भावभासन नहीं हुआ, इसलिये मिथ्यादर्शन ही रहता है । अभव्यको तत्त्वार्थ श्रद्धान है वह नाम निक्षपसे है, किन्तु उसे यथार्थ तत्त्वार्थ श्रद्धान नहीं समझना, क्योंकि उसके भावका भासन नहीं है । अभव्यको जीवादिका श्रद्धान है किन्तु भावभासन नहीं है, अथवा भाव निक्षेपसे नहीं है द्रव्य, गुण, पर्याय स्वतन्त्र हैं—ऐसा भासन उसके नहीं है ।

श्री प्रवचनसारमें कहा है कि—"आत्मज्ञानशून्य तत्त्वार्थ श्रद्धान कार्यकारी नहीं है ।" वहां जो तत्त्वश्रद्धान कहा है वह नाम निक्षपसे है । रागरहित तत्त्वश्रद्धानकी वहाँ बात नहीं है तत्त्वोंका जैसा भाव हो वैसा ही भासन होना वह तत्त्वार्थश्रद्धान है । रागका अवलम्बन छूटकर एक आत्मामें नवो तत्त्वोंके भावका भासन होना वह सम्यग्दर्शन है । ज्ञान भेद करके जानता है, तथापि उसमें रागका अवलम्बन नहीं है । अभेदके अवलम्बनसे सम्यग्दर्शन होता है ।

सविकल्प और निर्विकल्प भेदज्ञान

भेदके अर्थ निम्नानुसार चार प्रकार से हैं—

(१) आत्मामें दर्शन-ज्ञान-चारित्रके भेद करना भी भेद है-व्यवहार है । वह बंधका कारण है, धर्मका नहीं ।

(२) आत्मा शरीर से भिन्न है, कर्मसे भिन्न है ।—ऐसे

विकल्पसहित भेद करना सो भेदज्ञान है, किन्तु वह रागसहित है। सम्यग्दर्शन होने से पूर्व ऐसा विकल्पमय भेदज्ञान होता है।

(३) रागका अभाव होकर स्वभावमे एकाग्र होना यह निर्विकल्प भेदज्ञान है उसमे परसे पृथक् होनेकी अपेक्षासे भेदज्ञान कहा है, तथापि वह निर्विकल्प है।

(४) तत्त्वार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन–यह चौथी बात है। ज्ञान सब को जान लेता है, तथापि वहाँ राग नहीं है। वह निर्विकल्प भेदज्ञानमें आजाता है, तथापि अपेक्षामें अंतर है। अपना भावभासन होने पर उसमें सात तत्त्वोका भावभासन आजाता है। यहाँ, अपने स्व पर प्रकाशक ज्ञानसामर्थ्यसे स्व को जानते हुए सातो तत्त्वोको जान लेता है, तथापि वहाँ राग नही है, इस अपेक्षासे निर्विकल्प भेदज्ञान है। अपने ज्ञानका स्वभाव ऐसा है कि स्व परको भेद करके जानता है तथापि वह निर्विकल्प भेदज्ञान है। साता तत्त्व भेदरूप हैं—ऐसे भावका भासन एक आत्मामें होना वह निर्विकल्प भेदज्ञान है।—ऐसा यहाँ और तत्त्वार्थसूत्र मे कहा है।

श्री 'समयसार नाटक" मे सविकल्प भेदज्ञान और निर्विकल्प भेदज्ञान की बात आती है। वहाँ प्रथम सविकल्प भेदज्ञानको उपादेय कहा है। फिर तत्त्वार्थ श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहा है। उसम निर्विकल्प भेदज्ञान की बात है। नवतत्त्वो की परिपाटी नही है अर्थात् नव के विकल्प नही है। मोक्षशास्त्र में जा तत्त्वार्थ श्रद्धान कहा है वह एकरूप भाव है, वहाँ विकल्प नही है। समयसार में नवतत्त्वो की परिपाटी छोडकर, एक आत्मा प्राप्त होओ–एसा जो कहा है, वहाँ रागसहित नवतत्त्वा की बात है।

एक रूप ज्ञायक स्वभाव की प्रतीति सो सम्यग्दर्शन है। पर्याय में सात तत्त्वो के भाव का भासन होना वह सम्यग्ज्ञान है। वसे सम्यग्ज्ञान सहित सम्यग्दर्शन की यहाँ मोक्षमार्ग प्रकाशक में तथा तत्त्वार्थ सूत्रमें बात है। सात तत्त्वोका भासन होना वह ज्ञान प्रधान कथन है। ज्ञान सात को यथार्थ जानता है तथापि उसमें राग नहीं है। तीसरे बोल में विकल्प रहित भेदज्ञान कहा वह बात पर से भेद करने की अपेक्षा से है और चौथे बोल में अपने ज्ञान के सामर्थ्य से साता तत्त्वो का भासन होता है वह एकरूप है। समयसार में सम्यग्दर्शन की व्याख्या दर्शन प्रधानसे है। मिथ्या रुचि वाला जीव व्यवहार से सम्यग्दर्शन के नि शकित, नि कांक्षित आदि आठ अंग का पालन करता है किन्तु वह तो शुभ राग है धर्म नहीं है। आठ अंगो का पालन करे तथापि व्यवहाराभासी है।

× × ×

[वीर स० २४७६ चैत्र कृष्णा १३ शुक्रवार ता० १३-४-५१]

सम्यग्दर्शन के बिना अकेला व्यवहार व्यर्थ है।

जिसे कुदेवादि की श्रद्धा है और व्यवहार से सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की खबर नही है वह तो गृहीत मिथ्यादृष्टि है। जो सर्वज्ञदेव, निग्रंथ गुरु, और अनेका त बतलानेवाले शास्त्र की श्रद्धा करे तथा कुदेवादि की श्रद्धा छोडे, उन्हें माननेवाले की श्रद्धा छोडे, आठ मद न करे आठ आचार पाले और देव-गुरु-लोकमूढता—ऐसे पच्चीस मलो का त्याग करे, तो भी उसके वह राग है राग है वह पुण्य है धर्म नही है। जिसके पच्चीस दोषो का त्याग नही है वह तो गृहीत

मिथ्यादृष्टि है यहाँ तो कहते हैं कि जिसके गृहीत मिथ्यादर्शन दूर हुआ है, किन्तु अंतरस्वभाव का भाव नहीं है वह शुभोपयोगयुक्त होने पर भी व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि है। व्यवहारसे पच्चीस दोष दूर करनेपर भी उसे यथार्थ तत्त्वार्थ श्रद्धान नहीं है। तत्त्वार्थश्रद्धान में भावभासन होना चाहिये। पुनश्च, संवेगादि धारण करे, अप्सराओं के आने पर भी चलित न हो भगवान की भक्तिके लिये सिर भी दे दे,—तथापि वह शुभ राग है। किन्तु जिस प्रकार बीज बोये बिना, खेत की सावधानी पूर्वक संभाल करने पर भी अनाज नहीं होता, (—खेत की सफाई करे किन्तु बीज न बोये तो फसल नहीं हो सकती) उसी प्रकार पच्चीस दोषों का त्याग करे, संवेगादि का पालन करे, वह क्षेत्र शुद्धि है, तथापि आत्मभानरूपी बीज के बिना मात्र क्षेत्रशुद्धि व्यर्थ है। उस व्यवहार—आचार का फल संसार है, जो कुदेवादि को मानता है उसके तो क्षेत्रशुद्धि भी नहीं है। सर्वज्ञ कथित मार्ग ही सच्चा मार्ग है—ऐसा मानता है, किन्तु सम्यग्दर्शनरूपी बीज के बिना कोई लाभ नहीं हो सकता। जिसे केवलज्ञान में शंका है, महाविदेहक्षेत्र की शंका है, असंख्य द्वीप—समुद्र होंगे या नहीं?—ऐसी शंका है, उसे आगमकी श्रद्धा नहीं है, वह तो व्यवहाराभासियों में भी नहीं आता। मैं ज्ञायक हूँ—ऐसे भानपूर्वक राग हो, उसके राग को व्यवहार कहते हैं। जो वीतराग सर्वज्ञ कथित धर्म तथा वेदान्तादि को समान माने वह तो मिथ्यादृष्टि है।

प्रश्न :—मध्यस्थ बुद्धि रखे तो?

समाधान :—विष्टा और हलुवामें मध्यस्थ बुद्धि रखे तो? सर्वमत में समान भाव अर्थात् उन्हें एक मानना वह मूर्खता है। मिथ्यामतोंका

सर्वज्ञ वीतराग कथित मार्ग के साथ समन्वय नहीं हो सकता किन्तु जो ज्ञेय को यथावत् जानता है वह मध्यस्थ है। दर्पणके समक्ष जैसे २ पदार्थ होंगे उन्हें वैसा ही वह बतलाता है, उसी प्रकार जैसे २ पदार्थ हैं वैसा ही ज्ञान उन्हें जानता है। दर्पण की स्वच्छ अवस्था अपने कारण होती है, उसी प्रकार चैतन्य दर्पणमें विरुद्ध वस्तुयें ज्यों की त्यों दिखाई देती हैं। किसी वस्तु या व्यक्ति के प्रति द्वेष नहीं है। और जिस व्यवहार सुधारने पर भी परमार्थका भान नहीं है वह मिथ्यादृष्टि है।—इसप्रकार सम्यग्दर्शन में क्या भूल करता है वह बतलाई है। अब बतलाते हैं कि—ज्ञान में क्या भूल करता है।





सम्यग्ज्ञानके हेतु होने वाली प्रवृत्तिमें अयथार्थता

शास्त्रोमें शास्त्राभ्यास करने से सम्यग्ज्ञानका होना कहा है, इसलिये शास्त्राभ्यासमें तत्पर रहता है। अपनी ज्ञानपर्याय शास्त्र में से आती है ऐसा मानता है। शास्त्र पुद्गल है, अजीव है, मूर्त है। शास्त्रके अभिप्रायकी आम्नायको खबर नही है। शास्त्र रट-रटकर मरा जाता है किन्तु शास्त्रोक्त आम्नायकी खबर नही है, वह कोरा शास्त्र पाठी है। ज्ञानगुण मे से ज्ञान पर्याय आती है उसकी उसे खबर नहीं है। मुझे देशनासे लाभ होगा—ऐसा मानता है। अज्ञानी जीव मात्र शास्त्राभ्यास मे लीन—तत्पर रहता है। ज्ञानी शास्त्राभ्यास करते हैं किन्तु मात्र शास्त्राभ्यासमें लीन नही हैं, उनके आत्माभ्यासमें लीनता वर्तती है। अज्ञानी शास्त्राभ्यास करे, सीखे दूसरेको सिखलादे, याद करले, किन्तु प्रयोजनकी खबर नही है। राग क्या है ? वीतरागभाव क्या है ? जडकी क्रिया क्या है ? उसकी उसे खबर नही है। अज्ञानी कहता है कि—ऐसे निमित्त मिलाओ, ऐसी क्रिया करो, इत्यादि ! किन्तु उसे खबर नही है कि—मैं तो ज्ञाता हूँ सब निश्चित् है। आत्मामे जानने का स्वभाव निश्चित है और ज्ञेय भी निश्चित है—ऐसा वह नहीं जानता। अज्ञानी जीव शास्त्र पढने–जानने मे ही लगा रहता है, किन्तु शास्त्रोकी पर्याय उनके अपने कारण निश्चित है और

अपनी पर्याय अपने कारण निश्चित है—ऐसा उसे भान नहीं है। शास्त्र सीखने का उसका प्रयोजन सिद्ध नहीं हुआ। शास्त्र पढ़कर वाद-विवाद करे वह अंधा है। पं० बनारसीदासजी कहते हैं कि—

"सद्गुरु कहे सहजका धंधा, वादविवाद करै सो अन्धा"
"खोजी जीवै वादी मरै।"

सत्यकी खोज करनेवाला धर्मजीवन प्राप्त करेगा और वाद-विवाद करनेवाला संसारमें भटकेगा। शास्त्रोंका प्रयोजन तो अपने ज्ञान स्वभावका निर्णय करना है, वह नहीं करता। "आदि पुराण" में कहा है कि तत्त्वज्ञानके बिना मात्र शास्त्र पढ़े वह अक्षरम्लेच्छ है।

शास्त्र कहते हैं कि प्रथम दृष्टि बदलना चाहिए। पर्यायज्ञान होना आवश्यक है। जो पर्याय मात्र परका ज्ञान करती वह बदलकर स्व का ज्ञान करे वह पर्यायज्ञान है। यह ज्ञान सामर्थ्यकी बात है। श्रुतज्ञानकी स्व-पर प्रकाशक पर्याय हो वह सच्ची है। जो पर्याय राग में अटके वह पर्यायज्ञान नहीं है ज्ञानपर्याय एक समय में स्व-परको जाननेकी शक्तिवाली है—ऐसा न मानकर मात्र रागको अथवा पर को जाने वह पर्यायज्ञान नहीं है। श्रीमद् राजचन्द्रजी ने पर्यायज्ञान शब्दका उपयोग किया है। पर्यायमें स्व पर प्रकाशक ज्ञान सम्यक् प्रगट न हो, तबतक पर्यायज्ञान सच्चा नहीं है। ज्ञान पर्यायका स्वभाव स्व-पर प्रकाशक है। "समयसार" गाथा १८ में कहा है कि—भावश्रुतज्ञान पर्याय स्वसहित परको जानती है,—ऐसा जो न जाने वह मिथ्यादृष्टि है।

शास्त्राभ्यास अपने ज्ञानलाभके लिये है, मात्र दूसरोंको सुनाने के लिये नहीं।

अज्ञानी शास्त्र पढ लेता है, किन्तु यह नहीं जानता कि उनका, क्या प्रयोजन है। शास्त्राभ्यास करके अपने में स्थिर होना शास्त्रोंका प्रयोजन है, उसे सिद्ध न करे और दूसरो को सुनानेका अभिप्राय हो अथवा यह अभिप्राय रखे कि व्याख्यान-शैली सुधर जायगी, तो वह मिथ्यादृष्टि है। वहाँ दूसरो को उपदेश देने का अभिप्राय है।—जैसे किसी को बडी निधि लक्ष्मी की प्राप्ति हो जाये, तो उस बात की वह बाह्यम घोषणा नही करता, तथापि उसका व्यय देखकर धनवानपनकी प्रतीति हो जाती है, उसीप्रकार जिस आत्माका भान हो तो वह छिपा नही रहता। अज्ञानी तो दुनिया को समझाने जाते है और मानते हैं कि बहुत से लोग समझ जायें तो ठीक हो। करोडो लोग मानने लग तो अपनी बात सच्ची है—ऐसा व मानते हैं। बहुत से लोग उ ह मानन लगें तो स तुष्ट होते हैं। क्या बहुत से लोग मानने लगें तो अपने को लाभ है? और कोई न माने तो हानि है? नही, एसा नही है। सामनवाले जीव अपने कारण धम प्राप्त करते हैं और अपने म धम होता है वह अपने कारण होता है। अपने को राग होता है, किन्तु राग से पर को या अपने को लाभ नही है। अपनी पर्याय से अपने को लाभ हानि है पर की पर्याय स अपने को किंचित् लाभ-हानि नही है—ऐसी उसे खबर नही है।

उपदेश देने से अच्छा आहार आदि मिलेगा और अनेक सुविधाएँ प्राप्त होगी—ऐसी दृष्टि मिथ्या है, उसकी दृष्टि आत्मा पर नही है।

दूसरे की पर्याय अपने से नहीं होती। ज्ञानाभ्यास तो अपने लिये किया जाता है, विकल्प के समय वाणी निकलना हो तो निकलती है और उसका निमित्त पाकर पर का भला होना हो तो होता है, किन्तु अपने उपदेश पर जीव धर्म प्राप्त करता है—ऐसी मान्यता मिथ्या है।

दूसरे लोग उपदेश सुनें उसमें इस आत्मा को लाभ नहीं है, किन्तु अपने ज्ञान की निर्मलता से अपने को लाभ है। कोई न सुने और न समझे तो विषाद किस लिये करता है ? अनन्त तीर्थंकर हो गये हैं किन्तु सब का मोक्ष प्राप्त नहीं हुआ। सब अपनी २ योग्यता से समझते हैं, इसलिये पर की आवश्यकता नहीं है। शास्त्र का भाव समझकर अपना भला तो करता नहीं है और मात्र शास्त्रोंमें ही तत्पर रहता है वह मिथ्यादृष्टि है।

× × ×

[वीर सं० २४७६ चैत्र कृष्णा १४ शनिवार ता० १४–४–५१]

शास्त्र पढ़ने का प्रयोजन

अनादिकालसे अज्ञानी जीव यथार्थ तत्वार्थ श्रद्धान नहीं करता। वह ज्ञान में क्या भूल करता है ?—वह बतलाते हैं। शास्त्र पढ जाता है, किंतु आत्मा परद्रव्य से भिन्न है—ऐसी प्रतीति करना शास्त्र पढने का प्रयोजन है वह नहीं करता। दया पालन में धर्म मानने को शास्त्र नहीं कहते। शास्त्रों का प्रयोजन वीतरागता है उसे वह नहीं समझता।

अपना आत्मा जड की क्रिया और शुभाशुभ विकार से रहित शुद्ध है—ऐसी प्रतीति करना चाहिये, किन्तु उस प्रयोजन को वह सिद्ध नहीं करता। कुछ लोग न्यायशास्त्र और व्याकरणादि में बहुत-

सा समय व्यतीत कर देते हैं किंतु उसमें आत्महितका निरूपण नहीं है। इनका प्रयोजन तो अपने में अधिक बुद्धि हो और समय भी हो तो उसका अभ्यास करना चाहिये किंतु अल्प बुद्धि हो और मात्र व्याकरणादि में रुका रहे तो आत्म हित नहीं हो सकता। पुनश्च, कुछ लोग कहते हैं कि 'अष्टसहस्री' आदि मे छायावाद भरा पड़ा है, अर्थात् एक द्रव्य दूसरे द्रव्य पर प्रभाव डालता है, किन्तु यह बात सच्ची नहीं है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य पर कभी प्रभाव नहीं डालता, किंतु एक मे काय हो उस समय जिसपर अनुकूलता का आरोप आता है एस दूसरे पदाथ को निमित्त कहा जाता है।

यहां कहते हैं कि न्याय व्याकरण, काव्यादि शास्त्रों में आत्म-हित का निरूपण नहीं है। उनका प्रयोजन इतना है कि अपनी बुद्धि बहुत हो तो उनका थोड़ा बहुत अभ्यास करके फिर आत्महितसाधक शास्त्रों का अध्ययन करना चाहिये।

संस्कृत आदि जानता हो तभी न्यायको समझ सकता है—ऐसा नहीं है। यहां कहते हैं कि अपने मे बुद्धि अधिक हो तो संस्कृत आदि सीखना चाहिये और फिर सत्समागम से द्रव्यानुयोग के शास्त्रों का अभ्यास करना चाहिये, बुद्धि अल्प हो तो आत्महित साधक सरल शास्त्रों का अध्ययन करना चाहिये। आत्मा स्वयं ज्ञायकस्वभावी है, पर्याय मे दया—दानादि के परिणाम होते हैं यह विकार है, स्वयं विकार रहित है उसका निर्णय सुगम शास्त्र द्वारा करना चाहिये। मोक्षमार्ग प्रकाशक आदि सुगम शास्त्र हैं, उनका अभ्यास करना चाहिये। संस्कृत व्याकरण आदि पढ़ते पढ़ते आयु पूर्ण हो जाये ऐसा नहीं करना,—प्रयोजनभूत विषय का ही अभ्यास करना चाहिये।

तत्वज्ञान की प्राप्ति न हो सके—ऐसा नही करना चाहिये । यहाँ तत्वज्ञान शब्द लिया है क्योंकि तत्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शन है । सातों तत्व भिन्न भिन्न हैं ऐसा जानना चाहिये ।

दया–दानादि के परिणाम चेतन्य के परिणाम हैं । पर्याय दृष्टि से जीव के साथ उनका अनित्यतादात्म्य सम्बन्ध है । द्रव्य दृष्टि से वे जीव के नहीं हैं क्योंकि जीव में से निकल जाते हैं,—ऐसा समझना चाहिये । ऐसा न समझे तो व्याकरणादि का अभ्यास व्यर्थ है ।

प्रश्न —तो क्या व्याकरणादि का अभ्यास नही करना चाहिये ?

समाधान —भाषामें भी प्राकृत, संस्कृतादि के ही शब्द हैं, वे अपभ्रंश सहित हैं भिन्न–भिन्न देशो में भिन्न–भिन्न भाषा है । महान पुरुष अपभ्रंश न क्यों लिखते ? बालक तो तोतली बोली बोलता है, किन्तु बड़े तो नही बोलते । और कानडी भाषा वाले हिन्दी भाषा नहीं समझ सकते एक–दूसरे की भाषा नही समझते, इसलिये आचार्यों ने प्राकृत संस्कृतादि शुद्ध शब्द रूप ग्रन्थों की रचना की, तथा व्याकरण बिना शब्दों का अर्थ यथावत् भासित नहीं होता और न्याय के बिना लक्षण परीक्षा नही हो सकती । व्याकरण के बिना अर्थ नहीं जाना जाता इसलिये अभ्यास करने को कहा है । भाषा में भी थोडी बहुत आम्नाय का ज्ञान होते ही उपदेश हो सकता है, किन्तु उनकी अधिक आम्नाय से बराबर निर्णय हो सकता है ।

रागादि जीवका स्वभाव है रागादि पर्याय में होते हैं, किन्तु वे आत्मामें से निकल जाते हैं इसलिये जीव का स्वरूप नही है । प्रत्येक की परिणमन शक्ति स्वतः से है पर से नहीं है । पानी है, वह अपने

कारण उष्ण होता है तब अग्नि को निमित्त कहा जाता है।—ऐसे न्याय सादी भाषामें भी लिखे हो तो प्रयोजन समझ में आ जाता है। अग्नि और पानी के परमाणु में अन्योन्य अभाव है। अग्नि पानी का स्पर्श नहीं करती। अज्ञानी मानता है कि अग्नि आई इसलिये कपडे जल गये—यह बात मिथ्या है। कपडे उनके अपने कारण जलते हैं उसमें अग्नि निमित्त है। निमित्त का ज्ञान कराने के लिये व्यवहार कहा है। व्यवहार से कहा जाता है कि गुरु से ज्ञान हुआ, किन्तु एक द्रव्य की पर्याय दूसरे द्रव्य की पर्याय का स्पर्श नहीं करती। क्योंकि स्व–चतुष्टय में पर–चतुष्टय का त्रिकाल अभाव है प्रत्येक द्रव्य अपने अपने अनंत गुणों का और अपनी पर्यायों का स्पर्श करता है, किन्तु परद्रव्य की पर्याय का कभी स्पर्श नहीं करता।—यह महान न्याय है, समयसार गाथा ३, की टीका में यह कहा है।

प्रत्येक आत्मा और परमाणु स्वतन्त्र हैं, वे अपने धर्मों का स्पर्श करते हैं, किन्तु परस्पर एक दूसरे का स्पर्श नहीं करते। वस्त्रका प्रत्येक परमाणु अपने अपने अस्तित्वादि गुणों का स्पर्श करता है, किन्तु अग्नि के परमाणु का स्पर्श नहीं करता। एक परमाणु दूसरे परमाणुका स्पर्श नहीं करता वही प्रत्यक्ष दिखलाई देता है। संयोग आये तो परिणमन हो—इस दृष्टि में भूल है। प्रत्येक आत्मा और परमाणु अपनेमें स्व–शक्तिसे ही परिणमित होता है इसलिये लोकमें छहो द्रव्य सर्वत्र सुंदर है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका स्पर्श नहीं करता। कर्म अनन्त परमाणुओंका स्कंध है, वह कभी आत्माका स्पर्श नहीं करता। कर्म का उदय जड है, वह आत्मा का स्पर्श नहीं करता। एक द्रव्य दूसरे का कुछ करता है ऐसा जो मानता है वह अपनी दृष्टि बिगाडनेवाला है।

आत्मा पर जड़ कर्म का प्रभाव नहीं है।

प्रश्न—कर्म का प्रभाव तो पड़ता है न ?

उत्तर—प्रभाव का अर्थ क्या ? एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में प्रवेश होता है ? नहीं होता। एक दूसरे में एक-दूसरे की छाया नहीं पड़ती। एक परमाणु दूसरे परमाणु में जाता है ? रूपी परमाणु अरूपी आत्मा का स्पर्श करता है ? नहीं, कर्म का प्रभाव आत्मा में मानना वह मूल में भूल है। अज्ञानी को सच्ची बात सुनने में भी प्रमाद आता है। बालक और अज्ञानी सब कहते हैं कि कुम्हारके कारण घड़ा बनता है। पण्डित कहते हैं कि निमित्त आये तो घड़ा बनता है और कुम्हार भी कहता है कि मैं आया इसलिये घड़ा बना, इस अपेक्षा से दोनों समान हैं। कुम्हार को घड़े का कर्ता कहना वह नयाभास है। पंचाध्यायी में यह बात लिखी है। कुम्हार घड़े का कुछ नहीं करता। जब मिट्टी अपने क्षणिक उपादान के कारण घट आदि रूप परिणमित हो तब कुम्हार को निमित्त कहा जाता है। मिट्टी में प्रदेशत्व गुण है, उसीके कारण उसकी आकार रूप अवस्था हो जाती है। उसीप्रकार आत्मा का आकार शरीर के कारण नहीं है। शरीर स्थूल बना इसलिये आत्मा का आकार स्थूल हो गया—ऐसा नहीं है। आत्मा और शरीर का आकार स्वतन्त्र है। शरीर दुबला होने पर आत्मा के प्रदेश भी सकुचित हो जाते हैं वहाँ आत्मा अपने कारण स्वयं सकुचित होता है। चालू देश भाषा में भी ऐसे सिद्धान्त समझे जा सकते हैं।

प्रश्न—ऐसा है तो अब सादी भाषा में ग्रन्थ क्यों रचते हो ?

समाधान —काल दोष से जीवो की मन्द बुद्धि है। जीवो की ऐसी अपनी योग्यता है उसमे काल को निमित्त कहा जाता है। पचमकाल है इसलिये केवलज्ञान नही है—ऐसा नही है। अपने कारण केवलज्ञान नही होता तब काल को निमित्त कहा जाता है। अज्ञानी समभता नही है और काल को दोष देता है। वह कहता है कि ज्ञानावरणीय कम के कारण ज्ञान-हीन हो गया है, किन्तु ऐसा नहीं है, जब अपने कारण ज्ञान को हीन बनाता है तब ज्ञानावरणीय को निमित्त कहा जाता है। ज्ञानावरणीय कम की पर्याय कभी ज्ञानका स्पर्श नही करती। प्रत्येक पदाथ अपने में प्रतिसमय काय करता है। काल अचेतन है, वह दूसरे को परिणमित नही करता। यदि काल पर को परिणमित करता हो तो, निगोद के जीव को सिद्ध दशारूप कर देना चाहिये, किन्तु ऐसा नही होता। निगोदिया अपने कारण निगोद दशारूप परिणमित होता है, तब काल निमित्त है। सिद्ध विराजमान हैं उस क्षेत्र मे निगोदिया भी हैं, उन प्रत्येक का परिणमन स्वतन्त्र है। काल ने क्या किया ? जो जीव अपने कारण जसी अवस्था धारण करता है उसका आरोप काल पर आता है। आज कल जीव मन्दबुद्धिवाले हैं, जितना ज्ञान होगा उतना तो होगा —ऐसे अभिप्राय से मोक्षमाग प्रकाशक रूप भाषा ग्रन्थ की रचना करते हैं। जो व्याकरणादि का अभ्यास नही कर सकत उन्हे सरल शास्त्र पढ़ना चाहिये। जो मात्र शब्दो के अथ के लिये व्याकरणादि पढते हैं उन्हें पाण्डित्य का अभिमान है, और जो मात्र वाद-विवाद के लिये पढते हैं, उन्हें लौकिक प्रयोजन है। चतुराई बतलाने के लिये पढे तो उसमें आत्मा का हित नही है। व्याकरण, न्याय आदि का हो सके उतना थोडा-बहुत अभ्यास करके जो आत्मा हित के लिये

तत्त्वों का निर्णय करे उसीको धर्मात्मा पण्डित जानना। प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र है, कोई किसीको उपकारी नहीं है—ऐसा समझना चाहिये। तत्त्वार्थसूत्र के एक सूत्र में आता है कि पुद्गल आत्मा का सुख-दुःख में उपकार करता है, उसका यह अर्थ है कि—आत्मा अपने में सुख-दुःख उत्पन्न करता है तब पुद्गल को निमित्त कहा जाता है। और कहा है कि—पुद्गल मरण में उपकार करता है। आत्मा की शरीर के साथ रहने की स्थिति पूर्ण होने पर शरीर छूट जाता है। आत्मा की स्थिति स्वतन्त्र है आयु कर्म स्वतन्त्र है और शरीर की पर्याय स्वतन्त्र है। कोई किसी के आधीन नहीं है। आयु कर्म पूर्ण हुआ इसलिये शरीर छूट गया? नहीं, सब स्वतन्त्र हैं।

यहाँ कहते हैं कि—जो तत्त्वादि का निर्णय करता है उसीको धर्मात्मा पण्डित जानना। द्रव्य-गुण-पर्याय सब स्वतन्त्र हैं—ऐसा समझना चाहिये। ऐसा निर्णय न करे तो मिथ्यादृष्टि है।

× × ×

[वीर सं० २४७६ चैत्र शुक्ला १ सोमवार ता० १६-३-५३]

चारों अनुयोगों के अभ्यास का प्रयोजन

प्रतिमा की स्थापना आदि करता है उसे पुण्य होता है,—ऐसा निमित्त का कथन करके शास्त्र में शुभ परिणाम का वर्णन किया है, किन्तु उससे धर्म होता है ऐसा नहीं है। निर्दोष आहार करने से संवर-निर्जरा होती है और सदोष आहार से पाप लगता है,—ऐसा कोई कहे तो वह बात मिथ्या है। कोई ऐसा कहे कि—अनुकम्पा-

बुद्धि से अविरति को आहार दे वह पापभाव है—यह बात भी मिथ्या है, क्योंकि अनुकम्पा से आहार देने में तो पुण्य बंध होता है—इसे भी वह नहीं समझता, और चरणानुयोग में ऐसे शुभ भाव का कथन किया हो उसे धर्म माने तो वह भी मिथ्यादृष्टि है, उसे पुण्य-पाप के स्वरूप की खबर नहीं है।

करणानुयोग में मार्गणास्थान आदि का वर्णन किया है। वहाँ भेद से कथन होता है। उस भेद को समझकर अभेद दृष्टि करना वह करणानुयोग का प्रयोजन है। उसे न समझे और मात्र भेद में अटक जाये तो वह मिथ्यादृष्टि है। द्रव्यसंग्रह की टीका में कहा है कि—हाथ पर की क्रिया आत्मा व्यवहार से भी तीनकाल में नहीं कर सकता। ज्ञानावरणीय कर्म के कारण ज्ञान की पर्याय रुकती है—ऐसा नहीं है। समयसार में कहा है कि चौदह गुणस्थानों का भेद से कथन किया है वह भी आत्मा का स्वरूप नहीं है।

द्रव्यानुयोग का अभ्यास करके, आत्मा एकान्त शुद्ध ही है और पर्याय में विकार है ही नहीं,—ऐसा माने तो वह द्रव्यानुयोग के यथार्थ अर्थ और प्रयोजन को नहीं समझता। प्रथम आत्माका यथार्थ स्वरूप समझा हो, फिर उसे स्वरूप में विशेष स्थिरता हो तो उसे चारित्र दशा कहा जाता है। पर्याय में जो निमित्त-नैमित्तिक संबंध है उसका ज्ञान गोम्मटसार में कराया है, और द्रव्यानुयोग शास्त्र में पर्याय आदि के भेद का आश्रय छोड़कर अभेद स्वरूप का अवलम्बन करो—ऐसा कहा है। शास्त्र में ऐसा कथन आये कि—ज्ञानावरणीय कर्म से आत्मा का ज्ञान रुकता है, तो वह निमित्त का कथन है।

मोहनीयकर्म के कारण रागद्वेष होता है—ऐसा है ही नहीं। रागद्वेष में वह निमित्त मात्र है—ऐसा बतलाने के लिये वह कथन किया है। चारों अनुयोगों का तात्पर्य वीतरागता है। जिन शास्त्रों में तीन लोक का निरूपण हो, उनका अभ्यास करता है, किंतु उनके प्रयोजन पर विचार नहीं करता, भेदज्ञान द्वारा स्वसन्मुख अभेद दृष्टि नहीं करता, शुद्धोपयोग नहीं करता, उसे कुछ भी लाभ नहीं होता। शास्त्रों का अभ्यास करे किंतु उनके प्रयोजन का विचार न करे तो वह मिथ्यादृष्टि है।

सिद्धचक्र की पूजा करने से कुष्ठ रोग दूर हो जाता है—ऐसा कथन शास्त्र में निमित्त से आता है, उसे कोई यथार्थ ही मान ले तो वह मिथ्यादृष्टि है, पुराणों में पुण्य-पाप के फल का कथन है, उसमें जो पुण्य के फल को हितरूप अच्छा माने वह कथानुयोग का प्रयोजन नहीं समझता। और चरणानुयोग में पुण्य-पाप के परिणामका वर्णन किया है, उसमें पुण्य परिणाम से धर्म होता है—ऐसा माने तो वह चरणानुयोग के प्रयोजन को नहीं समझता। पुनश्च, करणानुयोग के अभ्यास से आत्मा का हित होता है—ऐसा जो मानता है वह करणानुयोग के प्रयोजन को नहीं समझता। आत्महित के लिये अपने अभेद स्वरूप का आलम्बन करना चाहिये ऐसा ही तीनों अनुयोगों का प्रयोजन है,—उसे नहीं समझता इसलिये मोक्षमार्ग की प्राप्ति नहीं होती।

अब, तत्त्वज्ञान का कारण द्रव्यानुयोग के अध्यात्म शास्त्र हैं, उनका अभ्यास नहीं करता, यदि अभ्यास करता है तो विपरीत

करता है, इसलिये वह मिथ्यादृष्टि रहता है कई लोग ऐसा कहते हैं कि—समयसार शास्त्र तो मुनियों के लिये है, उच्च दशा होने पर पढ़ने योग्य है—ऐसा कहकर द्रव्यानुयोग के अभ्यास का निषेध करते हैं। और द्रव्यानुयोग का अभ्यास करके भी जो स्वानुभव का अन्तर् पुरुषार्थ नहीं करता, अपना और पर का यथार्थ निर्णय नहीं करता, आस्रवादि को यथावत् नहीं जानता वह मिथ्यादृष्टि है। यहाँ, सम्यग्ज्ञान के हेतु अज्ञानी की कैसी अयथार्थ प्रवृत्ति होती है उसका कथन है। उसमें ऐसा कहते हैं कि कदाचित् कभी शास्त्रपाठी अज्ञानी मुख से ऐसा भी कथन करे कि—पूर्वकाल में जिसने ज्ञानी के पास सत् श्रवण किया है वह योग्य जीव को सम्यग्दर्शन हो जाय। अध्यात्म शास्त्र पढ़कर भी यथार्थ निर्णय नहीं करता उसका यहाँ वर्णन है, किन्तु सम्यग्दर्शन किसके निमित्त से होता है—यह बात नहीं कहना है। नियमसार गाथा ८३ में कहा है कि सम्यग्दर्शन प्राप्त करने में प्रथम निमित्त यथार्थ ज्ञानी का ही उपदेश होता है। श्रीमद् ने भी कहा है कि —

"बुझी चहत जो प्यास को, है बूझन की रीत,
पावे नहिं गुरुगम बिना, एही अनादि स्थित।"

× × ×

[वीर सं० २४७६ चैत्र शुक्ला २ मंगलवार ता० १७-३-४३]

देशनालब्धि में सम्यग्ज्ञानी ही निमित्त होते हैं

अज्ञानी मिथ्यादृष्टि सात तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान न करे और स्वयं जैनी है ऐसा माने, तो वह जैनी नहीं है, मिथ्यादृष्टि अजैनी है। ऐसा जीव शास्त्राभ्यास करके मुख से कदाचित् ऐसा भी उपदेश

करता है कि जिसका उपदेश—दूसरे जीव को सम्यग्दृष्टि होने में परंपर निमित्त हो जाते हैं। उस स्वयं तो सम्यग्ज्ञान नहीं है किन्तु किसी समय शास्त्र की ऐसी बात भी करता है कि जिसे सुनकर दूसरे जीव सम्यग्दृष्टि हो जाते हैं। यहाँ ऐसा सिद्धान्त सिद्ध नहीं करना है कि मिथ्यादृष्टि के निमित्त से सम्यग्दर्शन होता है, किन्तु यह सिद्ध करता है कि मिथ्यादृष्टि शास्त्रों का खूब अभ्यास करता है तथापि उसे सम्यग्ज्ञान नहीं है। अज्ञानी के निमित्त से कभी कोई जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं कर सकता। देशनालब्धिमें साक्षात् ज्ञानी ही निमित्त होते हैं। जिसे पहले देशनालब्धि प्राप्त हुई हो वह जीव विचार करता है कि यह उपदेशक मिथ्यादृष्टि है, इसे तत्त्वों का सच्चा भाव भासित नहीं हुआ है।—ऐसा विचार कर स्वयं सम्यग्दृष्टि हो जाता है। जिसने पहले कभी निश्चय सम्यग्ज्ञानी के पास श्रवण न किया हो, देशनालब्धि प्राप्त न हुई हो, वह जीव मिथ्यादृष्टि का उपदेश सुनकर कदापि सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता।

नियमसार गाथा ५३ की संस्कृत टीका में कहा है कि सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति में सम्यग्ज्ञानी ही निमित्त होते हैं। अनादि अनन्त में ऐसी मर्यादा है कि सम्यग्ज्ञानीके निमित्त बिना तीन कालमें सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता। जैसे—जब विज्ञान दके अनुभव से छट्ठा-सातवाँ गुणस्थान प्राप्त होता है तब बाह्यमें सहज ही शरीरकी नग्न दशा हो जाती है, द्रव्यलिंग (—नग्नदशा) व आधीन भावलिंग (—मुनिदशा) नहीं है, किन्तु ऐसा सहज निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध होता है, उसीप्रकार सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेवाले जीव को सम्यग्ज्ञानी ही निमित्त होते हैं, किन्तु सम्यग्दर्शन निमित्ताधीन है—ऐसा नहीं है।

द्रव्यलिंग हो और भावलिंग न हो—ऐसा होता है, किन्तु भाव-लिंग हो वहाँ द्रव्यलिंग न हो—ऐसा कदापि नहीं होता। देशनालब्धि प्राप्त हुई हो और सम्यग्दर्शन न हो—ऐसा हो सकता है, किंतु जिसे सम्यग्दर्शन हो उसे पहले देशनालब्धि प्राप्त न हुई हो—ऐसा कदापि नहीं हो सकता, तथापि देशनालब्धिमें निमित्त तो सम्यग्ज्ञानी ही होते हैं—ऐसा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध होता है। जैसे गमन-रूप क्रियामें निमित्तरूप धर्मास्तिकाय ही होते हैं इसप्रकार देशनालब्धि में प्रथम निमित्त तो सम्यग्ज्ञानी ही है जिससे पहले देशनालब्धि प्राप्त की है और फिर चिरकालके बाद स्वयं ही विचार करके सम्यग्दर्शन प्राप्त करे उसे निसर्ग सम्यग्दर्शन कहते हैं। अधिगम या निसर्ग किसी भी सम्यग्दर्शनमें पहले निमित्तरूपसे सम्यग्ज्ञानी न मिले हों, ऐसा कभी नहीं होता, तथापि वह दोनों प्रकारका सम्य-ग्दर्शन निमित्तके कारण होता है—ऐसा नहीं है।

यहाँ तो कहते हैं कि—मिथ्यादृष्टि ऐसा उपदेश देता है कि उसके निमित्त से दूसरे जीव सम्यग्दृष्टि हो जाते हैं। यहाँ यह बात सिद्ध करते हैं कि—मिथ्यादृष्टि ने शास्त्राभ्यास करके इतनी धारणा की होती है कि—दूसरे जीवने स्वयं पूर्वकालमें सम्यग्ज्ञानी के निकट सुना हो तो, उसे याद करके (पूर्वकी देशनालब्धिवाला वह जीव) सम्यग्दृष्टि हो जाता है, तब वह निमित्त है।—इतनी बड़ी शास्त्रोंकी धारणा उसके होती है। तथापि वह मिथ्यादृष्टि रहता है। मिथ्या-दृष्टि के निमित्त से भी सम्यग्दर्शन होता है—ऐसा नहीं कहते।

अनंतबार शास्त्रपाठी हुआ, अनंतबार भगवानके समवशरण में गया, अनंतबार द्रव्यलिंग भी धारण किया, किंतु स्वयं कौन है

और पर कौन है, उसका यथार्थ ज्ञान करके पराधीन दृष्टि नहीं छोड़ी। निश्चय आत्मस्वभावको नहीं जाना इसलिये व्यवहार भी सच्चा नहीं कहलाता। कार्यकी प्राप्ति नहीं हुई, तो कारणकी भी सच्ची प्राप्ति हुई नहीं कहलाती। कार्य हो तो कारण कहलाता है। प्रत्येक पदार्थका स्वतंत्र परिणमन हो रहा है। आत्मामें दर्शन नामका गुण है, उसमें से सम्यग्दर्शनरूपी पर्याय प्रगट होती है किन्तु निमित्त के कारण सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं होता। आत्माके श्रद्धान गुणकी विपरीत पर्याय मिथ्यात्व है, सीधी पर्याय सम्यक्त्व है।

आत्मा स्वयं पुरुषार्थसे सम्यक्त्वकी प्राप्ति करता है तब पाँचों समवाय होते हैं। पुरुषार्थ, स्वभाव, काल, नियत और कर्मका अभाव यह पाँचों समवाय एक समयमें होते हैं। जैसे—कोई बालक स्त्रीका स्वाँग धारण करके ऐसे गीत गाये कि जिसे सुनकर अन्य स्त्री पुरुष कामरूप हो जायें, किन्तु बालक तो जैसा सीखा वैसा करता है, उसका भाव उसे भासित नहीं होता, इसलिये वह स्वयं कामासक्त नहीं होता। स्त्रीका वेश धारण करता है किंतु अंतरमें कुछ नहीं होता। उसीप्रकार अज्ञानी जैसा सीखा वैसा बोलता है, किन्तु उसे स्वयं मर्म भासित नहीं होता। यदि स्वयंको उसका श्रद्धान हुआ होता तो अन्य तत्त्वका अंश अन्य तत्त्वमें नहीं मिलाता, किन्तु उसे उसका कोई ठिकाना नहीं है।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि—अज्ञानीके ज्ञान तो इतना होता है, किन्तु जिसप्रकार अभव्यसेनको श्रद्धान रहित ज्ञान था वैसा होता है?

उत्तर—वह तो पापी था, उसे हिंसादि प्रवृत्तिका भय नही था। किन्तु किसी मिथ्यादृष्टिके शुक्ललेश्या होती है और उससे ग्रैवेयक भी जाता है, किन्तु उसे तत्त्वश्रद्धान सच्चा नही हुआ है। आत्माका यथार्थ भावभासन नही करता, इसलिये वह मिथ्यादृष्टि रहता है।

× × ×

[वीर सं० २४७९ चैत्र शुक्ला ३ बुधवार ता० १८-३-५३]

आत्मामें इच्छा हुई इसलिये पैसा आता है—ऐसा माना जाये तो आस्रव तत्त्व और अजीव तत्त्व एक हो जाते हैं, दो तत्त्व भिन्न नहीं रहते। कर्मका उदय आया वह अजीव तत्त्व है, उसके कारण विकार का होना मानें तो दो तत्त्व भिन्न नही रहते। सम्यग्दृष्टि एक तत्त्वका अंश दूसरे तत्त्वके अंश मे नही मिलाता। यह बात बडी शांतिपूर्वक सुनने जैसी है। प्रवचनसारमें श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव ने कहा है कि—जिसे आगमज्ञान ऐसा हुआ है कि जिसके द्वारा सर्व पदार्थोंको हस्तामलकवत् जानता है, तथा ऐसा भी जानता है कि इसका जाननेवाला मैं हूँ, किन्तु "मैं ज्ञानस्वरूप हूँ"—ऐसा अपने को परद्रव्यसे भिन्न मात्र चैतन्य द्रव्य अनुभव नही करता, इसलिये आत्मज्ञानशून्य आगमज्ञान भी कार्यकारी नही है।—इस-प्रकार सम्यग्ज्ञानके हेतु जैन शास्त्रोंका अभ्यास करता है तथापि उसे सम्यग्ज्ञान नही है।

अनन्तबार ऐसा आगमज्ञान हुआ कि बाह्यमें कोई भूल दिखाई न दे। अब तो आगमज्ञानका भी ठिकाना नही है। जो आगमसे विरुद्ध प्ररूपणा करता है वह तो मिथ्यादृष्टि है ही, किन्तु यहाँ तो

आगमज्ञान किया, पंचमहाव्रत अनंतबार पाले, तथापि रागसे रहित आत्मा चैतन्यमूर्ति ज्ञाता है उसका अनुभव नहीं करता, इसलिये वह मिथ्यादृष्टि रहा है। अष्टसहस्री, प्रमेयकमलमार्तण्ड आदि ग्रन्थों का अभ्यास करे, किन्तु वह न समझे कि उन शास्त्रोंका तात्पर्य क्या कहना, तो वह मिथ्यादृष्टि है।—इसप्रकार जो शास्त्राभ्यास करता है वह मिथ्यादृष्टि है। अब मिथ्याचारित्रकी बात करते हैं।





सम्यक्चारित्र के हेतु होनेवाली प्रवृत्ति में अयथार्थता

व्यवहाराभासी जीवको सम्यक्चारित्रके हेतु जैसी प्रवृत्ति है वह अब कहते हैं। शूद्रके हाथका पानी पीता है या नहीं? शुद्ध आहार लेता है या नहीं?—इसप्रकार बाह्य क्रिया पर ही जिसकी दृष्टि है, किन्तु अपने परिणाम सुधारने—बिगाडने का विचार नहीं है वह मिथ्याज्ञानी-मिथ्याचारित्री है। यदि परिणामोंका भी विचार हो तो जैसे अपने परिणाम होते देखे उ हीं पर दृष्टि रहती है, किन्तु उन परिणामोंकी परम्परा विचारते हुए अभिप्रायमें जो वासना है उसका विचार नहीं करता, और फल तो अभिप्रायमें जो वासना है उसीका मिलता है।

कषायमन्दतासे धर्म होता है—ऐसी वासना मिथ्यादृष्टिको नहीं छूटती। कषाय मन्दता रही इसलिये शुद्ध आहार आया, और शुद्ध आहार आया इसलिये मेरा मन शुद्ध रहा—ऐसी वासना उसे नहीं छूटती। जिसप्रकार कस्तूरीकी सुगंधमें रहने से वहाँ के पृष्ठ पृष्ठ में गंध लग जाती है, उसीप्रकार बाह्य क्रियासे परिणाम सुधरते हैं और मंदकषाय होती है इसलिये धर्म होता है—ऐसी वासना अज्ञानी को नहीं छूटती। अशुभ परिणाम हुए इसलिये अशुद्ध आहार मिला और शुद्ध आहार लिये इसलिये परिणाम सुधर गये—ऐसा नहीं है।

[वीर सं० २४७६ चैत्र सुक्ला ३ गुरुवार ता० १६-३-५३]

यहाँ, व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि की सम्यक्चारित्र हेतु कैसी प्रवृत्ति होती है उसका वर्णन चलता है। कोई भी आत्मा पर जीवकी दया नहीं पाल सकता, क्योंकि परजीवकी पर्याय परसे होती है। निश्चय या व्यवहारसे किसी भी प्रकार आत्मा पर की दयाका पालन नहीं कर सकता। आत्मामें दयाके परिणाम होते हैं परन्तु उसके कारण परजीव नहीं बचता। दयाके शुभपरिणाम हुए वह पुण्य है धर्म नहीं है तथापि अज्ञानी की दृष्टि बाह्यक्रिया पर है।

बाह्यक्रिया सुधरने से मेरे परिणाम सुधरते हैं और मदकषाय के परिणामों से धर्म होता है—ऐसे अभिप्रायकी गाँठ पड़ जाने का नाम मिथ्यावासना है। ऐसी वासना रखकर बाह्यमें पंचमहाव्रतका पालन तथा दया दानादि की चाहे जितनी क्रिया करे, और मंद कषाय करे तथापि उसे धर्म नहीं होता। मैं तो ज्ञायक हूँ—ऐसी प्रतदृष्टि करे तो धर्म हो।

सिद्धचक्र विधान किया इसलिए परिणाम सुधरे—ऐसा मिथ्यादृष्टि मानता है। देव-गुरु-शास्त्रकी मान्यतासे निश्चय सम्यग्दर्शन होता है वह मिथ्यावासना है। अनादिकालसे जीवने क्रिया काण्ड में धर्म माना है। बाह्यमें शुद्ध क्रिया करूं तो सम्यग्दर्शन प्रगट हो जायेगा—ऐसी जो मान्यता है वह मिथ्यावासना है।

कुम्हार के बिना घड़ा नहीं होता—यह बात मिथ्या है, वह तो निमित्तका कथन है। उसीप्रकार देव-गुरु-शास्त्र की मान्यता के बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता,—ऐसी मान्यताकी गहराई में भी व्यव

ह्यरकी वासना है, वह पराश्रयकी रुचि है—मिथ्यात्व है। आत्मा मे दया-दानादिका राग होता है उसका निश्चयसे आत्मा ज्ञाता है, अथवा स्व को निश्चय नहीं जान सकते ऐसा जो मानता है वह मिथ्यादृष्टि है। वास्तवमे आत्मा निश्चयसे अपनी ज्ञान पर्यायका ज्ञाता है। रागादि परज्ञेय हैं। उन्हे आत्मा व्यवहारसे जानता है—निश्चयसे नही। राग करू तो धर्म होता है, व्यवहार रत्नत्रय हो तो निश्चय रत्नत्रय होता है—ऐसी मान्यता मिथ्यादृष्टि की है।

अब, कोई जीव तो कुलक्रमसे अथवा देखा देखी या क्रोध, मान, माया, लोभादिसे आचरणका पालन करते हैं उनके तो धर्म बुद्धि ही नही है। जो जीव समझे बिना कहे कि—हमे प्रतिमा तो लेना ही पडेगी, प्रतिमाके बिना प्रतिष्ठा नही है, तो ऐसा माननेवाले के धर्मबुद्धि ही नही है, उसके अंतर्स्वभावका उद्यम नही है।

त्यागी होकर पैसा मांगे, भोजनके लिये याचना करे, तो उसे धर्म बुद्धि ही नही है। आत्मा निवृत्तस्वरूप ही है,—ऐसी जिसे खबर नही है और बाह्यमे निवृत्त होकर आत्मामें शांति होना मानता है, वह कदाचित् मंदकषायी हो तथापि उसे सम्यग्दर्शन नहीं होता। निमित्त आये तो आत्मा की परिणति सुधरे—ऐसी मान्यता जिसके अंतर में पडी है वह मिथ्यादृष्टि है, उसे सम्यग्चारित्र नहीं होता।

कोई जीव तो ऐसा मानते हैं कि जानने और मानने से क्या है, कुछ करेंगे तो फल प्राप्त होगा। अज्ञानी ऐसा मानते हैं कि अकेले ज्ञान-श्रद्धानसे कुछ लाभ नही है, कोई क्रिया करें तो लाभ होगा,—

ऐसा मानकर वे व्रतादि पुण्यास्रवकी क्रियामें ही उद्यमी रहते हैं, किन्तु तत्त्वज्ञानका उद्यम नहीं करते। जैसे हलुवा बनाना हो तो पहले घी में आटा सेककर फिर शक्करका पानी डालकर बनाना चाहिये उसके बदले पहले शक्कर के पानी में आटा सेकने लगे तो हलुवा नहीं बनेगा। उसीप्रकार अज्ञानी जीव पहले बाह्य क्रियामें—शुद्ध आहारादि की क्रिया करने में उद्यमी रहते हैं, जानने और मानने से कोई लाभ नहीं होता—ऐसा मानते हैं, और कहते हैं कि जानने के पश्चात् भी क्रिया तो करना ही पड़ती है ? तो वह मान्यता मूढ़ जीवकी है, उसे खबर नहीं है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही मोक्षमार्ग है। सम्यग्दर्शनमें निर्विकल्प आनन्दका अनुभव होता है, फिर अन्तर्लीनता करे वह चारित्र है। सम्यग्ज्ञानके बिना सम्यक्चारित्र नहीं होता।

करनी अच्छी नहीं है। मजदूरको मजदूरीका फल मिलता है,—ऐसा मानकर जो क्रिया करता है, उसे उस क्रिया का फल चारगति में भटकना मिलता है। और वह कहता है कि बहुत ज्ञान हो गया हो तो चारित्र आना चाहिये, किन्तु चक्रवर्ती आदि सम्यग्दृष्टि हजारों वर्ष तक संसारमें रहते हैं इस बातकी उसे खबर नहीं है, इसलिये वह मन्दकषायरूप व्रतादिका उद्यमी रहता है, किन्तु आत्मा को समझने का पुरुषार्थ नहीं करता।

जो बहुत जानते हैं वे बड़े लोलुप होते हैं इसलिये बहुत नहीं जानना चाहिये—ऐसा वे मानते हैं, किन्तु प्रयोजनभूत सूक्ष्म बातको अच्छी तरह जानना चाहिये। भगवान तो दया-दानादि के शुभ

परिणामोंको भी स्थूल कहते हैं। श्री समयसार गाथा १५४ में कहते हैं कि—अत्यन्त स्थूल ऐसे शुभ परिणामों में अज्ञानी की रुचि होती है। शरीरादिक की क्रिया तो स्थूल है ही, उसकी तो यहाँ बात ही नहीं है, किन्तु आत्मामें शुभपरिणाम आते हैं उन्हें श्री अमृतचन्द्राचार्य ने अत्यन्त स्थूल कहा है, क्योंकि वे बंधके कारण हैं। यहाँ व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टिका अधिकार है। उसमें कहते हैं कि—जिन शुभ परिणामों को भगवान अत्यन्त स्थूल कहते हैं, उनमें अज्ञानी मग्न रहता है। आत्मामें सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्याय होती है वह सूक्ष्म है, तथा आत्माका त्रिकाली शुद्ध स्वभाव परम सूक्ष्म है। ज्ञानी के शुभपरिणामों को व्यवहार कहा है, अज्ञानी के व्यवहार नहीं होता।

सातों तत्त्व भिन्न–भिन्न हैं, उन्हें भिन्न–भिन्न न माने अथवा एक तत्त्व भी कम माने या अन्य प्रकार माने तो उसे सात तत्त्वों की यथार्थ श्रद्धा नहीं है। सातों तत्त्व स्वतंत्र हैं,—ऐसा यथार्थज्ञान जिसे हुआ है उस जीवको कदाचित् कुछ भी व्रतादिक न हो तथापि वह असंयत सम्यग्दृष्टि नाम प्राप्त करता है। इसलिये प्रथम तत्त्वज्ञान का उपाय करना चाहिये। आत्मा ज्ञायकमूर्ति है, उसके आश्रयसे ही रागादि छूटते हैं—ऐसा माने, और जो होना हो वह होता है—ऐसा माने तो पर द्रव्यके कर्तृत्वका अभिमान छूटे बिना न रहे। कोई ऐसा कहे कि हम हैं तो तुम्हें ज्ञान होता है, तो वह बात मिथ्या है। प्रत्येक द्रव्यकी जो पर्याय होना है वह होगी ही, उसमें दूसरा कोई कुछ नहीं कर सकता,—ऐसा माने तो सच्चा पण्डित है। सर्वज्ञने देखा है इसलिये द्रव्य की पर्याय होती है—ऐसा नहीं है, किन्तु जैसी

पर्याय थी, है और होगी वसी ही सबन एकसाथ प्रत्येक समयमें जानते हैं—ऐसा न जाने, तत्त्वज्ञान का उपाय न करे और क्रियाकाण्डमें लगा रहे तो वह मिथ्याचारित्र है।

× × ×

[वीर स० २४७६ पब सुक्ला ९ शुक्रवार, ता० २०-१-५१]

सम्यग्दर्शनरूपी भूमि के बिना व्रतरूपी वृक्ष नहीं होता।

श्री योगेन्द्रदेव कृत श्रावकाचारमें भी कहा है कि —

दंसणभूमिह बाहिरा, जिय वयरुक्ख ण होंति।

अर्थ —हे जीव! इस सम्यग्दर्शन–भूमि के बिना व्रतरूपी वृक्ष नही होता।

भावार्थ —जिन जीवो को तत्त्वज्ञान नही है वे यथार्थ आचरण नही आचरते। यही यहाँ विशेष दर्शाते हैं।

आत्मा पर पदार्थों का कर्ता–हर्ता नही है किन्तु पर की क्रिया होती है उसमें निमित्त तो है न?—ऐसा निमित्त दृष्टिवाले मिथ्यादृष्टि कहते हैं। बनारसीदासजी कहते हैं कि—'सब वस्तुएँ असहाई हैं।" इसलिये निमित्त आने से वस्तु परिणमित हुई—ऐसा है ही नहीं। अज्ञानी मानता है कि यथार्थ की मन्दता से सम्यग्दर्शन की पर्याय प्रगट होती है। श्री योगीन्द्रदेव कहते हैं कि पुण्य भी पाप है। पाप को तो सब पाप कहते हैं, किन्तु सम्यग्दृष्टि जीव पुण्य परिणामों को भी पाप कहते हैं। आत्मा शुद्ध चिदानन्द स्वरूप है, उसमे जितने अंश में राग की उत्पत्ति होती है उसे भगवान हिंसा कहते हैं, इसलिये वह पाप है। दया के जो शुभपरिणाम होते हैं उन्हें

व्यवहार से अहिंसा कहा जाता है। कषाय मंदताके परिणामों को सम्यग्दृष्टि विष मानते हैं, शुभ परिणाम निश्चय से हिंसा कहलाते हैं ?

सदाचार=सत+आचार, अर्थात् भगवान आत्मा सत् है, उसका भान करके अंतर मे आचरण करना सो सदाचार है। बाह्यक्रिया सदाचार नही है। एक अंगुली को मोडना भी आत्माके हाथकी बात नही है। उँगली चलती है, आँख फिरती है वह जडकी क्रिया है, आत्मा उसका कर्ता नहीं है। शब्द होते हैं वे भाषा वर्गणामे से होते हैं। आत्मा के विकल्पसे भाषा होती है ऐसा तो नही है, किन्तु ओठ हिलते हैं इसलिये भाषा होती है—ऐसा भी नहीं है, क्योंकि शब्द भाषा-वर्गणामें से होते हैं और ओठ आदि आहारवर्गणामें से होते हैं। प्रत्येक वर्गणा भिन्न-भिन्न है। आहार वर्गणा के कारण भाषा नही है, ओठो के हिलने से भाषा नही हुई। काल द्रव्य का लक्षण वर्तना हेतु है, और प्रत्येक द्रव्य का स्वकाल वह उसकी वर्तना है। प्रत्येक द्रव्य में वर्तना है उसमें काल निमित्तमात्र है। वे प्रति समय अपने स्वकाल से परिणमित हो रहे हैं। जिस समय द्रव्य की पर्याय अपने कारण से होती है उस समय दूसरा पदार्थ निमित्तमात्र है।

पुनश्च, इच्छा हुई इसलिये आत्मा यहाँ आया है—ऐसा भी नही है, क्योंकि इच्छा चारित्र गुणकी पर्याय है और आत्माका क्षेत्रांतर होना वह क्रियावती शक्तिके कारण है। भगवान कहते हैं कि तेरी शुद्धता तो बडी है, किन्तु तेरी अशुद्धता भी महान है। किसी तीर्थंकरकी शक्ति भी उसे नही बदल सकती। जीवकी इच्छा हो, किन्तु शरीरमें पक्षघात हो तो शरीर नहीं चलता, इसलिये ऐसा निर्णय करना चाहिये कि इच्छाके कारण आत्माका क्षेत्रांतर नहीं

होता। सब गुण असहाई हैं। सदुपदेशके मिलनेसे अच्छे परिणाम हो जाते हैं और असत् उपदेश के कारण बुरे परिणाम होते हैं—ऐसा नहीं है। किसीके परिणाम उपदेश के कारण नहीं बदलते, इसलिये ऐसी मान्यता भ्रम है कि निश्चयका उपदेश मिलनेसे कोई व्यवहार —शुभभाव भी नहीं करेगा।

ब्रह्म विलास में कहा है कि —

"जो जो देखी वीतराग ने, सो सो होसी वीरा रे,
अणहोनी कबहूँ न होसी, काहे होत अधीरा रे।"

श्री समयसार के सर्व विशुद्ध अधिकार में कहा है कि—"शास्त्र किंचित्मात्र भी नहीं जानता।" और आत्मा में किंचित्मात्र भी अज्ञान रहे ऐसा नहीं है। आत्माका स्वभाव तो सर्वज्ञ अर्थात् सबको जानने का है। शास्त्र में कथन तो अनेक प्रकारके आते हैं किन्तु उनका आशय समझना चाहिये।

× × ×

[वीर सं० २४७६ चैत्र शुक्ला ७ शनिवार, ता० २१-३-५१]

आज प्रातःकाल सोनगढ़में मानस्तम्भ जिन बिम्ब पंचकल्याणक उत्सवमें जन्म कल्याणक होने से प्रवचन बन्द था।

× × ×

[वीर सं० २४७६ चैत्र शुक्ला ११ गुरुवार, ता० २६-३-५१

तत्त्वज्ञान के बिना सर्व आचरण मिथ्या है।

इस सातवें अधिकार में, जिन्हें व्यवहार श्रद्धा-ज्ञान हो, शास्त्र का अभ्यास किया हो ऐसे जीव भी मिथ्यादृष्टि होते हैं—यह बात

इसप्रकार किसी भी तरह समय व्यतीत करता है। ऐसा ही अन्य प्रतिज्ञाओं में समझना चाहिये। यह कहीं यथार्थ आचरण नहीं है, स्वभावदृष्टि करके आत्मामें लीन होना वह यथार्थ आचरण है।

अथवा, कोई पापी ऐसे भी हैं कि पहले तो प्रतिज्ञा कर लेते हैं, किन्तु जब उससे दुःख होता है तब छोड़ देते हैं। प्रतिज्ञा लेना—छोड़ देना उनके मन खेल मात्र है, किन्तु वह तो महान पाप है। इससे तो प्रतिज्ञा न लेना ही अच्छा है। पहले विचार किये बिना ही प्रतिज्ञा ले ले, और फिर छोड़ दे, उसे प्रतिज्ञा नहीं कहा जा सकता। प्राण जाने पर भी प्रतिज्ञा नहीं छोड़ना चाहिये। चाहे जिसे दीक्षा दे देते हैं और वे छोड़ देते हैं—यह तो खेलमात्र प्रतिज्ञा है।—ऐसी प्रतिज्ञा लेनेवाला मिथ्यादृष्टि है।

व्रती सम्मेलनमें त्यागी इकट्ठे हों और वहाँ जल्दबाजीमें प्रतिमा धारण करके क्षुल्लक बन जाते हैं, फिर अंतिम अवस्था में (मृत्युके समय) लँगोटी छोड़कर आचरण पूर्ण किया मानते हैं। प्रतिज्ञा भंगके महान पापकी तो उन्हें खबर नहीं है। यह बात अज्ञानियों के अन्तरमें नहीं जमती। उन्हें प्रतिज्ञा भंगका डर ही नहीं है। उन्हें भगवानने महान पापी कहा है। कोई क्षायिक सम्यग्दृष्टि होता है तथापि उसके व्रत नहीं होते, क्योंकि सम्यग्दर्शनके पश्चात् तुरन्त सबको चारित्र आ जाये—ऐसा नियम नहीं है। सम्यग्दृष्टि अपने परिणामों को देखता है।

ज्ञान प्रत्याख्यान है।

भगवान आत्मा स्वरूप में स्थिर होता है तब रागका नाश होता है, व्यवहारसे कहा जाता है कि रागको जीत लिया। इसलिये "जिन"

=द्रव्यकर्म–भावकर्म को जीतना यह व्यवहार कथन है। समयसार गाथा ३४–३५ मे कहा है कि रागका त्याग—यह भी नाममात्र है। त्याग प्रत्याख्यान नही है किन्तु ज्ञान प्रत्याख्यान है–ऐसा कहते हैं। यह तत्वदृष्टिसे उनकी व्याख्या की है। आत्मा राग को जीतता है—ऐसा कहना भी नाम मात्र है, क्योंकि आत्मा ज्ञान में लीन होने पर राग छूट जाता है इसलिये ज्ञान वह प्रत्याख्यान है। ससार आत्माकी पर्याय में होता है। उस ससारका नाश आत्मा करता है वह नाममात्र है। शरीर, वस्त्रादि पर वस्तुओं को तो आत्मा नही छोडता, किन्तु ससार पर्याय को भी वह नही छोडता, क्योंकि ससार पर्याय का त्रिकाली स्वभावमे कभी भी ग्रहण नहीं हुआ है जो उसे छोडे। पर्याय दृष्टि स एक समय का ससार अनित्यतादात्म्य सम्बन्ध से है किन्तु द्रव्यदृष्टि से अनित्यतादात्म्य सम्बन्ध नही है क्योंकि विकार का प्रवेश स्वभाव में तीनकाल में भी नही हुआ है।

पहले निश्चित किया कि ससार मेरी पर्याय में मेरा कार्य है, कर्म के कारण ससार नहीं है। फिर, वह ससार मेरे स्वभाव म नहीं है, आत्माने द्रव्यदृष्टि से ससार का ग्रहण किया ही नही है तो उसे छोडने का प्रश्न ही नहीं उठता। आत्मा की लीनता होने पर ससार छूट जाता है, उस छोडना नही पडता। ससार में शुभाशुभ भाव होते हैं। उसम जो अव्रत के भाव हैं वे अशुभ हैं। जब वे अशुभ भाव नही होते तब व्रत के शुभ भाव आते हैं, किन्तु वह निश्चय चारित्र नहीं है, वह तो आस्रव है।

धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्दर्शन धर्म का मूल है, और चारित्र वह धर्म है। इसलिये

सम्यग्दर्शन की अपेक्षा चारित्र में अनंत गुनी शांति अधिक होती है। चारित्र के बिना मोक्ष नहीं होता। तीर्थंकर को भी चारित्र ग्रहण करना पड़ता है, इसलिये धर्म तो चारित्र है और उसका मूल सम्यग्दर्शन। सम्यग्दृष्टि स्वयं समझता है कि यह जो अव्रत के परिणाम होते हैं वे करने योग्य नहीं हैं। चौथे गुणस्थान में हजारों वर्ष रहते हैं, मुनिपना नहीं होता उस समय ज्ञानीको जो अव्रतके परिणाम होते हैं उनकी स्वयं निन्दा करते हैं किन्तु हठ करके—आग्रह करके त्यागी नहीं हो जाते। मुनिपना महान दुर्लभ है। वर्तमान काल में भावलिंगी मुनियों के दर्शन दुर्लभ हैं, इस जीवन में तो भाव लिंगी मुनि नहीं देखे। आजकल तो द्रव्यलिंगी मुनियोंका भी ठिकाना नहीं है। यह कोई व्यक्तिगत बात नहीं है। जिसे हानि होती है वह उसे अपने में होती है। दूसरों को उसके अज्ञान का फल नहीं मिलता, किन्तु उसे स्वयं तो यथार्थ ज्ञान करना चाहिये। प्रतिज्ञा भंग करने की अपेक्षा प्रतिज्ञा न लेना ही अच्छा है।—इसका यह अर्थ नहीं है कि आत्मा में ज्ञानपूर्वक प्रतिज्ञा नहीं लेना चाहिये।

जैन जाति में जन्म लिया इसलिये तत्त्वज्ञानी है—ऐसा नहीं है। पहले व्यवहार और फिर निश्चय—ऐसा मानता है उसे जन्म से दिगम्बर कैसे माना जा सकता है? क्योंकि वह मान्यता तो श्वेताम्बर की है। श्वेताम्बर उपाध्याय यशोविजय जी ने दिगम्बर की भूल निकाली है, किन्तु पहले व्यवहार और फिर निश्चय मानना मिथ्यात्व है। तत्त्वज्ञानी होने के पश्चात् अपने परिणाम देखकर प्रतिज्ञा लेते हैं, किन्तु दिखावा के लिये व्रत प्रतिज्ञा नहीं लेते।

× × ×

[वीर सं० २४७६ चैत्र शुक्ला १२ गुरुवार ता० २७-३-५३]

आत्मा परिपूर्ण शक्ति से भरा हुआ अक्षयमान भण्डार है। वर्तमान पर्याय में उसके शुभाशुभ परिणाम होते हैं वह विकार और संसार है। वह एक समय की पर्याय है। आत्माका संसार उसकी पर्याय में होता है शरीर, स्त्री आदि में संसार नहीं है। संसार की ओर पर की जिसे रुचि नहीं है, किन्तु अखण्ड ज्ञायक स्वभाव की रुचि है, वह जैन है। जिसे स्वभाव की रुचि नहीं है उसे संसार की रुचि है, वह जैन नहीं है।

आत्मा की वर्तमान अवस्था में शुभाशुभरूप विकार है, उसकी जिसे रुचि है उस स्वभाव की रुचि नहीं है। यहाँ, पर की रुचि की बात तो है ही नहीं। आत्मा में राग होता है उसकी रुचि को जीत ले उसे यहाँ जैन कहते हैं। जैनधर्म में ऐसा उपदेश है कि—पहले तत्त्वज्ञानी हो, फिर जिसका त्याग करे उसके दोषको पहिचाने, त्याग करने से जो गुण होता है उसे जाने। कोई प्राणी कहे कि मुझे दोष दूर करना है,—इसका अर्थ यह हुआ कि दोष दूर हो सकता है और स्वयं निर्दोष रूप से रह सकता है, यानी दोष स्थायी वस्तु नहीं है और निर्दोष स्वरूप नित्यस्थायी है—ऐसा निर्णय होता है। पुनश्च, विकार और दोष किसी पर ने नहीं कराया है, किंतु स्वयं किया तब हुआ है,—ऐसा माने तो विकार और दोष को नाश करने का पुरुषार्थ हो सकता है। इसलिये ज्ञानी दोष को जानता है और दोष रहित आत्मा के स्वरूप को भी जानता है।

कोई ऐसा कहे कि—आत्मा है और उसकी पर्याय में कर्म का निमित्त है। उस कर्म में रस (अनुभाग) कम होता है और आत्मा

की पर्याय में विभाव अधिक होता है, तो निमित्त में अनुभाग कम होने पर भी उपादान मे अधिक विकार कहाँ से हुआ ? दृष्टान्त — एकेन्द्रिय जीव के कर्म की स्थिति एक सागर की होती है, और मनुष्य भव का बन्ध करके जब मनुष्य होता है तब अंत क्रोडा क्रोडी सागर की कर्म की स्थिति बांधता है, तो वह विशेषता कहाँ से हुई ?

समाधान —आत्मा को कर्म के उदयानुसार विकार करना पड़ता है यह बात मिथ्या है ।—ऐसा इस दृष्टान्त से सिद्ध होता है । देखो, वहाँ उसप्रकार का *निमित्त नमित्तिक सम्बन्ध कैसा होता है*— उसकी भी जिसे खबर नहीं है, उसे आत्म तत्त्व की खबर नहीं होती । कर्म और विकार दोनो स्वतंत्र हैं । श्वेताम्बर और स्थानकवासी में तो यह मान्यता चली आती है कि कर्म के कारण विकार होता है, किन्तु दिगम्बर मे भी अधिकांश लोग मानते हैं कि कर्म के कारण विकार होता है, वह सब एक ही जाति है । मनुष्य गति मे कर्म की स्थिति अधिक होती है और जब निगोद में जाता है तब घट जाती है, तो वहाँ वह स्थिति कैसे कम की ? इसलिये निश्चित होता है कि कर्म और विकार दोनो भिन्न भिन्न स्वतन्त्र रूप से परिणमित हो रहे हैं । कर्म के कारण तीनकाल में विकार नहीं होता । सातों तत्त्व स्वतन्त्र हैं और भिन्न २ हैं—ऐसा निर्णय प्रथम न करे उसे तीनकाल में आत्म ज्ञान नही हो सकता । आत्मा राग द्वेष, भ्रांति करे—विकार करे, वह सब अपने कारण करता है, कर्म के निमित्त के कारण यह विकार नही है—ऐसा प्रथम निश्चित करे उसे तत्त्वज्ञान होता है ।

कोई कहे कि—यदि सभी को ऐसा तत्त्वज्ञान हो जावे तो कोई संसार म नही रहेगा, तो वैसा कहने वाले को आत्माकी यथार्थ रुचि

ही नहीं है, क्योंकि स्वभाव की रुचि वाले की दृष्टि संसार में कौन रहेगा उस पर नहीं होती। जैसे—कोई धन का अर्थी ऐसा विचार नहीं करता कि—मैं धनवान होऊँगा उसीतरह सब धनवान होंगये तो मेरा काम कौन करेगा ? जिसकी रुचि जिसमें होती है वह दूसरों की ओर नहीं देखता। यहाँ तो सच्चे जैन की बात है। दर्शन मोह का उदय तो अनादिकाल से है। जिसकी दृष्टि कर्म पर पड़ी है और ऐसी मान्यता है कि कर्म के उदयानुसार विकार होता है, उसका मिथ्यात्व कभी दूर नहीं होता और न उसे तत्त्वज्ञान होता है। इसलिये प्रथम तो सातों तत्त्वों का भिन्न २ स्वतंत्र निर्णय करे, फिर उसे राग का यथार्थ त्याग होता है। बाह्य में वस्त्रादि का त्याग किया है इसलिये वह त्यागी है—ऐसा नहीं है। जिसे अंतरंग सातों तत्त्वों का भावभासन नहीं है वह जीव आत्म धर्म का त्यागी है। नियमसार (पृष्ठ २४७, गाथा १२६) के कलश में कहा है कि अज्ञानी स्वधर्म का त्यागी है। मोहका क्षय ही स्वधर्म-त्याग है। आत्मा परिपूर्ण आनन्दकन्द है, उसकी रुचि जिसने छोड़ी है वह आत्मा के धर्म का त्यागी है।

ज्ञानी अपनी शक्तिअनुसार प्रतिमादि लेता है।

ज्ञानी किसी तत्त्वका अंश किसी दूसरे तत्त्वमें नहीं मिलाता, यानी जड़ कर्मका अंश विकारके अंशमें नहीं मिलता और विकारके अंशको स्वभावमें एकमेक नहीं करता। ऐसा तत्त्वज्ञान होनेसे उसको अपनी पर्यायमें जो विकार होता है उसे अच्छीतरह जानता है। अपने परिणाम न सुधरे हों और त्यागी हो जाय तो आकुलता हुए बिना नहीं रहती, इसलिये प्रथम अपनी योग्यता देखें आत्माकी पर्याय

में दोष है। निर्दोष स्वभावका आलंबन करने से गुण होता है और दोष आता है ऐसा जानता है, किन्तु परवस्तु छूटगई इसलिये दोषका नाश होता है—ऐसा नहीं जानता। इसलिये वह आवेशमें आकर प्रतिमा, व्रतादि ग्रहण नही करता। प्रतिमा, व्रत बाहरसे नही आते। वर्तमान पुरुषार्थ देखकर, और भविष्यमे भी ज्यो का त्यो भाव बना रहेगा या नही उसका विचार करके प्रतिज्ञा लेता है। ज्ञानी शारीरिक शक्ति और द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावादिकका भी विचार करते हैं, इस लिये इसप्रकार प्रतिज्ञा लेना योग्य है। अपने परिणामोका विचार करना चाहिये। यदि खेद हो, आर्त्तध्यान हो, तो वह प्रतिज्ञा नहीं निभ सकती,—ऐसी प्रतिज्ञा लेना योग्य नही है। पहले अपनी उपादान शक्ति अर्थात् परिणामोकी योग्यताकी (शक्तिकी) बात कही, और फिर निमित्त अर्थात् शरीरादि का भी ज्ञानी विचार करता है—ऐसा कहा है।

मोक्षमार्ग प्रकाशक (देहली प्र० पृष्ठ २६४ मे कहा है कि—"मुनि पद ग्रहण करने का क्रम तो यह है कि पहले तत्त्वज्ञान हो, फिर उदासीन परिणाम हो परिषहादि सहन करने की शक्ति हो, और अपने आप मुनि होने की इच्छा करे, तब श्री गुरु उसे मुनिधर्म अंगीकार कराते हैं।" आजकल तो तत्त्वज्ञान रहित, विषयासक्त जीवोको माया द्वारा लोभ दिखाकर मुनिपद देते हैं, किन्तु वह उचित नही है। जन नाम धारण करते हैं किंतु इसकी भी खबर नही होती कि भावलिंगी और द्रव्यलिंगी किसे कहा जाये।

देहली से प्रकाशित मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ ४३१ मे कहा है कि—"जिनमतमें तो ऐसी परिपाटी है कि—पहले सम्यक्त्व होता

है फिर व्रत होते हैं। अब, सम्यक्त्व तो स्व परका श्रद्धान होने पर होता है और वह श्रद्धान द्रव्यानुयोगका अभ्यास करनेसे होता है, इसलिये पहले द्रव्यानुयोग अनुसार श्रद्धान करके सम्यग्दृष्टि हो और फिर चरणानुयोग अनुसार व्रतादि धारण करके वृती हो। इसप्रकार मुख्यत निचलीदशा में ही द्रव्यानुयोग कार्यकारी है।

× × ×

[वीर सं० २४७६ चैत्र शुक्ला १३ शनिवार ता० २८-३-५३]

श्री महावीर जन्मकल्याणक दिवस

आज भगवान महावीरका जन्मकल्याणक दिवस है। जन्म-दिवस तो साधारण जीवोंका भी कहलाता है किन्तु यह तो जन्म कल्याणक दिवस है। आज कई लोग जन्म नाम से प्ररूपणा करते हैं कि भगवान ने दुनियाका उद्धार करनेके लिये जन्म लिया, किन्तु वह बात मिथ्या है। भगवानको आत्माका भान था। तीर्थंकर होने से पूर्व के तीसरे भवमें उस भानसहित भूमिकामें ऐसा राग आया कि—' मैं पूर्ण होऊं और जगतके जीव धर्म प्राप्त करें।" इसलिये तीर्थंकर नामकर्मका बंध हुआ। तीर्थंकरका द्रव्य ही अनादिसे वैसी ही योग्यतावाला होता है। अन्तर्गत पर्यायकी शक्ति ही ऐसी होती है। भगवानने परकेकारण अवतार लिया—ऐसा नहीं है, और भगवान का अवतार हुआ इसलिये लोगोंका कल्याण हुआ है—ऐसा भी नहीं है।

भगवान महावीर ने जन्म लिया इसका अर्थ—उनके आत्मा की पर्यायकी योग्यता ही वैसी थी। शरीरका सम्बन्ध मिला वह जन्म नहीं है, आत्माकी पर्यायका उत्पाद हुआ उसे जन्म कहते हैं। भग-

वान के आत्माका ज म नहीं होता। आत्मा तो त्रिकाल ध्रुव है। जगत में जिस द्रव्यकी जो पर्याय होती है वह अपनी योग्यतासे होती है। महावीर परमात्माका जीव अपनी श्रद्धा–ज्ञान–रमणतामें वतता था, उस समय अपनी निबलताके कारण राग आया, उसीमे तीर्थंकर नाम कमका बध होगया था। और वह जीव तीर्थंकर होने की योग्यता वाला था, इसकारण उनका आत्मा तीर्थंकररूप हुआ है। तीथकररूप होनेकी योग्यता उस द्रव्यमें अनादिकालसे शक्तिरूप मे थी। ध्रुवरूप योग्यता तो थी ही, किंतु पर्याय की योग्यता हुई, इसलिये "मैं पूण हाऊ"–ऐसा विकल्प आया। जगतके जीव धम प्राप्त करें—ऐसी भावना भी थी, उसीमे तीथकर नाम कमका बध हुआ था। तीथकर प्रकृतिका उदय तो वीतरागदशा होने के पश्चात आता है। केवलज्ञान होने के पश्चात ओम्कार रूप ध्वनि खिरती है, उस वाणीके निमित्त से जीव अपनी योग्यतानुसार धम प्राप्त करते हैं।

भगवान की वाणी धम मे निमित्त होती है। जो धम वृद्धिका निमित्त है उस वाणीमें से धमकी वृद्धि न कर, अथवा धम प्रगट होने में निमित्त न बने तो वह भगवानकी वाणी को नहीं समझा है।

स्तुतिकार कहते हैं कि—हे भगवान! आप ही जगदीश हैं। लौकिक जनोमे जगदीश तो उसे कहा जाता है जो जगतके जीवों की सख्या में वृद्धि करे, किन्तु आपके अवतारसे तो जगतमे परिभ्रमण करते हुए जीव कम हो जाते हैं—हे नाथ! जब तुम्हारी वाणी निकलती है, उस समय उसे समझनेवाले जीव न हो ऐसा नहीं हो

सकता। (हे नाथ ! आपने अनेकोंको तारा है–यह उपचारका कथन है। भगवानकी वाणी और समझने वाले जीव दोनों भिन्न–भिन्न पदार्थ हैं, तथा वे भिन्न–भिन्न कार्य करते हैं। जीव जब स्वयं समझे तब भगवानकी वाणीको निमित्त कहा जाता है। भगवानकी वाणी सुनी इसलिये समझमें आया—ऐसा माने तो आत्माका क्षणिक उपादान स्वतन्त्र है उसका नाश करता है, अर्थात् श्रद्धाका नाश करता है वह मिथ्यादृष्टि है।) अज्ञानी संयोगी दृष्टिसे देखते हैं और ज्ञानी स्वभावदृष्टि से देखते हैं। दोनों का मार्ग भिन्न है। एक मोक्षमें जाता है, दूसरा निगोदमें।—ऐसा वस्तुका स्वरूप है। (जिसप्रकार जगत में किसी द्रव्यका कोई अन्य कर्ता नहीं है, उसीप्रकार उस द्रव्यकी पर्याय द्रव्यका अंश है, उसका कोई कर्ता नहीं है।—ऐसा भगवानकी वाणीमें आया है।) तीर्थंकर भगवानका जन्म कल्याणक इन्द्र भी मनाते हैं। वही आजका दिन है। (भगवान ने जन्म लिया यह तो व्यवहार है, आयुके कारण आये वह भी व्यवहार है, वास्तवमें भगवान आत्माकी पर्याय की योग्यताके कारण आये हैं वह सत्य है।) भगवान माताकी कुक्षिमें आने के पूर्व इन्द्रके ज्ञानमें आया कि छह महीने पश्चात् भगवान त्रिशला माताकी कुक्षिमें आनेवाले हैं। क्रमबद्ध पर्याय न हो तो वह ज्ञान नहीं हो सकता। इससे ऐसा सिद्ध होता है कि पर्याय क्रमबद्ध होती है। क्रमबद्धका निर्णय किये बिना तीनकालमें सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकता।

भगवानको जन्म लेने से पूर्व भी ज्ञानका निर्णय तो था ही। आत्मा ज्ञानस्वरूप है, ज्ञान और आत्मा अभेद है। भगवान की वाणीमें निकला था कि ज्ञान ही आत्मा है। वह ज्ञान दूसरे का क्या

करेगा ? ज्ञान तो जानता है। उसके बदले आत्मा परभावोका कर्ता है—ऐसा मानना वह व्यवहारीजनोकी मूढ़ता है।

जिस ज्ञानमे, रागको ज्ञानमें रहकर जानने की शक्ति नहीं हुई है उसे तो, रागको जानता है—ऐसा व्यवहार भी लागू नहीं होता। एक ज्ञानमें भी स्वतन्त्ररूपसे कर्ता आदि छह कारक हैं। चारित्रगुण की पर्यायमें जो राग आया, उसे जानने की शक्ति ज्ञानकी है। ऐसे ज्ञानपूर्वक भगवानका जन्म हुआ था। जिस समय भगवान माताकी कुक्षिमें आये, उससमय भी उन्हें रागका, निमित्त का और स्व का पृथक-पृथक ज्ञान वर्तता था।

भगवान जीवों का उद्धार करते हैं—यह कथन निमित्तका है।

आज के दिन अनेक लोग अनेक प्रकारसे मिथ्या प्ररूपणा करते हैं कि भगवानने अन्य जीवोंकी हिंसाको रोका, कई जीवोका उद्धार किया,—यह सब निमित्त के कथन हैं, वस्तु का स्वरूप ऐसा नही है। भगवानने न तो किसी को तारा है, न हिंसा रोकी है, और न पर के कार्य किये हैं—यह बात सत्य है। जीव अपने कारण से समझते हैं, हिंसा उसके अपने कारण रुकती है, उन सबमें भगवान निमित्तमात्र हैं। भगवानके कारण पर में कुछ नहीं हुआ है। निर्ग्रंथ मुनि नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती छट्ठे-सातवे गुणस्थान मे झूलते थे। वहाँ विकल्प आया कि हे भगवान ! हम तेरे चरण कमल के प्रसाद से तरे हैं, तूने हमारा उद्धार किया है। देखो, यह सब निमित्त का कथन है। अपनी पर्याय की योग्यताके बिना भगवानको उद्धारका

निमित्त नहीं कह सकते। लोगों में कहावत है कि—जनने वाली में जोर न हो—तो दाई क्या करे? उसीप्रकार अपने में सम्यग्दर्शन प्रगट करने की शक्ति न हो तो भगवान क्या कर सकते हैं? यदि निमित्त के कारण उद्धार होता हो तो एक ही तीर्थंकर के होने पर सबको तर जाना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता। भगवान ने अनंत जीवों को तार दिया—ऐसा उपचार से—व्यवहार से कहा जाता है मनुष्य संख्यात होते हैं व सब नहीं तर जाते, तथापि भगवानको अनन्त का तारनहार कहा जाता है। ऐसे भगवान का जन्म कल्याण कारी है। जिन्होंने आत्माका भान नहीं किया, ऐसे जीवों का अवतार टिड्डी जैसा है।

भगवान उसी भव में मोक्ष प्राप्त करते हैं। और भगवान का पुण्य भी उच्च होता है। उनका पुण्य और पवित्रता उत्कृष्ट होती है। जब इन्द्र को ज्ञात होता है कि भगवान का जन्म हो गया, तब वह सिंहासन से नीचे उतर जाता है और भगवान को नमस्कार करता है। भगवान का शरीर तो बालक है भक्त स्वयं इन्द्र है, क्षायिक सम्यग्दृष्टि है, तथापि भक्तिभाव उल्लसित हो गया है और कहता है कि—अहो! तीन लोक के नाथ को हमारा नमस्कार हो! भगवान का जन्म हो और समझने वाले न हों ऐसा नहीं होता, तथा लोगों की पात्रता प्रगटे और भगवान का जन्म न हो—ऐसा भी नहीं होता, तथापि भगवान जीवों को तारते हैं ऐसा नहीं है। भगवान को भी अपने में शक्तिरूप से भगवानपना था, उसी में से प्रगट हुआ है। भगवान ने ढिंढोरा पीटा कि तुझमें भी ऐसी शक्ति है, तू पराश्रित

नहीं है, तुझे किसी की सहायता की आवश्यकता हो—ऐसा नहीं है।

भगवान को समझने वाले ऐसा मानते हैं कि उन्होंने तो अपने में जो शक्तिरूप से भगवानपना था वही पर्याय में स्वतन्त्ररूप से प्रगट किया है, और अहिंसा अपनी पर्याय में की है, पर में नहीं की। आत्मा शांतिरूप है, वर्तमान पर्याय में जो अशांति है वह मेरा स्वरूप नहीं है,—ऐसा भान करना सो अहिंसा है। राग का ज्ञान वह व्यवहार है और स्व का ज्ञान वह निश्चय है,—ऐसा जानना वह जन्मकल्याणक महोत्सव है।

× × ×

[वीर सं० २४७६ चैत्र शुक्ला १४ रविवार ता० २१-३-५१]

छहों द्रव्यों का परिणमन स्वतंत्र है।
जैनधर्म की आम्नाय

"समयसार-नाटक" पृष्ठ ३२१ में कहा है कि—आत्मामें विकार होता है उस परिणाम में किसी की सहायता नहीं है। छहों द्रव्य अपने २ परिणाम किसी की सहायता के बिना कर रहे हैं। कोई कर्म प्रेरक होकर आत्मा को विकार नहीं कराता। द्रव्य कर्म से भावकर्म होता है—ऐसा नहीं है, तथा राग से वीतरागता होती है—ऐसा भी नहीं है। इसलिये तत्त्वज्ञान के बिना व्रत, तपादि करे तो वह बालव्रत और बालतप है। ज्ञानी मात्र वर्तमान परिणाम का विश्वास रखकर प्रतिज्ञा नहीं लेते, किन्तु द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव देखकर प्रतिज्ञा लेते हैं। आत्मा में मुनिपने का पुरुषार्थ न हो, शरीर

की स्थिति भी बने न हो और त्याग कर बैठे तो आर्तध्यान होता है। प्रतिज्ञा के प्रति निरादर भाव न हो, किन्तु बढ़ता रहे—उच्च भाव रहे ऐसी प्रतिज्ञा लेते हैं। ऐसा जैनधर्म का उपदेश है और जैनधर्म की आम्नाय भी ऐसी है।—ऐसे दो प्रकार कहे हैं।

प्रश्न—चाण्डालादिक ने प्रतिज्ञा की थी, उन्हें कहाँ इतना विचार होता है ?

उत्तर—'मृत्यु-पर्यन्त कष्ट हो तो भले हो, किन्तु प्रतिज्ञा नहीं छोड़ेंगे—ऐसे विचार से वे प्रतिज्ञा लेते हैं, किन्तु प्रतिज्ञा के प्रति उनका निरादरभाव नहीं है। आत्मा के भान बिना भी कोई प्रतिज्ञा ले लें, तथापि मृत्यु-पर्यन्त कष्ट आने पर भी उसे नहीं छोड़ते, और उनके प्रतिज्ञा का आदर नहीं छूटता। यह व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि की प्रतिज्ञा की बात कही। कषाय की मन्दतारूप बढ़ते (उच्च) परिणाम रहें तदनुसार वह प्रतिज्ञा लेता है, और प्रतिज्ञा भङ्ग नहीं होने देता। अब सम्यग्दृष्टि की बात करते हैं। ज्ञानी जो प्रतिज्ञा लेते हैं वह तत्त्वज्ञान पूर्वक ही करते हैं। अपने परिणाम देखकर प्रतिज्ञा लेते हैं। वे विचार करते हैं कि मेरी पर्याय में वर्तमान तुच्छता वर्तती है, मेरे परिणामों में वृद्धि नहीं होती। द्रव्य से प्रभु हूँ, किन्तु पर्याय से पामर हूँ उसका अच्छी तरह ज्ञान करते हैं।

तत्त्वज्ञानपूर्वक ही प्रतिज्ञा लेना योग्य है।

असलीस्वरूप आत्म द्रव्य त्रिकाल शुद्ध है। उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन रूपी शुद्ध पर्याय तो प्रगट हुई है, किन्तु अभी उग्र पुरुषार्थ पूर्वक राग का सर्वथा अभाव नहीं हुआ है अर्थात् निर्बलता है, द्रव्य

का पूर्ण आश्रय नही हुआ है, पर्याय में पामरता है और उससे निमित्त का सम्बन्ध सर्वथा नही छूटा है।—इसप्रकार पर्याय का ज्ञान करके प्रतिज्ञा लेते हैं। दृष्टि मे से द्रव्य का अवलम्बन छूट जाये तो मिथ्यादृष्टि हो जाये और पर्यायमें से निमित्तका अवलम्बन सर्वथा छूट जाये तो केवलज्ञान हो जाये। साधक को दृष्टि अपेक्षासे द्रव्य का अवलम्बन कभी नही छूटता, और पर्यायमे पामरता है इसलिये सर्वथा निमित्त का अवलम्बन भी नही छूटा है। इसलिये ज्ञानी तत्त्वज्ञान पूर्वक ही प्रतिज्ञा लेते हैं। परद्रव्य मेरा कुछ करता है यह बात तो है ही नही, यहां तो त्रिकाली द्रव्य और वर्तमान पर्याय दो की बात है। पर्यायमें दया का राग आये तो उस प्रकारके निमित्त पर लक्ष जाता है। पर का अवलम्बन नही छूटता। इसका अर्थ ऐसा नहीं है कि पर निमित्त के कारण राग हुआ है जिस जिस प्रकार का राग होता है। उस उस प्रकार के निमित्तो पर लक्ष जाता है, किन्तु उन निमित्तो के कारण राग हुआ है—ऐसा नही है।

डुगडुगी बजती है, उसकी डोरी एक ही होने पर भी वह दोनो ओर बजती है। उसीप्रकार ज्ञानीको शुद्ध दृष्टि अपेक्षासे सदैव द्रव्य का अवलम्बन होता है और पर्यायकी अपेक्षासे निमित्तका अवलम्बन है।—इसप्रकार साधकदशा मे दो प्रकार होते हैं। द्रव्यपर्यायके ज्ञान बिना व्रत–प्रतिज्ञा ले ले तो वह यथार्थ आचरण नहीं है। कोई ज्ञानी की निन्दा करे तो ज्ञानी उसका भी ज्ञान करते हैं, और जो राग द्वेष होता है उसे भी ज्ञेय रूप अच्छी तरह जानते हैं। और वह ऐसी प्रतिज्ञा लेते हैं जिससे सहज परिणाम हो।

अब कहते हैं कि—जिसे अन्तरंग विरक्तता नहीं हुई और बाह्यसे प्रतिज्ञा धारण करता है, वह प्रतिज्ञा लेने से पूर्व और पश्चात् आसक्त रहता है। उपवास की प्रतिज्ञा लेने से पूर्व धारणा में आसक्त होकर आहार लेता है और उपवास पूर्ण होने पर मिष्टान्न उड़ाता है, खाने में जल्दी करता है। जिस प्रकार रुका हुआ जल को छोड़ने पर वह बड़े वेग पूर्वक बहने लगता है, उसी प्रकार इसने प्रतिज्ञासे विषयवृत्तिको रोका, किन्तु अन्तरंग में आसक्ति बढ़ती गई और प्रतिज्ञा पूर्ण होते ही अत्यन्त विषयवृत्ति होने लगी। इसलिये वास्तवमें उसके प्रतिज्ञा कालमें भी विषय वासना नहीं छूटी है। तथा आगे-पीछे उलटा अधिक राग करता है, किन्तु फलकी प्राप्ति तो राग भाव मिटने पर ही होती है, इसलिये जितना राग कम हुआ हो उतनी ही प्रतिज्ञा करना चाहिये। महामुनि भी पहले थोड़ी प्रतिज्ञा लेकर फिर आहारादि में कमी करते हैं और यदि बड़ी प्रतिज्ञा लेते हैं तो अपनी शक्ति का विचार करके लेते हैं। इसलिये परिणाम में चढ़ते भाव रहें और आकुलता न हो—ऐसा करना कार्यकारी है।

पुनश्च, जिसकी धर्म पर दृष्टि नहीं है वह किसी समय तो महान धर्म का आचरण करता है और कभी अधिक स्वच्छंदी होकर वर्तता है। जैसे—दशलक्षण पर्व में दस उपवास करता है और अन्य पर्व दिवसों में एक भी नहीं। अब, यदि धर्मबुद्धि हो तो सब धर्म पर्वों में यथायोग्य संयमादि धारण करना चाहिये, किन्तु मिथ्यादृष्टि को उसका विवेक नहीं होता। उसके व्रत, तप, दान भी सच्चे नहीं होते। यहाँ तो, अज्ञानी को ऐसा विकल्प आता है उसकी बात करते

हैं। जहाँ बड़प्पन मिलता हो वहाँ अधिक रुपये खर्च करता है। मकान मे नाम की तख्ती लगा दो तो अधिक रुपये दे सकता हूँ—ऐसा कहने वाले जीव को धर्म बुद्धि नही है, राग घटाने का उसका प्रयोजन नहीं है।

और कभी किसी धर्म कार्य में बहुत सा धन खर्च कर देता है, तथा किसी समय कोई कार्य आ पडे तो वहाँ थोड़ा सा भी नहीं देता। यदि उसके धर्म बुद्धि हो तो सब धर्म कार्यों मे यथायोग्य धन खर्च करता रहे। इसी प्रकार अन्य भी जानना। अज्ञानी को धन खर्च करनेका भी विवेक नहीं होता। कहने सुनने से धन खर्च करता है, किन्तु यदि धर्म बुद्धि हो तो अपनी शक्ति के अनुसार सभी धर्म कार्यों में यथायोग्य धन दिये बिना न रहे। जैसे—लड़की का विवाह करना हो तो वहाँ चन्दा करने नहीं जाता, किन्तु अपने घरमे से पैसा निकालता है, मकान बनाना हो तो चन्दा नहीं करता,—उसीप्रकार जिसे धर्म बुद्धि हो वह धर्म के सभी कार्यों में यथाशक्ति धन खर्च करता है, उसके ऐसे परिणाम होते हैं।

सम्यग्ज्ञान पूर्वक व्रत, तप और दान होना चाहिये,—यह तीन बात कहीं। इसप्रकार जिस २ काल मे जिस २ प्रकार का राग हो उस २ प्रकार से ज्ञानी को विवेक होता है—ऐसा समझना चाहिये। और जिसे सच्चे धर्म की दृष्टि नही है उसके सच्चा साधन भी नहीं है। बाह्यसे लक्ष्मीका त्याग कर देता है, किन्तु वस्त्रादिका मोह नहीं छूटता। सुन्दर मखमली जूते और कोट पहिने तो वह त्याग मेल रहित है। बाह्यसे त्याग किया हो और सट्टे का धन्धा करे, स्वयं तो

त्यागी हो किन्तु दूसरोंको लक्ष्मी प्राप्त कराने के लिये फीचर के अक आदि बतलाय, सो वह धर्म में कलकरूप है उसने वास्तव में लक्ष्मी का त्याग नही किया है, किन्तु लाभा तराय के कारण लक्ष्मी की प्राप्ति नहीं हुई है। स्वय त्यागी हो जाये और अपने माता पिता आदि के लिये चन्दा इकट्ठा कराये वह भी त्यागी नही है।

किसी से च दे में अमुक रकम देने का आग्रह करना अथवा कहना भी त्यागी के लिये शोभनीय नहीं है। सच्चा त्याग हो तो अपने परिणामो को देखता है। कोई साधु कहे कि मुझे अमुक रुपयो की आवश्यकता है, तो इसप्रकार साधु होकर मागना वह धर्म की शोभा नही है। निस्पृह रूप से त्याग होना चाहिये। मुनि को याचना नहीं होती।

कोई कोई त्यागी ऐसे होत हैं कि यात्रा के लिये अथवा भोजनादि के लिये पसो की याचना करते हैं, और कोई न दे तो क्रोध कपाय करते हैं। प्रथम तो त्यागी को याचना करना ही योग्य नही है और फिर कषाय करना तो महान बुरा है, तथापि अपने को त्यागी और तपस्वी मानता है वह व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि का अविवेक है। मुनि नाम धारण करके अपने को तपस्वी मानकर क्रोध मान, माया और लोभ करता है, "मैं तपस्वी हूँ" इसलिये ग्रन्थ माला में मेरा नाम रखा जाये तो ठीक—ऐसा मानकर अभिमान करता है, वह सच्चा मुनि नहीं किन्तु अज्ञानी है।

× × ×

[वीर सं० २४७६ वशाख कृष्णा १ मगलवार ता० ३१-३-५३]

यह व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि का अधिकार चलता है। तत्त्व

ज्ञान के बिना यथार्थ ग्राचरण नही होता। वह जीव कोई अत्यन्त नीच क्रिया करता है इसलिये लोकनिंद्य होता है, ग्रौर धर्म की हँसी कराता है। जैसे—कोई पुरुष एक वस्त्र ग्रति उत्तम ग्रौर एक ग्रति हीन पहिने तो वह हास्यपात्र ही होता है, उसीप्रकार यह भी हँसी कराता है। व्यवहाराभासी जीवकी क्रिया हास्यास्पद होती है, क्योंकि किसी समय उच्च क्रिया करता है ग्रौर कभी फिर नीच क्रिया मे लग जाता है, इसलिये लोकनिंद्य होता है। इसलिये सच्चे धर्म की तो यह ग्राम्नाय है कि—जितने ग्रपने रागादिक दूर हुए हो तदनुसार जिस पद मे जो धर्म क्रिया सभव हो वह सब ग्रगीकार करे।

चौथे ग्रौर पाँचवें गुणस्थान मे जिस प्रकार की क्रिया सभव हो उसी प्रकार ज्ञानी वर्तन हैं।

किन्तु उच्चपद धारण करके नीची क्रिया नही करना चाहिये। सम्यग्दृष्टि की भूमिका में मासादि का ग्राहार नही होता। सम्यग्दृष्टि को कदाचित् लड़ाई के परिणाम हो किन्तु उसके ग्रभक्ष्य ग्राहार नही हो सकता। ग्रभी ग्रासक्ति नही छूटी इसलिये स्त्री सेवनादि होता है। पाँचवें गुणस्थान में भूमिकानुसार त्याग होता है। पुरुषार्थ सिद्धयुपाय मे कहा है कि—जिसके मास-मदिरा का त्याग न हो वह उपदेश सुनने का भी पात्र नही है।

प्रश्न—स्त्री-सेवनादि का त्याग ऊपर की प्रतिमाग्रो में कहा है, तो निचली दशा वाले को उसका त्याग करना चाहिये या नही ?

उत्तर—निचली दशावाला उनका सर्वथा त्याग नही कर सकता, कोई दोष लग जाता है। इसलिये ऊपर की प्रतिमाग्रो मे उनका त्याग होता है, किन्तु निचली दशा में जिस प्रकार से त्याग

समव है उतना त्याग उस दशा में भी करना चाहिये। किंतु निचली दशा में जो समव न हो, वह त्याग तो कषायभावों से ही होता है। जैसे—कोई सात व्यसन का तो सेवन करे और स्व-स्त्री का त्याग करे—यह कैसे हो सकता है? यद्यपि स्वस्त्री का त्याग करना धर्म है, तथापि पहले जब सप्तव्यसन का त्याग हो जाये तभी स्वस्त्री का त्याग करना योग्य है। चौथे गुणस्थानवाला प्रतिमा की प्रतिज्ञा नहीं करता क्योंकि मतत्वासना अभी सहज छूटी नहीं है।

पुनश्च, सब प्रकारसे धर्मके स्वरूपको न जानने वाले कुछ जीव किसी धर्मके अंगको मुख्य करके अन्य धर्मको गौण करते हैं। जैसे—कोई जीव दया धर्मको मुख्य करके पूजा प्रभावनादि कार्योंका उत्थापन करता है, वह व्यवहार धर्मको भी नहीं समझता। ज्ञानीको पूजा, प्रभावनादि के भाव आये बिना नहीं रहते। पर जीवकी हिंसा, अहिंसा कोई नहीं कर सकता, किन्तु भावों की बात है। पूजा प्रभावना में शुभभाव होते हैं उनकी उत्थापना नहीं की जा सकती, तथापि उन्हें धर्म नहीं मानना चाहिये। कोई पूजा—प्रभावनादि धर्मको (शुभभाव को) मुख्य करके हिंसादिका भी भय नहीं रखते। रात्रिके समय पूजा नहीं करना चाहिए, शुद्ध जलसे अभिषेक होना चाहिये।

यह बात न्याय से समझना चाहिये। भले ही मिथ्यादृष्टि हो किन्तु सत्य बात आये तो पहले स्वीकार करना चाहिये। अज्ञानी किसी तपकी मुख्यता मानकर आर्तध्यानादि करके भी उपवासादि करते हैं अथवा अपने को तपस्वी मानकर निःशंकरूपसे क्रोधादि करते हैं। उपवास करके सो जाते हैं, आर्तध्यान करके दिन पूरा करते हैं। तत्त्वज्ञानके बिना सच्चा तप नहीं होता। आत्माकी शांतिसे

शोभित हो प्रतापवत हो उसका नाम तपस्वी है। उसके बदले तपस्वी नाम धारण करे और उग्र प्रकृति रखे तो वह यथार्थ नही है। वर्षीतप करे और उपवासका पारणा करते समय अच्छी सुविधा न मिलने पर कषाय करे, तो उसे तप नही कहा जाता।

पुनश्च, कोई दानकी मुख्यता मानकर अनेक पाप करके भी धन कमाकर दान देते हैं। पहले पाप करके धन इकट्ठा करना और फिर दान देना, यह न्याय नही है। पहले लक्ष्मीकी ममता कर लू और फिर उसे कम करू गा तो वह ठीक नही है। परोपकारके नामसे भी पाप करते हैं। कोई आरम्भ त्यागकी मुख्यता करके याचना करने लगते हैं। रांधने मे पाप मानकर भिखारी की भांति मांगने जाये तो वह योग्य नही है। तथा कोई जीव अहिंसा को मुख्य करके जल द्वारा स्नान-शौचादि भी नही करते, और कोई लौकिक कार्य आने पर धर्म को छोड देते हैं अथवा उसके आश्रयसे पापाचरण भी करते हैं।

धर्मकी प्रभावनाके हेतु महान महोत्सव होता हो तो ज्ञानी शिथिलता नही रखते। लौकिक कार्य छोडकर वहाँ उपस्थित हुए बिना नही रहते। पचाध्यायी गाथा ७३१ मे कहा है कि—नित्य नमित्तिक रूपसे होनेवाले जिन-बिम्ब महोत्सवमे भी शिथिलता नही करना चाहिये, तथा तत्त्वज्ञानियो को तो शिथिलता कभी भी और किसी भी प्रकार से नही करना चाहिये।

"ज्यां ज्यां जे जे योग्य छे तहां समजवु तेह।" इसलिये विवेक करना चाहिये। अज्ञानी के विवेक नही होता। जैसे किसी अविवेकी व्यापारीको किसी व्यापारमें लाभके हेतु अन्य प्रकार से

बड़ी हानि हो जाती है वैसा ही यह कार्य हुआ, किन्तु जिसप्रकार विवेकी व्यापारीका प्रयोजन लाभ है इसलिये वह सारा विचार करके जिसमें लाभ हो वह करता है, उसीप्रकार ज्ञानीका प्रयोजन तो वीतरागभाव है इसलिये वह सारा विचार करके वही करता है जिसमें वीतरागभाव की वृद्धि हो।

चारों अनुयोगोंका तात्पर्य वीतरागता है, वही ज्ञानीका प्रयोजन है। दृष्टिमें वीतरागता तो है, किन्तु चारित्रमें भी वीतरागता बढ़े वही ज्ञानीका प्रयोजन होता है राग का प्रयोजन नहीं होता। तत्त्वज्ञानके बिना रागका अभाव नहीं होता। बाह्यमें त्याग हुआ या नहीं—उस से ज्ञानीको प्रयोजन नहीं रहता शुभभावका भी प्रयोजन नहीं है। ज्ञानीको राग निमित्त और परकी उपेक्षा होती है और स्वकी अपेक्षा होती है।

× × ×

[वीर सं० २४७६ प्र० वैशाख कृष्णा २ बुधवार १-४-५३]

आत्माके भान बिना आचरण मिथ्याचारित्र है।

पुनश्च, कोई जीव अणुव्रत, महाव्रतादिरूप यथार्थ आचरण करता है, तथा आचरणके अनुसार अभिप्राय भी है, किन्तु माया लोभादि के परिणाम नहीं हैं। पहले तो उसकी बात कही थी जो व्रतादि का भलीभाँति पालन नहीं करता। अब कहते हैं कि—भगवान के कहे हुए व्रतादिका यथार्थरूपसे पालन करता है, तथापि उस क्रियासे और शुभभावसे धर्म होता है, व्यवहार करते-करते धर्म हो जाता है—ऐसी मान्यता होने से उसके भी यथार्थ चारित्र नहीं है। जिस जीवको आत्माका भान नहीं है तथा अणुव्रतादि का अच्छी तरह

पालन नहीं करता, वह मिथ्यादृष्टि तो है ही, किन्तु उसका आचरण भी मिथ्या है,—यह बात पहले आगई है। अब कहते हैं कि—व्रतादि यथार्थ आचरण करता है तथापि उस मिथ्यादृष्टिके चारित्र नहीं है।

भगवानके मार्गमें प्रतिज्ञा न ले तो दण्ड नहीं है, किन्तु प्रतिज्ञा लेकर भंग करना तो महा पाप है। वस्तुका स्वरूप क्या है ?—वह जानना चाहिये। यह मोक्षमार्ग प्रकाशक शास्त्र है और सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्रकी एकता वह मोक्षमार्ग है। राग-विकार या जड़की क्रिया मोक्षमार्ग नहीं है। यहाँ तो कहते हैं कि कोई जीव भलीभाँति २८ मूलगुण का पालन करे, मन-वचन-कायादि गुप्ति पाले, उद्दिष्ट आहार न ले, महीने महीने के उपवास करे, तप करे, व्यवहार क्रिया में किंचित् दोष न करे,—ऐसा आचरण करता है और तदनुसार कषाय की मंदता भी है, इन क्रियाओंमें उसे माया तथा लोभके परिणाम नहीं हैं, किन्तु उसे धर्म मानकर मोक्षके हेतु उसका साधन करता है। वह स्वर्गादि भोगोंकी इच्छा नहीं रखता, किंतु पहले उसे तत्त्वज्ञान नहीं हुआ है, इसलिये स्वयं तो जानता है कि मैं मोक्षके हेतु साधन करता हूँ, किन्तु मोक्षके साधनकी उसे खबर भी नहीं है, वह तो मात्र स्वर्गादि का ही साधन करता है वह मिथ्यादृष्टि व्यवहाराभासी है। तत्त्वज्ञानपूर्वक आचरण न होने से उसके सच्चा चारित्र नहीं है। समयसारमें भी कहा है कि तत्त्वज्ञानपूर्वक अध कर्मी आहार नहीं लेता उस मुनिके यथार्थ आचरण है। वीतरागकी जैसी आज्ञा व्यवहारमें है वैसा आचरण करता है, किन्तु उसे मिथ्या मान्यता होनेसे आश्रवको धर्म मानता है, इसलिये वह आचरण मिथ्या

चारित्र है। शुभ व्यवहार करते-करते धर्मका साधन हो जावेगा यह मान्यता मिथ्या है। प्रथम भेदज्ञान द्वारा अंतर साधन प्रगट किये बिना मंदकषायको व्यवहारसे भी साधन नहीं कहा जाता। त्रिकाल एक स्वसन्मुखतारूप आत्मसाधनसे ही मोक्षमार्ग होता है। फिर मन्द कषायको निमित्त कहा जाता है। काल दूसरा है इसलिये शुभभावरूपी साधनसे मोक्षमार्ग हो जायगा—ऐसा नहीं है। कसार तो त्रिकाल घी, शक्कर (गुड़) और आटेका ही बनता है। चौथे कालमें उन वस्तुओंसे कसार बनता हो और पंचमकालमें दूसरी वस्तुओंसे—ऐसा नहीं हो सकता।—इसप्रकार आत्माका सत्य साधन तो त्रिकाल एक ही होता है। मिथ्यादृष्टि भगवानकी आज्ञाका विपरीत अर्थ करता है। कोई मिसरीको अफीम जानकर भक्षण करे किन्तु उससे अफीमका गुण तो नहीं हो सकता, क्योंकि अपनी प्रतीतिके अनुसार फल नहीं मिलता, जैसा साधन करेगा वैसा ही फल प्राप्त होता है। पुण्यको धर्म माने तो उससे कहीं धर्म नहीं हो सकता। पापके फलको धर्म मानले तो आत्मधर्म नहीं हो जाता, इसलिये प्रतीतिके अनुसार फल नहीं होता, किन्तु जैसा वस्तुका स्वरूप है वैसी प्रतीति करे तो यथार्थ फल मिलता है। शास्त्रमें कहा है कि—

तत्त्वज्ञानपूर्वक आचरण यह सम्यक्चारित्र है।

चारित्रमें जो 'सम्यक्' पद है वह अज्ञानपूर्वक आचरणकी निवृत्तिके हेतु है। इसलिये प्रथम तत्त्वज्ञान हो और फिर चारित्र हो, वही सम्यक्चारित्र नाम प्राप्त करता है। जिसके अज्ञानका नाश न हो उसके चारित्र नहीं होता, जो तत्त्वज्ञान न करे उसके सम्यक्

दर्शन नही है। दिगम्बर सम्प्रदायमें जन्म लिया इसलिये सम्यग्दृष्टि है—ऐसा नही है। दिगम्बर कोई सम्प्रदाय नही है, किन्तु वस्तु का स्वरूप है। साततत्त्वोंके भावका भासन होना वह तत्त्वज्ञान है।

१ जीवतत्त्व तो परम पारिणामिक भाव शुद्ध चैतन्य है वह है।

२ अजीवतत्त्व भी पारिणामिक भाव तथा औदयिक भाव रूप है।
(यहाँ अजीवतत्त्व में मुख्यत कर्मादि पुद्गल तत्त्व लेना है।)

३ आस्रवतत्त्व आत्मामें विकार भाव–औदयिक भाव है वह है।

४ संवर मे सम्यग्दर्शन, सम्यकचारित्र है वह क्षायोपशमिक, औपशमिक तथा क्षायिक भाव है।

५ बंधभाव वह विकार भाव है, औदयिक भाव है, वह आत्मा की शुद्ध पर्याय नही है।

६ निर्जरा क्षायोपशमिक, औपशमिक तथा क्षायिक भाव है।

७ मोक्ष क्षायिकभाव है।

—इसप्रकार सात तत्त्वो का भाव समझना चाहिये।

तत्त्वज्ञान के बिना दर्शन प्रतिमा भी नही होती, तब फिर मुनिपना तो कहाँ से होगा ? वर्तमान दिगम्बरसम्प्रदाय मे तो देवादि की श्रद्धा है इसलिये सम्यग्दर्शन है—ऐसा अधिकाश मानता है। श्रावककुल मे जन्म हुआ इसलिये जन्मसे श्रावक हैं—ऐसा मानते हैं, किन्तु वे मिथ्यादृष्टि हैं। आत्मा चिदानन्द है—ऐसी दृष्टि के बिना सम्यग्दृष्टि नही होता, और सम्यग्दर्शन अर्थात् तत्त्वज्ञान के बिना चारित्र

नहीं होता। जैसे—कोई किसान बीज तो न बोये और अन्य साधन करे तो उसे अन्न प्राप्ति कहाँ से होगी ? घास फूस ही होगा। उसीप्रकार अज्ञानी तत्त्वज्ञान का तो अभ्यास न करे और अन्य साधन करे, तो मोक्ष प्राप्ति कहाँ से होगी ? देवपद आदि की प्राप्ति हो सकती है।

पुनश्च, उनमें कोई २ जीव तो ऐसे हैं जो तत्त्वादि के नाम भी अच्छी तरह नहीं जानते, मात्र बाह्य व्रतादि में ही वर्तते हैं। निर्दोष व्रतों का पालन करते हैं किन्तु तत्त्वज्ञान नहीं करते। और कुछ जीव ऐसे हैं कि—जैसा पहले वर्णन किया है तदनुसार सम्यग्दर्शन-ज्ञान का अयथार्थ साधन करके व्रतादि में प्रवर्तमान हैं। यद्यपि वे व्रतादि का भलीभाँति बाह्य दोष रहित पालन करते हैं किन्तु यथार्थ श्रद्धान-ज्ञान बिना उनका सब आचरण मिथ्याचारित्र ही है।

श्री समयसार कलश १४२ में श्री अमृतचन्द्राचार्य देव मार्ग को स्पष्ट प्रकाशित करते हैं—

(शार्दूल विक्रीडित)

क्लिश्यन्तां स्वयमेव दुष्करतरैर्मोक्षोन्मुखैः कर्मभिः
क्लिश्यन्तां च परे महाव्रततपोभारेण भग्नाश्चिरम्।
साक्षान्मोक्ष इदं निरामयपदं संवेद्यमानं स्वयं
ज्ञानं ज्ञानगुणं विना कथमपि प्राप्तुं क्षमन्ते न हि॥

अर्थ —कोई मोक्ष से पराङ्मुख ऐसे अति दुस्तर पंचाग्नि तपनादि कार्यों द्वारा स्वयं ही क्लेश करते हैं तो करो, तथा अन्य कोई जीव महाव्रत और तप के भार से अधिककाल तक क्षीण होते हुए क्लेश करते हैं तो करो, किन्तु यह साक्षात् मोक्षस्वरूप सर्व रोग रहित

पद, अपने आप अनुभव में आये ऐसा ज्ञान स्वभाव तो ज्ञानगुण के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार से प्राप्त करने में समर्थ नहीं हैं।

चारित्र आनन्ददायक है, उसे कष्टप्रद मानना वह मिथ्यात्व है।

जिसे आत्मा का भान नहीं है उसके लिये व्रतादि भाररूप हैं। संसार एक समय की उदयभावरूप अशुद्ध पर्याय है किन्तु वह मेरे स्वभाव में नहीं है,—उसका जिसे भान नहीं है उसे व्रतादि या क्लेश के भाररूप हैं। चारित्र सचमुच तो आनन्द स्वरूप है, कष्टरूप नहीं है। तत्त्वज्ञानके बिना जो आचरण है वह कष्टरूप लगता है। चारित्र तो संवर है, दुःख की पर्याय का नाश करने वाला है, उसे कष्ट-दायक मानना वह मिथ्यात्व है। धर्म कष्ट दायक होता ही नहीं। भूमिकानुसार धर्मी आत्मा को निरन्तर आनन्द होता है। परिषह हो तथापि उनका ख्याल नहीं होता। सुकोशल मुनि को व्याघ्री खाती है, उस समय भी आनन्द है। गजकुमार मुनिको भी आनन्द है। अविकारी आनन्दकन्द परिणाम वह चारित्र है, उसकी जिसे खबर नहीं है उसके संवर तत्त्व की भूल है, विपरीत अभिनिवेश है। क्या करें हमने महाव्रत ले लिए इसलिये पालन करना चाहिये,—ऐसी अरुचि लाये तो वह सत्य आचरण नहीं है। प्रथम भावभासनरूप तत्त्वज्ञान करो, जगत की चिंता छोडो। यह बात कभी सुनी नहीं है इसलिये पहले अभ्यास करो।

यात्रा करने जाये और पहाड पर चढ़े–उतरे उस समय थक जाता है, भूख–प्यास सताने लगती है, तो धर्मशाला के मुनीम से

झगड पड़ता है, कषाय करता है, वह कहीं यात्रा नहीं है। तत्त्वज्ञान पूर्वक आकुलता कम हो—ऐसा शांतिमय आचरण होना चाहिये। मुनिपना श्रावकपना ग्रहण करता है शरीर को जीर्ण कर लेता है, किन्तु मिथ्यात्व को जीर्ण नहीं करता। प्रथम यथार्थ प्रतीति करने में भले ही अधिकांश समय बीत जाये किन्तु उसके सिवा अन्य उपाय करे तो उससे आत्मा का कल्याण नहीं होता।

मिथ्यादृष्टि व्रतादि शुभ आस्रवका पालन करता है, उसके द्वारा मोक्ष मानता है किन्तु साक्षात् मोक्ष-स्वरूप ऐसा निरामय, (रोगरहित) पद जो अपने आत्मसे अनुभव में आता है—ऐसा ज्ञान स्वभाव तो ज्ञानगुण के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार से प्राप्त करने में समर्थ नहीं है। व्यवहार, राग अथवा मन के आश्रय से वह प्राप्त हो—ऐसा नहीं है। आत्मा की ज्ञान क्रियाके अतिरिक्त अन्य किसी भी क्रियासे मोक्ष नहीं होता। ज्ञानक्रियामें दर्शन ज्ञान चारित्र तीनों आ जाते हैं। आत्मा ज्ञान स्वभावी है। सर्वज्ञ पूर्ण स्वभावी व्यक्त है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु राग, निमित्त आदि आत्मा में नहीं है—ऐसे तत्त्वज्ञान के सिवा अन्य किसी भी क्रिया से मोक्ष नहीं होता। मोक्षमार्ग की विधि न जाने और क्रिया करने लग जाये तो कहीं मोक्षमार्ग प्राप्त नहीं होता। जैसे—हलवा बनाने की विधि न जाने और बनाने बैठ जाये तो हलवा नहीं बन सकता, किन्तु लेई बनेगी। उसी प्रकार प्रथम मोक्षमार्ग की विधि न जाने और क्रिया करने लग जाये तो मोक्षमार्गरूपी हलवा नहीं बनेगा, किन्तु मिथ्यात्वरूपी लेई बन जायेगी और चार गति में भटकने का साधन प्राप्त होगा, इसलिये प्रथम तत्त्वज्ञान करना चाहिये।

[वीर सं० २४७६ प्र. वैशाख कृष्णा ३ गुरुवार ता० २-४-५१]

तेरह प्रकारका चारित्र मंदकषाय है, धर्म नहीं।

अन्तर्मुख दृष्टि किये बिना अन्य किसी प्रकार आत्माका अनुभव नहीं होता। करोड़ों उपवास करे, त्याग करे, ब्रह्मचर्य पाले किन्तु उससे धर्म नहीं होता और न भवका अन्त आता है। श्री पंचास्तिकाय गाथा १७२ में व्यवहाराभासीका कथन भगवान अमृतचन्द्राचार्य ने किया है। उसमें कहा है कि तेरह प्रकारके चारित्रका पालन करते हुए भी उसका मोक्षमार्गमें निषेध किया है। ब्यालीस, छियालीस दोष रहित आहार ले, पंचमहाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्तिरूप चारित्र का पालन करे वह कषायको मंद करता है उसे वह धर्म मानता है इसलिये मिथ्यादृष्टि है। उसमें मोक्षमार्ग नहीं है जहाँ व्यवहार साधन और निश्चय साध्य कहा है वहाँ निश्चय साधनसे निश्चय-साध्यदशा प्रगट करे तो व्यवहारको उपचारसे साधन कहा है।

श्री समयसार नाटकमें कहा है कि—जितना व्यवहार-साधन कहा है वह वास्तवमें साधक नहीं किन्तु सब बाधक है। श्री प्रवचनसारमें भी आत्मज्ञान शून्य संयमभावको अकार्यकारी कहा है। आत्मज्ञानशून्य पंचमहाव्रतादि निरर्थक है, आत्माके कल्याणमें उसे निमित्त भी नहीं कहा है। यह चौथे गुणस्थानकी बात है। सम्यग्दर्शन कैसे हो उसकी बात है। आत्मामें सम्यग्दर्शनरूपी निर्विकल्प भाव कैसे प्रगट हो यह कहते हैं। एक समयमें मैं आत्मा ज्ञायक हूँ उसे यथार्थ लक्षमें लिया इसलिये ऐसा भान हुआ कि राग और निमित्त मैं नहीं हूँ यह सम्यग्दर्शन धर्म है। विवेकपूर्वक परीक्षा करके विचार करना यह अपना कर्तव्य है। आत्मा ज्ञायकस्वरूप है,

राग विकार है, निमित्त पर है—ऐसा भेदज्ञान करना चाहिये। विपरीत अभिप्राय रहित–युक्तिपूर्वक विचार करके निर्णय करना यह आत्मज्ञान का प्रथम कारण है। धर्म तो आत्माके आश्रयसे होता है इसलिये प्रथम तत्त्वज्ञान करना यह कार्यकारी है, और प्रथम ऐसा तत्त्वज्ञान होनेके पश्चात् ही आचरण कार्यकारी है। पुनश्च, परमात्मप्रकाश आदि शास्त्रोंमें इस प्रयोजनके हेतु जगह–जगह निरूपण किया है कि तत्त्वज्ञानके बिना व्रतादि कार्यकारी नहीं है।

यहाँ कोई ऐसा जाने कि—बाह्य तो अणुव्रत, महाव्रतादिकी साधना करता है न? किन्तु जहाँ अन्तरंग परिणाम नहीं है अथवा स्वर्गादिकी वाञ्छासे साधना करता है तो ऐसी साधनासे पापबन्ध होता है। इसलिये वे तो धर्म्य नहीं किन्तु द्रव्यलिंगी तो अन्तिम ग्रैवेयक तक जाता है? कपटरहित मन्दकषायरूप परिणाम हो तभी ग्रैवेयक स्वर्ग तक जाता है यह भी धर्म्य नहीं है। धन, तथा कपटपूर्वक पालन किया है इसलिये मोक्ष नहीं हुआ—ऐसा नहीं है। भगवानके वचनानुसार व्रतादिका पालन करता है इसलिये ग्रैवेयक तक जाता है। कपट पूर्वक करे तो पाप बंध होता है। और वह तो महान मन्दकषायी होता है, वह मन्दकषाय भी मोक्षका कारण नहीं हुआ तो फिर वर्तमानके मन्दकषाय अकषाय का साधन कैसे हो सकता? इसलिये व्यवहार सच्चा साधन नहीं है। द्रव्यलिंगी इहलोक–परलोकके भोगादिकी इच्छा रहित होते हैं, तथा मात्र धर्म बुद्धिसे मोक्षाभिलाषि होकर व्यवहारकी साधना करते हैं, इसलिये द्रव्यलिंगीमें स्थूल अन्यथापना तो नहीं है किन्तु सूक्ष्म अन्यथापना है वह सम्यग्दृष्टिको भासित होता है।

द्रव्यलिंगीका मिथ्यापना सम्यग्दृष्टि जान सकते हैं ।

द्रव्यलिंगीका मिथ्यापना केवली भगवानको ही भासित होता है ऐसा नही है दूसरे को जो सूक्ष्म मिथ्यात्व होता है छद्मस्थ सम्यक्ज्ञानी को भी खबर होती है । सामनेवाला जीव मिथ्यादृष्टि है या सम्यग्दृष्टि—उसका ज्ञान न हो ऐसा नही हो सकता । द्रव्यलिंगीके स्थूल अ यथापना नही है, सूक्ष्म है । उसे मिथ्यादृष्टि जान लेता है । आत्मा अ तमु ख होकर साधन करे तो साध्य ऐसा सम्यग्दर्शन प्रगट होता है—उसकी मिथ्यादृष्टि को खबर नही है । तत्वज्ञानीको उसकी प्ररूपणा पर से अभिप्राय ज्ञान हो जाता है । बाह्यमें आगमानुसार आचरण हो, व्यवहारका भलीभांति पालन करे, स्थूल प्ररूपणा मे भी अ यथापना न हो, तथापि अतरगमें सूक्ष्म मिथ्यात्व है,—उसे ज्ञानी जानता है किन्तु बाह्यमे कहता नही है, क्योंकि उसमें विरोध होता है । लोग बाह्यसे परीक्षा करते हैं इसलिये स्थूल मिथ्यात्व हो तो बाहर प्रगट करते हैं, किन्तु वे सूक्ष्ममिथ्यात्व नही पकड सकते, इसलिये ज्ञानी बाहर प्रगट नही करते । लोग नहीं पकड सकते इसलिय विरोध होता है । स्थूल प्ररूपणा करे कि—व्यवहार हो तो निश्चय होता है, निमित्तके कारण उपादानमे कार्य होता है, तो ज्ञानी कहते हैं कि वह मिथ्यादृष्टि है । किन्तु बाह्यमें व्यवहार अच्छा हो और मिथ्यादृष्टि हो तो ज्ञानो स्वय जानते हैं तथापि बाहर प्रगट नही करते ।

अज्ञानी मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंग धारण करे, मदकषाय करे, किन्तु अतरकी गहराईमे उसके व्यवहारका पक्ष नही छूटता ऐसे द्रव्यलिंगी धर्म साधन करते हैं वे कसे हैं ? तथा उनमे अ यथापना किसप्रकार

है ?—वह भव करते हैं। द्रव्यलिंगीको कभी एक क्षण मात्र भी निश्चय का पक्ष नहीं आया है और व्यवहारका पक्ष छूटा नहीं है। इसको यह समझने जैसा है। लोग समझते तो हैं नहीं और कहते हैं कि व्यवहार नहीं करोगे तो धर्मका लोप हो जायेगा, किन्तु वस्तुस्वरूप ऐसा नहीं है। अशुभ परिणाम न हो तब दया, दान, भक्ति, यात्रादिक शुभभाव होते हैं, किन्तु वह सम्यग्दर्शनका कारण नहीं है। जब ज्ञायक आत्माकी रुचि दृष्टि होगी तभी सम्यग्दर्शन होगा।

जातिस्मरण ज्ञान

जातिस्मरण ज्ञान की ऐसी शक्ति है कि—पूर्वकाल में हमारा इस जीव के साथ सम्बन्ध था—ऐसा जान लेता है। पूर्वकाल का शरीर वर्तमान में नहीं है और आत्मा को भी साक्षात् नहीं जानता है, तथापि वर्तमान जाति स्मरण ज्ञानकी ऐसी शक्ति है कि वह जान लेता है कि—इस आत्मा के साथ हमारा पूर्वकाल में सम्बन्ध था। यह निर्णय कहाँ से हुआ ? ज्ञान की शक्ति ही ऐसी है। ऋषभदेव-भगवान और श्रेयांसकुमार का आठ भव पूर्व सम्बन्ध था, वह वर्तमान ज्ञान में जाति स्मरण से निर्णय हुआ। ज्ञान की पर्याय में आत्मा दृष्टिगोचर नहीं होता, और पूर्वकाल का शरीर भी वर्तमान में नहीं है तो भी मिथ्यादृष्टि को भी जाति स्मरण ज्ञान होता है। वह भी जान लेता है कि तीसरे भव में इस जीव के साथ सम्बन्ध था,—ऐसी ज्ञान की स्वतन्त्र निरालम्बी शक्ति है। तब फिर सम्यग्दृष्टि ऐसा जान ले कि सामने वाला आत्मा मिथ्यादृष्टि है, उसमें क्या आश्चर्य ?—ऐसा ज्ञान का सहज सामर्थ्य है।

कोई ऐसा कहे कि—इसकाल में आत्मा को निश्चय—

जाना जा सकता, सम्यग्दृष्टि मिथ्यादृष्टि की खबर नही पड सकती, भव्य अभव्य का ज्ञान नहीं हो सकता, तो उसे ज्ञान सामर्थ्य की खबर नही है। ज्ञान स्व पर प्रकाशक है, वह आत्मा को और पर को न जाने—ऐसा नही हो सकता। अपने ज्ञान सामर्थ्य का उसे विश्वास नहीं है। लब्धि के अधिकार में बात ली है, उसमें कहा है कि—जिन्हे चौदह पूर्व का ज्ञान है ऐसे ज्ञानी जो न्याय और सुलझन निकालें वैसा ही सम्यग्दृष्टि भी निकाल सकता है—ऐसा उसका ज्ञानका सामर्थ्य है। इसलिये सम्यक् ज्ञानी को द्रव्यलिंगी का अन्यथापना भासित होता है। अब कहते हैं कि—द्रव्यलिंगी को धर्म साधन कैसा है और उसमें अन्यथापना किस प्रकार है।



५

९

द्रव्यलिंगी के धर्मसाधनमें अन्यथापना

प्रथम तो वह संसार में नरकादिके दुःखों को जानकर तथा स्वर्गादि में भी जन्म-मरणादिके दुःखों को जानकर संसार से उदास होकर मोक्षकी इच्छा करता है। अब उन दुःखोंको तो सभी जानते हैं किन्तु इन्द्र, अहमिन्द्रादि विषयानुरागसे इन्द्रियजनित सुखका उपभोग करते हैं—उसे भी दुःख जानकर, निराकुल सुख अवस्थाको पहिचानकर जो मोक्षको जानता है उसे सम्यग्दृष्टि जानना। जन्म-मरणका दुःख नहीं है, संयोगका दुःख नहीं है किन्तु दुःख तो मिथ्या अभिप्राय और आकुलतामें है। अज्ञानी की दृष्टि संयोग पर है। प्रतिकूल अथवा संयोग दुःख नहीं है इसलिये जन्म मरणका दुःख मानना वह मिथ्यात्व है। आत्मा में विपरीत श्रद्धा और आकुलता है वह दुःख और सम्यक्त्व और निराकुलता है वह सुख—इसकी उसे खबर नहीं है।

आत्मा न तो जन्म लेता है और न मरता है। पर्यायमें सुख-दुःख होते हैं। स्वर्ग के सुखकी इच्छासे और नरकादिक संयोगोंका दुःख जानकर साधन करे तो वह स्थूल मिथ्यादृष्टि है।—इसप्रकार वह उदास होता है, किंतु स्वर्गमें भी इन्द्रियजनित विषय-भोग हैं वह भी दुःखरूप है—ऐसा जानना चाहिये। अपनी पर्यायमें जिस भाव द्वारा तीर्थंकर नामकर्मका बंध होता है वह भाव भी आकुलता है। पंच महाव्रतके परिणाम भी आकुलता हैं। आत्मामें ही सुख है—

ऐसा जानकर स्वानुभवके द्वारा निराकुल परिणाम हो वह मोक्षका कारण है।—ऐसा माने वह सम्यग्दृष्टि है।

सोलह कारण भावना भाने से तीर्थंकर नामकर्मका बंध हो जायेगा—ऐसा नहीं है। जिस जीवकी पर्यायोंकी योग्यता ही उस प्रकार की होती है उसीको उस प्रकारकी सहज भावना होती है, दूसरा को नहीं होती। सम्यग्दृष्टि इन्द्रियजनित सुखको आकुलतारूप दुःख मानता है। शुभ और अशुभ वृत्तियोंका अपने में उत्थान होना ही आकुलता और दुःख है। उस सुख-दुःखके तात्त्विक स्वरूपकी अज्ञानी को खबर नहीं है, इसलिये वह बाह्य संयोगों में सुख-दुःख मानकर बाह्यसे उदासीन होता है—यह मिथ्यादृष्टि है ऐसा जानना।

× × ×

[वीर सं० २४७६ प्र० वैशाख कृष्णा ४ शुक्रवार ता० ३-४-५१]

परद्रव्यको इष्ट-अनिष्ट जानकर ग्रहण-त्याग करना वह मिथ्या बुद्धि है।

पुनश्च, *विषयसुखादिका फल नरकादि है—ऐसा जानकर* परद्रव्यको बुरा मानता है, किन्तु आत्मामें विषय-कषायके परिणाम होते हैं वह दुःख है उसे नहीं जानता। और मानता है कि नरकमें दुःख है, किंतु नरकक्षेत्रमें दुःख नहीं है, क्योंकि केवल समुद्घातके समय केवलीभगवानके आत्माके प्रदेश सातवें नरक के क्षेत्र में भी जाते हैं, तथा सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव भी वहाँ अनंत हैं उस क्षेत्रके कारण कुछ नहीं है। इसलिये क्षेत्रका दुःख किसी आत्माको नहीं है। अज्ञानी परद्रव्यको बुरा मानकर द्वेष करता है। शरीर अशुचिमय और विनाशीक है—इसप्रकार शरीरका दोष निकालता है। शरीर तो

ज्ञानका न य है, वह दु सका कारण नही ह । नित्यानदमय पविश्र स्वभावको पनुभवमें रखकर रागादि आश्रवोको अशुचि जानकर ज्ञानी अशुचि भावना भाता है वह शरीरका भी ज्ञाता रहकर भाता है, और मिथ्यादृष्टि शरीर का अनिष्ट जानकर द्वेष बुद्धि करता है — इतना दोना मे ■ तर है ।

अज्ञानी मानता है कि शरीर मे से सार निकाल लना चाहिए । शरीरका पोषण न करके, उसे क्षीण बनाकर सुखाकर फेंक देना चाहिये, उसे शरीर के प्रति द्वेष बुद्धि है । कुटम्बीजन आदि स्वार्थके सगे हैं—ऐसा मानकर परद्रव्यको दोष देता है और उसका त्याग करता है, किन्तु आत्मामे जो रागद्वेष होते हैं उनका त्याग नही करता । कचन, कामिनी और कुटम्बका त्याग करो तो धम लाभ होगा—एसा वह मानता है । व्रतादिका फल स्वग–मोक्ष है इस समय व्रत पालन करेंगे तो स्वगकी प्राप्ति होगी और वहांसे भगवानके पास जायेंगे इसलिये वहां धम प्राप्त करेंगे—यह सब मिथ्या बुद्धि है । व्यवहार तपश्चरणादि पविश्र फल के देनेवाले हैं, उनके द्वारा शरीरका पोषण करना योग्य है—ऐसा मानता है ।

और देव गुरु शास्त्रादि हितकारी हैं—इत्यादि परद्रव्योंका गुण विचार कर उसीको अगीकार करता है किन्तु स्व आत्मद्रव्य हितकारी है उसकी उसे खबर नहीं है । परद्रव्य हितकारी या अहितकारी है ही नही । शुद्ध उपादान शक्ति अतर मे ही भरी है उसका आश्रय करना हितकारी है । आत्माकी पर्यायमें शुभराग होता है तब निमित्तका– देव, गुरु, शास्त्रका आदर आये विना नही रहता, किन्तु वह अपनी निबलतासे आया है परद्रव्यके कारण नही आया । भगवानको देख-कर प्रमोदभाव आता है वह भगवानके कारण नही आया । उन्हे

देखने से प्रमादभाव आता हो तो जो भी देखें उन सबको आना चाहिये, किंतु ऐसा नहीं होता, इसलिये जो परद्रव्यको हितकारी जानकर राग करता है वह मिथ्यादृष्टि है। परद्रव्यके गुण और दोष विचारकर अज्ञानी राग द्वेष करता है इसलिये उसका सारा आचरण मिथ्या है। और वह शुभरागको करने योग्य मानता है, हितरूप मानता है।

वर्तमानमें यहां भावलिंगी मुनि दिखाई नहीं देते। कदाचित् कोई देव महाविदेह क्षेत्रसे किन्हीं मुनिको लाकर यहां रख दे और यहीं उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो जाय तो उन्हें देखकर ज्ञानीको प्रमोद आये बिना नहीं रहेगा किंतु वह प्रमोदभाव उन मुनि—केवलीको देखने से अथवा केवलीके कारण नहीं हुआ है। परद्रव्यको इष्ट मानकर वह शुभभाव नहीं हुआ है। केवली तो ज्ञानके ज्ञेय हैं, वे हितकारी हैं—ऐसा ज्ञानी नहीं मानता। और कोई अनिष्ट शब्द कहे तो कदाचित् ज्ञानीको खेद होता है, किंतु वह खेद शब्दों के कारण नहीं हुआ है। अज्ञानी परद्रव्यको बुरा जानता है और उसे छोड़ना चाहता है। वास्तवमें गाली अनिष्ट नहीं है और भगवान इष्ट नहीं हैं—इस बातकी अज्ञानीको खबर नहीं है।

इस भांति अज्ञानी अनेकप्रकारसे किन्हीं परद्रव्यों को बुरा जानकर अनिष्टरूप श्रद्धान करता है और किन्हीं परद्रव्यों को भला जानकर इष्टरूप श्रद्धान करता है।

शरीरमें रोग आने से आर्तध्यान होता है-ऐसा नहीं है। शरीर स्वस्थ हो तो धर्म होता है—ऐसा भी नहीं है। शरीर धर्मका साधन

नही है। आत्मामें शुभभाव होता है वह भी धर्मका साधन नही है तब फिर शरीर साधन हो ऐसा कभी नही होता। श्री प्रवचनसार में आता है कि—मुनियो को शरीर नही छोडना चाहिये, असमय म शरीर-त्याग करने से असयमी हो जाते हैं।—इसका यह अर्थ नही है कि आत्मा शरीरको छोड सकता है किन्तु वहाँ राग और वीत राग भावका विवेक कराने के लिये निमित्तसे कथन किया है।

× × ×

कोई परद्रव्य भले-बुरे हैं ही नहीं, तथापि मानना वह मिथ्याबुद्धि है।

प्रश्न —सम्यग्दृष्टि भी परद्रव्यों को बुरा जानकर उनका त्याग करता है।

उत्तर —सम्यग्दृष्टि परद्रव्योंको बुरा नही जानता किन्तु अपने रागभावको बुरा जानता है। स्वय सरागभावको छोडता है इसलिये उसके कारणो का भी त्याग होता है। वस्तुका विचार करने से कोई परद्रव्य तो भले बुरे हैं ही नही। परद्रव्य आत्माका एकरूप ज्ञेय है। एकरूपमें अनेक रूप कल्पना करके एक द्रव्यको इष्ट और दूसरे को अनिष्ट मानना वह मिथ्याबुद्धि है।

निमित्त के कारण भाव नहीं बिगडता।

प्रश्न —परद्रव्य निमित्तमात्र तो है?

उत्तर —पर द्रव्य बलात्कार से तो कुछ नही बिगाडता किन्तु अपने भावो को बिगाडे तब वह भी बाह्य निमित्त है। पर द्रव्य से परिणाम बिगडें तो द्रव्य की परिणति स्वतन्त्र नही रहती। स्वय परि

णाम बिगाडे तो पर द्रव्य को निमित्त कहा जाता है। और निमित्त के बिना भी भाव तो बिगडते हैं, इसलिये वह नियमरूप निमित्त भी नही है। निमित्त के कारण भाव नही बिगडते। श्री समयसार में आता है कि—अरतिभाव से मदिरा पिये तो पागलपन नही आता, किन्तु आत्मा स्वय भाव बिगाडे तो पर द्रव्य का निमित्त कहा जाता है।

यहाँ तीन बात कही हैं—

१ परद्रव्य बलात्कार से भाव नही बिगाडता।

२ स्वय भाव बिगाडे तो पर द्रव्य को निमित्त कहा जाता है।

३ निमित्त के बिना भी आत्मा के भाव बिगडते हैं, इसलिये नियमरूप निमित्त भी नही है।

पंडितजी ने अपने घर की बात नही कही है। पहले कहा है कि मोती तो है, उसे जिसप्रकार माला में लगाते हैं, उसी प्रकार हम शास्त्र में कही हुई बात को लगाते हैं, अपने घर की बात नही करते।

निमित्त के बिना भी भाव होते हैं। देखो, किन्ही तीर्थंकर का जीव तीसरे नरक मे से निकलता है तब क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि है और मनुष्य भव में उन्हें क्षायिक सम्यक्त्व होता है तब कोई निमित्त नहीं होता। निमित्त के बिना क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है। पुनश्च, कोई जीव स्वय श्रुतकेवली होता है तो उसे अपने कारण क्षायिक-सम्यग्दर्शन होता है। किसी केवली या श्रुतकेवली को निमित्त होता भी नही है। इसलिये निमित्त के बिना भी भाव बिगडते या सुधरते हैं, इसलिये नियमरूप निमित्त भी नही है। पर द्रव्य का गुण दोष देखना वह मिथ्याभाव है। मिथ्याभाव और रागद्वेष बुरे हैं कोई पर-

द्रव्य बुरा नहीं है—ऐसो समझ मिथ्यादृष्टि द्रव्य लिंगी को नहीं है।

सच्ची उदासीनता।

द्रव्यलिंगी मिथ्यादृष्टि तो पर द्रव्य के दोष देखकर उस पर द्वेष रूप उदासीनता करता है उसके सच्ची उदासीनता नहीं होती। पर द्रव्य दोष का कारण नहीं है। पूजा में भी आता है कि—"कम बिचारे कौन भूल मेरी अधिकाई," तथापि उसका विचार भी नहीं करता। अज्ञानी की उदासीनता में अकेला द्वेष ही होता है। एक पदार्थ की पर्याय से दूसरे पदार्थ की पर्याय अकिंचित्कर है, उसकी उसे खबर नहीं है, इसलिये परद्रव्य की पर्याय को बुरा जानकर द्वेष पूर्वक उदासीन भाव करता है। किन्तु परद्रव्य के गुण दोषों का भासित न होना ही सच्ची उदासीनता है अर्थात् परद्रव्य गुण का या दोष का कारण है—ऐसा ज्ञानी नहीं मानता। अपने को स्व रूप और पर को पररूप जानना ही सच्ची उदासीनता है।

× × ×

[वीर सं० २४७६ प्र० वैशाख कृष्णा ६ शनिवार ता० ४-४-५३]

परवस्तु अपना परिणाम बिगाड़ने में समर्थ नहीं है।

कोई परवस्तु आत्मा के परिणाम बिगाड़ने में समर्थ नहीं है। भगवान के कारण गुण नहीं होता। अथ कर्मी आहार आया इसलिये परिणाम बिगड़े—ऐसा नहीं है। आत्मा स्वयं परिणाम बिगाड़े तो उसे निमित्त कहा जाता है और स्वयं परिणाम सुधारे तो भगवान को निमित्त कहा जाता है। शत्रु आया इसलिये द्वेष हुआ—ऐसा नहीं है। शरीर में बुखार आया इसलिये दुःख हुआ—ऐसा नहीं है। बुखार

के कारण आर्तध्यान हुआ—ऐसा मानना वह मिथ्यात्व है । शरीरम निरोगता हो तो ध्यान कर सकूं, गिरि गुफा में अच्छा ध्यान होता है—यह मा यता झूठी है । उसने पर पदाथ को भला बुरा माना है। आत्मा का अनुभव करना वह गिरि गुफा है । परक्षेत्र आत्मा को गुणकारी नही है । परद्रव्य के कारण आत्मा में शांति रहती है—ऐसा मानना मूढता है । अंतरआत्मा मे निमग्न हो जाना वह ध्यान है, बाह्य कारणो ■ ध्यान या शांति नही है । सोनगढ़ क्षेत्र के वाता वरण से आत्मा में शांति होती है—यह बात भी मिथ्या है । ज्ञानी उसे भी ज्ञेयरूप से जानता है किंतु उससे लाभ हानि नही मानता । पर के साथ मुझे कोई प्रयोजन नही है, मैं तो ज्ञायक हूँ और पर-पदाथ ज्ञेय हैं—ऐसा वह मानता है ।

निर्दोष आहार जल का मिलना या न मिलना वह सब ज्ञाता का ज्ञेय है,—इसप्रकार ज्ञानी साक्षीभूत रहते हैं । परस आत्मा के प्रयोजन की सिद्धि नही है । आत्मा का प्रयोजन तो आ मा से सिद्ध होता है,—ऐसी उदासीनता अज्ञानी के नहीं होती ज्ञानी के ही होती है । मात्र बाह्य स उदासीन आश्रम मे बठ जाना वह कहीं सच्ची उदासीनता नही है । तीनलोकके नाथ सवज्ञ भगवान भी मेरे ज्ञान में ज्ञेय हैं और कुटुम्बादि हो तो वे भी मेरे ज्ञेय हैं । परके साथ ज्ञेयज्ञायक सम्बन्ध है किंतु कर्ता कम सम्बन्ध नहीं है—ऐसा ज्ञानी जानते हैं ।

पुनश्च, द्रव्यलिंगी उदासीन होकर शास्त्र म कह हुए अणुव्रत, महाव्रतरूप व्यवहार चारित्र को अगीकार करता है । एकदेश अथवा सब देश हिंसादि पापो को छोडता है और उनके बदले अहिंसादि

पुण्यरूप कार्यों में वतता है। मैं पर की हिंसा कर सकता हूँ या दया पाल सकता हूँ—यह मा यता ही मिथ्यात्व है। बचाने का भाव हुआ इसलिये जीव बच गया—ऐसा नही है। आत्मा की इच्छा के कारण अपने शरीर की क्रिया नही होती, तब फिर उसके कारण परजीव बच जाये—ऐसा तीन काल म नही होता। शरीर मे शरीरके कारण क्रमबद्ध क्रिया होती है और जीव बचने की क्रिया भी क्रमबद्ध उसके अपने कारण होना थी सो हुई है, किन्तु मेरे कारण वह क्रिया हुई है—ऐसा मानकर अज्ञानी अहबुद्धि करता है, वह मिथ्या मान्यता है।

मुनि के शरीर के निमित्त से कदाचित् पर के नीचे कोई जीव मर जाये किन्तु उनके प्रमाद नही है इसलिये दोष नहीं लगता। शरीर क निमित्त से परजीव मर या बचे—यह आत्मा के अधिकार की बात नही है। मैंने पीछी ऊँची की और उस क्रिया से जीव बच गया—यह मान्यता विष्णु को जगत्कर्ता माननेवाले जसी है। मिथ्यादृष्टि को खबर नही है कि हाथ के कारण पीछी ऊँची नही होती, और पीछी ऊची हुई इसलिये जीव बच गया ऐसा भी नहा है। हाथ की और पीछी की क्रिया स्वय अपने कारण हुई है, तथापि अज्ञानी जडकी क्रिया का अभिमान करता है।

श्री समयसारमें भी यही कहा है कि—

ये तु कर्तारमात्मान पश्यन्ति तमसावृता ।
सामा यजनवत्तेषा न मोक्षोऽपि मुमुक्षताम् ॥१९९॥

अथ—जो जीव मिथ्या अधकार से व्याप्त होकर अपने को पर्यायाश्रित क्रिया का कर्ता मानता है वह मोक्षाभिलाषी होने पर भी,

जिसप्रकार अन्यमती सामान्य मनुष्यों का मोक्ष नहीं होता उसी प्रकार उसका भी मोक्ष नहीं होता, क्योंकि कर्तापने की अपेक्षा दोनों समान हैं। जगत में जो पदार्थ हैं उनका कोई कर्ता नहीं है, और जो पदार्थ नहीं हैं उनका कर्ता भी नहीं है। जो पदार्थ हैं उनकी परिणाम शक्ति से ही हर समय नयी नयी पर्यायें होती है, उसका कर्ता दूसरा कोई भी पदार्थ नहीं है। दूसरा पदार्थ उसका कर्ता हो तो उस पदार्थ की अस्ति नहीं रहती, इसलिये जो कोई शरीरादि पर द्रव्य का कर्ता होता है वह जगत्कर्ता ईश्वर की मान्यतावाले की भांति हुआ। मुनि या श्रावक नाम धारण करके माने कि मेरी इच्छा से हाथ चला, तो अन्यमती की भांति उसका भी मोक्ष नहीं होता।

किसी परद्रव्यकी पर्यायका मैं कर्ता हूँ। सब पदार्थोंकी क्रिया उनके अपने कारण स्वतन्त्ररूपसे होती है,—ऐसा मानें तो सम्यक् नियतवाद हो और आत्मामें सम्यग्दर्शन हो।—यह सार है, किन्तु अज्ञानी बाह्य क्रियामें मग्न है, वह परमें अहंबुद्धि करता है। स्वयं श्रावक धर्म अथवा मुनिधर्मकी क्रियामें निरंतर मन–वचन–कायाकी प्रवृत्ति रखता है। उस क्रियामें भंग न हो तदनुसार वर्तता है, किन्तु ऐसे भाव तो सराग हैं और चारित्र तो वीतरागभावरूप है। इसलिये ऐसे साधनको मोक्षमार्ग मानना वह मिथ्याबुद्धि है।

महाव्रतादि प्रशस्तराग चारित्र नहीं है किन्तु चारित्र में दोष है।

प्रश्न—तब फिर सराग और वीतराग भेद से दो प्रकार से चारित्र कहा है वह कैसे?

उत्तर—जैसे–चावल दो प्रकार के हैं, एक तो छिलका सहित

और दूसरे छिलका रहित। अब, वहाँ ऐसा जानना चाहिये कि जो छिलका है वह चावलका स्वरूप नहीं है, किन्तु चावलमें दोष है। कोई चतुर व्यक्ति छिलके सहित चावलका संग्रह करता था, उसे देखकर कोई भोला आदमी छिलका को चावल मानकर संग्रह करे तो निरर्थक खेद खिन्न होगा। उसीप्रकार चारित्र दो प्रकार के हैं– एक सराग और दूसरा वीतराग। वहाँ ऐसा समझना चाहिये कि जो महाव्रतादि शुभराग है वह चारित्रका स्वरूप नहीं है, किन्तु चारित्रमें दोष है। पंचमहाव्रत चारित्र नहीं है, आस्रव है जो बंधके कारण है। और बाह्यसे नग्नदशा वह चारित्र नहीं है। अज्ञानी लँगोटीका त्याग करके छट्ठा गुणस्थान हुआ मानता है, किन्तु ऐसा नहीं है आत्माका चारित्र परमें तो नहीं होता किन्तु नग्नदशाका विकल्प भी चारित्र नहीं है वह तो चारित्रमें दोष है। अब, कोई ज्ञानी प्रशस्त रागसहित चारित्र धारण करता है, उसे देखकर कोई अज्ञानी प्रशस्तरागको ही चारित्र मानकर संग्रह करे तो वह निरर्थक खेद खिन्न ही होगा। दयादिको व्रत धारण करता तो वह नहीं चारित्र नहीं है। ज्ञानी तो जितना वीतरागभाव है उसीको चारित्र मानते हैं, अज्ञानी व्रतको चारित्र मानते हैं किन्तु वह सच्चा चारित्र नहीं है।

[वीर सं० २४७६ प्र० वैशाख कृष्णा ६ रविवार ता० ९-४-५०]

बाह्य त्यागीका वेश और क्रिया देखकर उसे चारित्र मान लेता है वह अज्ञानी है, कितने ही जीव तत्त्वज्ञानके बिना बाह्यसे आचरण करते हैं, किन्तु उसका वह सारा आचरण मिथ्या है, उससे कोई लाभ नहीं है। ज्ञानीके भी मन्दकषायरूप आचरण होता है,

मुनिके महाव्रतादि होते हैं, उन्हें देखकर अज्ञानी मन्दकषायरूप आचरणमें ही धर्म मानकर उनकी भाँति आचरण करता है किन्तु वह मिथ्या है, उससे उसे शान्ति प्राप्त नहीं होती।

अब प्रश्न करते हैं कि—पापक्रिया करने से तो तीव्र कषाय होती है और शुभक्रियामें मन्दकषाय होती है, इसलिये जितना राग कम हुआ उतना तो चारित्र कहो! और इसप्रकार उसके सराग चारित्र सम्भवित हो।

तत्त्वज्ञानपूर्वक व्रतादि को सरागचारित्र कहा जाता है।

समाधान—यदि तत्त्वज्ञानपूर्वक तदनुसार हो, तब तो जैसा कहते हो वैसा ही है, किन्तु जिसे तत्त्वज्ञान हुआ नहीं है, उसे मैं पर जीवोंकी दया-रक्षण या नाश नहीं कर सकता, मैं परसे भिन्न हूँ, शुभराग भी हितकर नहीं है, राग मेरा स्वभाव नहीं है,—उसका यथावत् खबर नहीं है, इसलिये उसके चारित्र नहीं होता। आत्मा शुद्ध चिदानन्द है उसकी जिसे स्वानुभूति नहीं है—ऐसे जीवको तत्त्वज्ञान नहीं है। इसलिये पञ्चमहाव्रतादि मन्दकषायरूप आचरण होने पर भी उसे चारित्र नहीं है।

साततत्त्वोंका भावभासन होना वह सम्यग्दर्शन है प्रथम मिथ्या अभिप्राय रहित निर्विकल्प स्वसंवेदन सहित साततत्त्वोंके भावका भासन होना चाहिये। मन्दकषायरूप शुभराग है वह भी विष है, क्योंकि वह आत्माके अमृतमय स्वादको लूटनेवाला है। आत्मा सहज आनन्द स्वरूप है। आनन्दसे विपरीत अवस्था विषरूप है—ऐसा भान जिसे वर्तता है वसे जीवको अणुव्रत महाव्रतादिका शुभभाव हो उसे

व्यवहारसे चारित्र कहा जाता है। स्वभावके आश्रयसे राग कम हुआ है उतना तो चारित्र है और जो राग रहा है वह दोष है—ऐसा ज्ञानी जानता है। अज्ञानी साततत्त्वोंके स्वरूपको नहीं जानता मात्र सात तत्त्वोंकी धारणा करता है, वह तोतेकी भाँति मुखपाठी है। तोता राम–राम कहता है किन्तु उसे खबर नहीं है कि राम कौन है। आत्मामें रमण करे वह राम है। ज्ञानीको साततत्त्वोंका भावभासन है, सातों तत्त्व भिन्न–भिन्न स्वतन्त्र हैं, स्व सन्मुख ज्ञानके बलसे साततत्त्वोंका निर्णय किया है वह सम्यग्दर्शन है। जो तत्त्वज्ञानके बिना आचरण करता है उसे मन्दकषायसे मुझे लाभ होता है—यह वासना नहीं छूटती। रागभाव करने का अभिप्राय अज्ञानीके नहीं मिटता। व्यवहारमें लगे रहा तो निश्चय प्रगट हो जायेगा—ऐसी वासना उसके अन्तरमें रहती है। वह अब कहते हैं।



१०

द्रव्यलिंगीके अभिप्रायका अयथार्थपना

द्रव्यलिंगी मुनि राज्यादिक छोडकर निग्रंथ होते हैं। हजारों रानियों को त्यागकर त्यागी बनते हैं। अट्ठाईस मूलगुणोंका पालन करते हैं। अपने लिये आहारादि तयार किये हो तो नहीं लेते, उग्र तपश्चरण करते हैं। आजकल तो आहारादि उन्हीं के लिये बनते हैं और वे जान बूझकर लेते हैं इसलिये उनके द्रव्यलिंगका भी ठिकाना नहीं है। देखो, यहाँ किसी व्यक्ति विशेष की बात नहीं है। शास्त्र कहते हैं वैसा व्यवहार भी न हो और माने कि हम व्यवहार चारित्र का पालन करते हैं, तो वह स्थूल मिथ्यादृष्टि है। यहाँ तो भलीभांति अट्ठाईस मूल गुणोंका पालन करता है उसकी बात है किन्तु उस *मंदकषायसे आत्माका कल्याण हो जायगा*—ऐसी गहरी वासना उसके होती है, वह अभिप्राय नहीं छूटता, इसलिये वह मिथ्या दृष्टि है।

तत्त्वज्ञान के बिना द्रव्यलिंगी कषाय का पोषण करता है।

जैनमार्ग में प्रतिज्ञा न ले उसका दण्ड नहीं है, किन्तु प्रतिज्ञा लेकर भंग करना तो महा पाप है। द्रव्यलिंगी छह छह महीने के उपवास करता है, क्षुधादि बाईस परीषह सहन करता है, शरीरके टुकडे टुकडे करने पर भी कषाय नहीं करता, किंतु कषाय की मंदता शांति का कारण है—ऐसी वासना उसके नहीं छूटती। परीषह के समय मानता है कि मेरे पाप का उदय है, इसलिये यह प्रतिकूल संयोग

मिले हैं—इसप्रकार कोमलता करता है, किन्तु उस कोमलता में ही धम मानता है, व्रतभग के अनेक कारण आने पर भी दृढ रहता है, दूसरे देवलोक की इन्द्राणी चलित करने आये तथापि ब्रह्मचय से चलित नही होता, किसीपर क्रोध नहीं करता, मेरे कम के उदय से यह सब हुआ है—ऐसा मानकर क्रोध नही करता, मदकषाय का अभिमान नही करता कपट मे साधन नही करता, तथा उन साधनो द्वारा इहलोक परलोक के विषय सुखकी इच्छा नही करता,—ऐसी द्रव्यलिगी की दशा होती है। यदि ऐसी दशा न हुई हो तो नववें-ग्रवयक तक कमे पहुँच सकता है ? तथापि उसे शास्त्र मे मिथ्यादृष्टि—असयमी ही कहा है, क्योंकि उसे तत्त्व का सच्चा श्रद्धान ही नही है। तत्त्वज्ञान पूवक जो श्रद्धान होना चाहिये वह उसके नही है। सात तत्त्वो को भि न भ जानकर एक का अश दूसरे मे मिलाता है। पहले जसा वणन किया है वसा तत्त्व का श्रद्धान–ज्ञान उसे हुआ है और उसी अभिप्राय से यह सब साधन करता है। अब, उन साधना के अभिप्राय की परम्परा का विचार करें तो उस कषायों का अभिप्राय आता है। ज्ञानीके परद्रव्य की क्रिया करने या न करने की बात तो है ही नही, कि तु उसके अपनी पर्याय में अशुभ राग हटाऊँ और शुभ राग को उत्पन्न करूँ ऐसा भी अभिप्राय नही है। पर तु आत्मा स्वस मुख ज्ञातारूप स रहे यही अभिप्राय है।—ऐस निणय के बिना द्रव्यलिगी जो भी साधन करता है उनम मात्र कषाय का ही पोषण है।

द्रव्यलिगी मुनि की बाह्य क्रिया ऐसी होती है कि—जगत को तो ऐसा लगे कि यह तो बडे महात्मा हैं तारनहार हैं, भारतवष इस

प्रकार त्याग के नाम पर ठगा गया है, किन्तु यथार्थ तत्त्वज्ञान क्या वस्तु है उसकी उसे खबर नहीं है। तत्त्वार्थ श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है, इसलिये स्थान स्थान पर ऐसा कहा है कि द्रव्यलिंगी को तत्त्व का ज्ञान नहीं है।

सर्वज्ञ के मार्ग के साथ किसी भी धर्म का समन्वय नहीं हो सकता। जैन अर्थात् स्वतंत्र वस्तु स्वभाव का कथन करने वाला।

द्रव्यलिंगी पाप के कारण को हेय जानकर छोड़ता है, किन्तु पुण्य के कारण प्रशस्त राग को उपादेय मानता है तथा उसकी वृद्धि का उपाय करता है। अब, प्रशस्त राग भी कषाय ही है। जिसने कषाय का उपादेय माना उसे कषाय करने का ही श्रद्धान हुआ। शुभ राग की वृद्धि करने मे ही वह रुक जाता है। यहाँ तो जिसका व्यवहार सच्चा है, किंतु उससे धर्म मानता है—उस सूक्ष्म मिथ्यादृष्टि की बात कही है। जो जीव अन्य मत के साथ जैनमत की तुलना करते हैं वे तो व्यवहार से भी जैन धर्म को नहीं मानते। वह तो रेशमी वस्त्र के साथ टाट की तुलना करने जैसा है, सूझने की साथ अंधे की होड करने जैसा है। सर्वज्ञ के मार्ग के साथ किसी भी धर्म का समन्वय है ही नहीं, जैन तो स्वतन्त्र वस्तु स्वभाव का कथन करनेवाला है। "एक होय त्रणकालमां परमारथनो पंथ।" द्रव्यलिंगी का अभिप्राय अप्रशस्त द्रव्यो से द्वेष करके प्रशस्त द्रव्यो में राग करने का है, किन्तु परद्रव्यो में साम्यभावरूप अभिप्राय उसके नहीं होता।

ज्ञानी किसी भी पर पदार्थ को इष्ट अनिष्ट नहीं मानता। चक्र

वर्ती वंदना करे किन्तु अंतर में मान नहीं होता —ऐसे तत्त्वज्ञानपूर्वक ज्ञानी के माध्यस्थभाव होता है ।

श्रीमद् राजचन्द्र ने "अपूर्व अवसर" में कहा है कि,—

बहु उपसर्ग कर्ता प्रत्ये पण क्रोध नहि,
वंदे चक्री तथापि न मळे मान जो
देह जाय पण माया थाय न रोममां,
लोभ नहीं छो प्रबल सिद्धि निदान जो ।

अपूर्व अवसर..

प्रश्न—तो क्या सम्यग्दृष्टि भी प्रशस्त रागका उपाय रखते हैं ?

उत्तर—जैसे—किसी को बहुत बड़ा दण्ड होता था, वह अब कमकर थोड़ा दण्ड देने का उपाय रखता है, तथा थोड़ा दण्ड देकर हर्षित होता है, किन्तु श्रद्धानमें तो दण्ड देने को अनिष्ट ही मानता है । इसीप्रकार सम्यग्दृष्टि भी मन्दकषाय का उपाय रखता है, वह उपदेश का कथन है, सिद्धान्त ऐसा नहीं है । जिसके स्वभावदृष्टि दृढ़ है, उसके मन्दकषाय सहज ही होती है । सम्यग्दृष्टिके पापरूप अधिक कषाय होनी थी, वह अब पुण्यरूप अल्पकषाय करने का उपाय रखता है, तथा अल्प कषाय होने पर हर्षित भी होता है, किन्तु श्रद्धानमें तो कषायको हेयरूपी ही मानता है ।

शुभभाव ज्ञानी को दण्ड समान है, मिथ्यादृष्टि को व्यापार समान है ।

यहाँ तो, जो अट्ठाईस मूलगुणों का यथायतथा पालन करे उसे द्रव्यलिंगी कहा है । वस्त्र पात्र रखे और मुनिपना मनाये वह तो द्रव्यलिंगी नहीं है । नग्न होकर भी अट्ठाईस मूलगुण यथार्थ न पाले, तो वह भी द्रव्यलिंगी नहीं है ।

द्रव्यलिंगी तो व्यवहार का अच्छीतरह पालन करता है, उसे मोक्ष का कारण जानकर प्रशस्त राग का उपाय रखता है और उपाय बन जाने पर हर्ष मानता है,—इसप्रकार प्रशस्त राग के उपाय में अथवा उसके हर्ष में समानता होने पर भी सम्यग्दृष्टि को तो वह दंड समान है और मिथ्यादृष्टि को व्यापार समान श्रद्धान है। देखो, यहाँ पण्डितजी ने घर की बात नहीं कही है, किन्तु यथार्थ बात कही है। किसी व्यक्ति के प्रति द्वेष बुद्धि नहीं है। पापीके प्रति द्वेष नहीं होता, किन्तु पाप कैसा होता है उसका वर्णन ज्ञानी करते हैं। सम्यग्दृष्टि तो अट्ठाईस मूलगुण के राग को दण्ड मानता है, अज्ञानी उसे लाभ मानता है, इसलिये अभिप्राय में पूर्व–पश्चिम जितना अन्तर है।

पुनश्च, परीषह तपश्चरणादि के निमित्त से दुःख होता है–उसका इलाज तो ज्ञानानन्दमें लीनता है उसे द्रव्यलिंगी करता नहीं है। दुःख सहना तो कषाय ही है। जहाँ वीतरागता होती है वहाँ तो जिसप्रकार अन्य ज्ञेय को जानते हैं उसी प्रकार दुःख के कारण ज्ञेय को भी जानते हैं,—ऐसी दशा तो उसके हुई नहीं है। ज्ञानी के परीषह का संयोग आया देखकर वे प्रतिकूल संयोग के कारण दुःखी हैं—ऐसा जो मानता है वह मिथ्यादृष्टि है। मुनि परीषह के समय भी अंतर शांति में रमण करते हैं, मन से पृथक होकर अंतरंग आनंद में लीन हो जाते हैं—ऐसी मुनि दशा होती है।

मिथ्यादृष्टि को ऐसी अंतशांति–निर्विकल्प दशा कभी नहीं होती। इष्ट अनिष्ट सामग्री पर जिसकी दृष्टि है, उसके तो आर्तध्यान होता है, इसलिये उसके मंद कषाय भी नहीं होती। वीतरागभाव हो तो वह जिसप्रकार अन्य ज्ञेयों को जानता है उसीप्रकार परीषह का

भी ज्ञाता रहे किंतु ऐसी दशा मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी के नही होती।

अज्ञानी मानता है कि "मैंने परवशता पूर्वक नरकादि गति मे अनेक दुःख सहन किये हैं, यह परीषहादि का दुःख तो अल्प है, उसे यदि स्ववशरूप से सहन किया जाये तो स्वर्ग मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है। परीषह सहन न करूँ और विषय सुख भोगूँ तो महान दुःख होगा।" जिसने परीषहमें दुःख माना है उसने तो परद्रव्य को दुःख का कारण माना है, इसलिये उसे परीषह में अनिष्ट बुद्धि हुए बिना नही रहती। परीषह तो ज्ञान का ज्ञेय है, वह इष्ट-अनिष्ट नही है, तथापि उसमें इष्ट अनिष्ट बुद्धि करना वह मिथ्यात्व नामका कषाय ही है।

[वीर सं० २४७६ प्र० आषाढ कृष्णा ७ सोमवार ता० ६-४-५१]

द्रव्यलिंगी वास्तव में कर्म और आत्मा को भिन्न नहीं मानता।

पुनश्च, द्रव्यलिंगी को ऐसा विचार होता है कि—जो कर्म बांधे हैं वे भोगे बिना नही छूटते। वह कर्म और आत्मा को भिन्न नहीं मानता। कर्म का फल आत्मा मे मानता है और आत्मा कर्मों को भोगता है—ऐसा मानता है। कर्मों को भोगे बिना छुटकारा नही है इसलिये मुझे सहन करना चाहिये—ऐसे विचार से कर्म फल चेतना रूप वर्तता है। श्रेणिक राजा क्षायिक सम्यग्दृष्टि थे, उनके नरक में जाने का भाव नही था, तथापि कर्मों के कारण जाना पड़ा—ऐसा अज्ञानी जीव मानता है। श्रेणिक राजा वास्तव में तो अपनी योग्यता के कारण नरक में गये हैं, किन्तु आयु कर्म के कारण नहीं गये।

आत्मा कर्मों को भोगता है—ऐसा मानकर अज्ञानी हुए शोकमे एका कार होता है। आत्मा ज्ञायक चैतन्य मूर्ति है, उसमें शांति भरी है,—उसकी जिसे दृष्टि नही है वह कर्म फल चेतनारूप परिणमित होता है।

पुनश्च, वह राज्यादिक विषय सामग्रीका त्याग करता है। अच्छे मिष्टान्नादि का भी त्याग करता है, किन्तु वह तो जिसप्रकार कोई दाहज्वर वाला वायु होने के भय से शीतल वस्तु के सेवन का त्याग करता है उसीप्रकार हुआ, किन्तु जबतक उसे शीतल वस्तुका सेवन रुचता है तबतक उसके दाह का अभाव नही कहते। उसीप्रकार राग सहित जीव नरकादि के भय से विषयसेवनका त्याग करता है, किन्तु जब तक उसे विषय सेवन की रुचि है, तबतक उसके रागका अभाव नही कहते। अतर मे विषय की प्रीति उसके नही छूटती। आत्मा के आनन्द की रुचि हो तो विषय की रुचि छूटे बिना न रहे।

बाह्य मे त्याग किया है किन्तु अतरग में विषय की मिठास नही छूटी है, इसलिये उसके राग का अभाव नही हुआ है। जसे—अमृत के आस्वादी देव को अन्य भोजन स्वय नही रुचता, उसीप्रकार आत्मा के आस्वादी ज्ञानी को विषयसेवन की रुचि नही होती। स्वर्गके देव मिठाई आदि का भोजन नही करते, उसीप्रकार धर्मी को आत्मा के आनन्द का रस होता है, इसलिये वास्तव में उसे विषय सेवन की रुचि नहीं होती।—इसप्रकार फलादि की अपेक्षा से परीषह सहने आदि को वह सुख का कारण जानता है तथा विषय सेवनादि को दुःख का कारण समझता है, किन्तु पर द्रव्य सुख दुःख का कारण नही है, ज्ञाता का ज्ञेय है—ऐसा वह नही मानता। विषय सेवन

छोड़ने से दुःख छूटता है—ऐसा नहीं है। द्रव्यलिंगी राज्यादि छोड़ देता है किंतु उसके दुःख का अभाव नहीं होता, क्योंकि ज्ञायक मूर्ति आत्मा पर से और राग से भिन्न अमृतमय है, उसकी उसे रुचि नहीं है, इसलिये उसके कषायरूपी दुःख का अभाव नहीं हुआ है।

प्रत्येक पदार्थ की पर्याय क्रमबद्ध होती है—ऐसा जो नहीं मानता वह जैन नहीं है, क्योंकि उसने सर्वज्ञ को भी नहीं माना है। पर द्रव्य की पर्याय बदली नहीं जा सकती—ऐसी बुद्धि जब तक न हो तब तक पर की रुचि नहीं छूटती। अज्ञानी वर्तमान में परीषह सहन आदि से दुःख मानता है तथा विषय सेवनादि से सुख मानता है और उसके फल में दुःख मानता है। पुनश्च परीषह सहन में दुःख और उसके फल में सुख मानता है तो जिससे सुख दुःख माने उसमें इष्ट-अनिष्ट बुद्धि से राग द्वेष रूप अभिप्राय का अभाव नहीं होता।

द्रव्यलिंगी साधु असंयत सम्यग्दृष्टि तथा देशसंयत की अपेक्षा हीन है।

योगीन्द्र देव कहते हैं कि अज्ञानी चार गतियों में अपने कारण दुःखी हो रहा है। अज्ञानी को पर द्रव्य में इष्ट-अनिष्ट बुद्धि है इस लिये उसके चारित्र नहीं होता। द्रव्यलिंगी विषय सेवन छोड़कर तप श्चरणादि करता है तथापि वह असंयमी है। सिद्धांत में असंयत अर्थात् अविरति सम्यग्दृष्टि और देशसंयत अर्थात् पाँचवें गुणस्थान वाले श्रावक की अपेक्षा द्रव्यलिंगी मुनि को हीन कहा है, क्योंकि उसके पहला गुणस्थान है। द्रव्यलिंगी दिगम्बर साधु नव कोटि से ब्रह्मचर्य का पालन करे, मंद कषाय करे, किन्तु आत्मा का यथार्थ

भाव नही है, इसलिये उसे चौथे-पाँचवें गुणस्थानवाले ज्ञानी की अपेक्षा हीन कहा है।

प्रश्न—असयत-देशसयत सम्यग्दृष्टि के कषायों की प्रवृत्ति होती है। ज्ञानी के राजपाट होता है, कदाचित् युद्ध में लगा हो—ऐसी कषायों की प्रवृत्ति होती है और द्रव्यलिंगी के वह प्रवृत्ति नही होती। द्रव्यलिंगी मुनि ग्रैवेयक तक जाता है और चौथे पाँचवें गुण स्थान वाला ज्ञानी सोलहवें स्वर्ग तक जाता है, तथापि उसकी अपेक्षा द्रव्यलिंगी को हीन क्यों कहा? द्रव्यलिंगी को भावलिंगी से हीन कहो, किन्तु चौथे गुणस्थानवाले की अपेक्षा हीन क्यों कहते हैं?

समाधान—असयत-देशसयत सम्यग्दृष्टि के कषायों की प्रवृत्ति तो है, किन्तु उसके श्रद्धान में कोई भी कषाय करने का अभिप्राय नहीं है। पर्याय में कषाय होती है उसे वह हेय मानता है। द्रव्यलिंगी के तो शुभ कषाय करने का अभिप्राय होता है और श्रद्धान में उसे अच्छा भी जानता है। ज्ञानी और अज्ञानी के अभिप्राय में महान अन्तर है। अज्ञानी मदकषाय को उपादेय मानता है इसलिये उसके एक भी भव का नाश नहीं होता। सम्यग्दृष्टि कषाय को हेय मानता है, इसलिये उसने अनन्त भवका नाश किया है। इसलिये अभिप्राय की अपेक्षा चौथे तथा पाँचवें गुणस्थानवाले ज्ञानी की अपेक्षा द्रव्यलिंगी को हीन कहा है। द्रव्यलिंगी को वैराग्य भी बहुत होता है, किंतु अभ्यन्तर में कषाय पर दृष्टि है अकषाय स्वभाव की दृष्टि उस के नहीं है इसलिये वह मद कषायरूप परिणामों को उपादेय मानता है। ज्ञानी और अज्ञानी के अभिप्राय में पूर्व पश्चिम का अतर है इस-

लिए ज्ञानी की अपेक्षा द्रव्यलिंगी मुनि के कषाय अधिक है—ऐसा कहा है। मिथ्यादृष्टियों में कषाय की मंदता होती है किन्तु कषाय का अभिप्राय अभाव नहीं होता है कारण कि—निमित्त और पराश्रय से (-व्यवहार में) कल्याण मानता ही है।

वह कषायकी मंदतापूर्वक योगप्रवृत्ति करता है, उसके द्वारा अघातिमें पुण्यबंध बांधता है, किन्तु घातिका पाप बंध तो ज्यों का त्यों होता है। बाह्य संयोगों में फेर पड़ता है किन्तु अंतरंग शांति नहीं होती, इसलिये उसके आत्माको लाभ नहीं है। जिसे सत्य वस्तु समझने में भी डर लगता है उसका सच्चा अभिप्राय नहीं हो सकता। समाज से निकाल देंगे, आहार नहीं मिलेगा—ऐसा जिसे डर है उसके सच्चा अभिप्राय नहीं होता। यहाँ तो कहते हैं कि द्रव्यलिंगी पंचमहाव्रतका पालन करके अंतिम ग्रैवेयक तक जावे और सम्यग्दृष्टि कदाचित् प्रथम स्वर्गमें या नरकमें जावे, किन्तु यह तो बाह्य संयोगोंकी बात है। सम्यग्ज्ञानपूर्वक कदाचित् नरकमें जाना भी अच्छा है और मिथ्यात्वसहित अंतिम ग्रैवेयक में जाय, तो भी बुरा है। धन स ऊपर गया, वह तो जिसप्रकार मक्खी ऊपर उड़ती है, वैसा है।

यथार्थ श्रद्धान-ज्ञानपूर्वक घाति कर्मोंका अभाव करना वह कार्यकारी है। अघातिमें फेर पड़े वह कहीं कार्यकारी नहीं है। आत्माके गुणोंका घात न हो वह लाभका कारण है। अघाति कर्मोंका उदय आत्माके गुणों का घात करने में निमित्त नहीं है, वह तो मात्र बाह्य संयोग देता है, इसलिये जिस भावसे घाति कर्मोंका नाश हो वह भाव करना अच्छा है।

इस समय तो निमित्त–उपादानकी इतनी स्पष्ट बात आई है कि त्यागी और पण्डित लोग अपनी मान्यताका आग्रह रखकर कुतर्क द्वारा भी अपनी बात सिद्ध करना चाहते हैं। अष्टसहस्री आदि में आता है कि–निमित्तसे आत्माकी पर्याय होती है—ऐसा वे कहते हैं, किन्तु यह बात मिथ्या है। आत्माकी पर्यायमें अपने कारण हीनदशा होती है अर्थात् घात होता है, तब घातिकर्मों को निमित्त कहा जाता है, किन्तु घातिकर्मोंके कारण आत्माके गुणोंका घात होता है ऐसा नहीं है। नैमित्तिक पर्याय अपने से होती है, तब निमित्तमें आरोप आता है। यदि अपनी ज्ञानादि पर्यायमें सर्वथा हीनता न होती हो, तब तो केवलज्ञानादि हो, किन्तु हीनपर्याय है उसमें कर्म निमित्त है, यह बात यथार्थ है। निमित्त है अवश्य, किन्तु वह उपादानमें प्रविष्ट नहीं हो जाता, और न उसमें कोई कार्य करता है।—इस बात का प्रथम यथार्थ ज्ञान करना चाहिये।

अब, घातिकर्मोंका बंध बाह्य प्रवृत्ति अनुसार नहीं है, किन्तु अंतरंग कषाय अनुसार होता है। इसलिये द्रव्यलिंगी की अपेक्षा असंयत–देश संयत सम्यग्दृष्टिको घातिकर्मोंका अल्प बंध है, मिथ्यादृष्टि को घातिकर्मोंका अधिक बंध है। नीचेके मिथ्यात्व नहीं है, इसलिये अमुक घातिकर्मोंका बंध नहीं है, और अज्ञानी को घातिकर्मोंका पूर्ण बंध है, इसलिये द्रव्यलिंगीको हीन कहा है।

देखो, यहाँ व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टिका स्वरूप चल रहा है। व्यवहार क्रियाकाण्ड करता है, किन्तु आत्मा कौन है—उसकी जिसे खबर नहीं है ऐसे द्रव्यलिंगीकी अपेक्षा असंयत सम्यग्दृष्टि उच्च है—ऐसा कहा है। द्रव्यलिंगी मोक्षमार्गमें नहीं है और सम्यग्दृष्टि मोक्ष

मार्गमें है। द्रव्यलिंगी बाह्यमें व्रतादि पालन करता है तथापि वह बंध मार्गमें है। अभ्यन्तरमें मिथ्यात्व कषाय भरा है। सम्यग्दृष्टिके अभ्यन्तर मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी कषायका नाश हुआ है।

द्रव्यलिंगीके सब घातिकर्मोंका अधिक स्थिति-अनुभागसहित बंध है क्योंकि अंतरमें संयोगी दृष्टि नहीं छूटी है, और सम्यग्दृष्टिको घातिकर्मोंमें दर्शनमोहका तथा अनंतानुबंधीका बंध नहीं होता, क्योंकि अंतरमें आत्माका भान वर्तता है, और पाँचवें गुणस्थानमें अप्रत्याख्यानावरणीयका बंध नहीं होता, दूसरा जो बंध होता है उसमें अल्प स्थिति और अल्प अनुभाग होता है। द्रव्यलिंगीके कभी भी गुणश्रेणी निर्जरा नहीं है, सम्यग्दृष्टिके किसी समय गुणश्रेणी निर्जरा होती है और देश सकल संयम होने पर निरंतर होती है इसलिये उसके मोक्षमार्ग हुआ है, इसीसे द्रव्यलिंगी मुनिको शास्त्रमें असंयत सम्यग्दृष्टिसे हीन कहा है।

संयोगदृष्टिवाले को कभी धर्म नहीं होता।

द्रव्यलिंगी पंचमहाव्रतादिका पालन करता है किंतु आत्मामें अभ्यन्तर दृष्टि नहीं है इसलिये उसे गुणश्रेणी निर्जरा नहीं होती। आत्माका गुण अंशमात्र भी प्रगट नहीं हुआ है। प्रत्येक आत्मा और प्रत्येक परमाणुकी पर्याय स्वतंत्र होती है। एक सत् के अंशसे दूसरे सत्का अंश हो ऐसा नहीं हो सकता इसलिये निमित्तके कारण नैमित्तिक पर्याय हो—ऐसा तीनकालमें नहीं हो सकता। निमित्त भी उसकी अपनी पर्यायकी अपेक्षा से उपादान है, इसलिये वह अपना कार्य करता है—ऐसी दृष्टि उसके नहीं हुई है, उसे कभी धर्म नहीं होता।

सम्यग्दृष्टि के बिना गुणश्रेणी निर्जरा नही होती। सयोगदृष्टि और स्वभावदृष्टि—दोनो में पूर्व-पश्चिम जितना अंतर है। द्रव्यलिंगीको सयोगीदृष्टि है इसलिये उसे कदापि धर्म नही होता।

आत्मा ज्ञायक चिदानन्द है, वह किसी भी द्रव्यक्षेत्र काल भाव में हो, तथापि स्वतंत्र है।—ऐसी दृष्टि जिसके नही हुई है उस किसी कालमें धर्म नही होता। मैं निमित्त होऊं तो दूसरा धर्म प्राप्त करे, और दूसरा निमित्त हो तो मुझमें धर्म हो—यह मान्यता मिथ्यादृष्टि की है।

आत्मा ज्ञानानंद स्वरूप है, उसकी पर्यायमें जो व्रत दि के शुभ भाव होते हैं वह उसका यथार्थ स्वरूप नही है—ऐसी दृष्टि पूर्वक जिसके अन्तरमें लीनता हुई है वह भावलिंगी मुनि है और उसके बाह्य मे यथार्थ द्रव्यलिंग होता है।

ज्ञानकी क्रिया आत्माकी है, रागकी क्रिया आत्माकी नही है। अज्ञानी कहता है कि रागकी क्रिया करनी पडती है, उसके रागकी रुचि नही छूटी है। ज्ञानीको आत्माके भानपूर्वक दयादिके शुभभाव आ जाते हैं, किन्तु उन्हें करना नही पडता। द्रव्यलिंगीको रागकी रुचि होती है, इसलिये शास्त्रमें उसे सम्यग्ज्ञानीकी अपेक्षा हीन कहा है। श्री समयसारमें द्रव्यलिंगी मुनिकी हीनता गाथा, टीका और कलशमें प्रगट की है, क्योंकि वह बाह्य क्रियामें सावधान रहता है। श्री पंचास्तिकायकी टीकामें भी जहाँ, मात्र व्यवहारावलम्बीका कथन किया है, वहाँ व्यवहार पंचाचारका पालन करने पर भी उसका हीनपना ही प्रगट किया है। जिसके निमित्तसे आत्माकी यथार्थ बात सुनी हो, जिसके पाससे न्याय प्राप्त हुआ हो उसकी विनय न करे

तो वह व्यवहारसे निह्नव है—चोर है। यहाँ तो, पचाचाररूप व्यवहारमें विनय भी करना है, तथापि आत्माकी निश्चय विनय नहीं जानी है, इसलिये उसे हीन कहा है।

ससारतत्त्व कौन ?

श्री प्रवचनसार* में भी द्रव्यलिंगीको ससारतत्त्व कहा है। रागसे धर्म और परसे लाभ–हानि मानना वह ससारतत्त्व है। त्रस पर्यायकी उत्कृष्ट दो हजार सागरकी स्थिति है वह पूर्ण करके वह निगोदमें चला जाता है। मुनिपना पालन करे, तथापि उसे ससारतत्त्व कहा है। आत्मा अपनी अनत शक्तिसे परिपूर्ण है, ऐसी दृष्टि जिसे नहीं हुई है वह द्रव्यलिंगी नग्न मुनि हो, श्रावकत्वका पालन करे शुभभाव करे, किन्तु व्रतदृष्टि नहीं है इसलिये वह ससार तत्त्व है। सम्यग्दर्शनरूपी भूमिके बिना व्रतरूपी वृक्ष नहीं होता। मिथ्यादृष्टि क्रियाकाण्ड करता है, किन्तु वह अरण्यरोदन के समान व्यर्थ है। उस आत्माको किंचित् भी लाभ नहीं होता। परमात्मप्रकाश आदि दूसरे शास्त्रोंमें भी इस बातका स्पष्टीकरण किया है आत्माके भान बिना जप, तप, शील, सयमादि क्रियाओंको अकार्यकारी बतलाया है। व्यवहार करते–करते निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट होता है।—ऐसी मान्यता मिथ्यादृष्टिकी है।—इसप्रकार मात्र व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टिका वर्णन किया।

अब, जो निश्चय–व्यवहार दोनों नयों के आभासका अवलम्बन लेता है—ऐसे मिथ्यादृष्टिका वर्णन करते हैं।

---

* प्रवचनसार गाथा २७१

११

निश्चय-व्यवहारनयाभासावलम्बी मिथ्यादृष्टियो का स्वरूप

जो जीव ऐसा मानता है कि जिनमतमे निश्चय-व्यवहार दो नय कहे हैं, इसलिये हमे उन दोनो नयोको अगीकार करना चाहिये, तो उसकी यह मान्यता मिथ्यात्व है। भगवान ने दो नय कहे हैं। कभी निश्चयनय और कभी व्यवहारनय,—इसप्रकार दोनो नयोको अगीकार करना चाहिये क्योंकि भगवानका मार्ग अनेकान्त है, एकान्त नही करना चाहिये—ऐसा मिथ्यादृष्टि मानता है किंतु वह व्यवहार नयके अगीकारका अर्थ नही समझता। आत्माकी पर्यायमे राग होता है उसे जानना वह व्यवहारनयका अगीकार है। आत्मामें अल्पज्ञान की पर्याय है उसे जानना कि मेरी पर्याय अल्पज्ञानरूप है वह व्यवहारनय है। रागके आदरको अज्ञानी व्यवहारनय कहता है, उसने तो वीतरागभाव और रागभाव दोनो से लाभ माना है —वह एकान्त है।

मिथ्यादृष्टि दोनो नयों को आदरणीय मानता है। जिसप्रकार मात्र निश्चयाभासावलम्बियोका कथन किया था, तदनुसार तो वह निश्चयका अगीकार करता है, तथा जिसप्रकार मात्र व्यवहाराभासावलम्बियोका कथन किया था तदनुसार व्यवहारका अगीकार करता है, किंतु उसमें तो परस्पर विरोध आता है, क्योंकि निश्चयनय अगीकार करने योग्य है और व्यवहारनय हेय है—यह बात उसके ध्यान

में नहीं आई है। दोनों नयोंका सच्चा स्वरूप उसे भासित नहीं हुआ है और जनमतमें दो नय कहे हैं, उनमें से किसी को भी छोड़ा नहीं जाता, इसलिये यह जीव भ्रमपूर्वक दोनों नयोंकी साधना करता है।—ऐसे जीवोंको भी मिथ्यादृष्टि जानना।

उस पक्षपाती मिथ्यादृष्टिकी प्रवृत्ति कैसी होती है, उसे अब विशेषता से कहते हैं।

मोक्षमार्ग दो नहीं हैं, उसका निरूपण दो प्रकार से है।

अंतरंगमें स्वयं तो निर्धार करके यथावत् निश्चय–व्यवहार मोक्षमार्गको नहीं पहिचाना है, किन्तु जिन आज्ञा मानकर निश्चय व्यवहाररूप दो प्रकारका मोक्षमार्ग मानता है। अब, मोक्षमार्ग कहीं दो नहीं हैं, किन्तु मोक्षमार्गका निरूपण दो प्रकार से है। आत्मामें निर्विकल्पदशा (वीतरागभाव) का होना मोक्षमार्ग है, दूसरा कोई मोक्षमार्ग नहीं है। और जो मोक्षमार्ग तो नहीं है किन्तु मोक्षमार्गका निमित्त है उसे व्यवहारमोक्षमार्ग कहा जाता है। पंचमहाव्रतादि मोक्षमार्ग नहीं है किन्तु निर्विकल्प मोक्षमार्ग प्रगट करे तो उसे निमित्त कहा जाता है। निश्चय मोक्षमार्ग न हो तो पंचमहाव्रतादि को व्यवहार भी नहीं कहा जाता, अर्थात् उसमें निमित्तपनेका आरोप भी नहीं आता। इसप्रकार निश्चय–व्यवहारका स्वरूप है।

मोक्षमार्गका निरूपण दो प्रकार से किया है। उसमें वीतरागी निर्विकल्पदशा निश्चयमोक्षमार्ग और व्रतादिकके शुभराग वह व्यवहार मोक्षमार्ग है। एक सच्चा मोक्षमार्ग है और दूसरा निमित्त, उपचार सहकारी या मिथ्या मोक्षमार्ग है—ऐसे दो प्रकार से मोक्षमार्गका

निरूपण है। अखण्ड आत्म स्वभावके अवलम्बनसे निश्चय सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप मोक्षमाग प्रगट हुआ वह सच्चा मोक्षमार्ग है। उस समय राग–विकल्प है वह मोक्षमाग नही है, किन्तु उसे उपचारसे मोक्षमाग कहा है, अर्थात् वह निमित्त, सहचार, उपचार व व्यवहार—ऐसे चार प्रकार से मोक्षमागका निरूपण किया है।

आत्मामे निश्चय मोक्षमाग प्रगट हुआ उसे सच्चा, अनुपचार, शुद्ध उपादान और यथार्थ मोक्षमाग कहा है। उस समय राग को उपचार, निमित्त, सहचारी और व्यवहार मोक्षमाग कहा है।—इस प्रकार निश्चय व्यवहार का स्वरूप है। यहाँ मोक्षमाग का कथन हो रहा है, इसलिये आत्मा की शुद्ध पर्याय को उपादेय कहा है, और व्यवहार राग को हेय कहा है। यहाँ व्यवहार रत्नत्रय को सहचारी निमित्त कहा है, क्योंकि निश्चय सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र हुआ है, उसे राग भी सच्चे देव गुरु शास्त्र का होता है कुदेवादि का राग नही होता, सयमादिक का राग होता है, इसलिये उस राग को सहचारी कहा है।

रहस्यपूर्ण चिट्ठी मे पण्डितजी ने कहा है कि—सम्यक्त्वी के व्यवहार सम्यक्त्व म निश्चय सम्यक्त्व गर्भित है। व्यवहारके समय भी निश्चयरूप परिणति हो रही है। इसलिये व्यवहार मे निश्चय परिणति गर्भित कही है, किन्तु उसका यह अर्थ नही है कि व्यवहार सम्यक्त्व के कारण निश्चय सम्यक्त्व होता है, किन्तु निश्चय मोक्ष माग की परिणति के समय सच्चे देवादि की श्रद्धा आदिक का राग होता है। उसका ज्ञान करना उसे व्यवहार कहा है।—इसप्रकार निश्चय व्यवहार का स्वरूप समझना चाहिये।

[वीर सं० २४७६ प्र० वैशाख कृष्णा १० गुरुवार ता० ६-४-५१]

ज्ञानी एक स्वभाव का ही साधन साधता है। दूसरा वास्तव में साधन नहीं है। निश्चय मोक्षमार्ग एक ही है—ऐसा ज्ञानी मानता है। मिथ्यादृष्टि दो नयों का साधन साधता है, दो मोक्षमार्ग मानता है और दोनों नयों को उपादेय मानता है—ऐसे तीन प्रकार से भूल करता है। शुभराग मोक्षमार्ग नहीं है, किन्तु मोक्षमार्ग में निमित्त है—सहचारी है, इसलिये जिसके निश्चय मोक्षमार्ग प्रगट हुआ है उसकी मन्द कषाय को उपचारसे मोक्षमार्ग कहा है।—ऐसा निश्चय व्यवहार का स्वरूप है।

सच्चा निरूपण वह निश्चय तथा उपचार निरूपण वह व्यवहार है।

आत्मा की रुचि पूर्वक रमणता करने को मोक्षमार्ग कहना वह निश्चय है और बीच में जो राग आता है उसे मोक्षमार्ग कहना वह व्यवहार है, इसलिये मोक्षमार्ग का निरूपण दो प्रकार से जानना, किन्तु एक निश्चय मोक्षमार्ग है तथा एक व्यवहार मोक्षमार्ग है—इस प्रकार दो मोक्षमार्ग मानना मिथ्या है। पुनश्च, वह निश्चय और व्यवहार दोनों को उपादेय मानता है, वह भी भ्रम है, क्योंकि निश्चय-व्यवहार का स्वरूप तो परस्पर विरोध सहित है।

निश्चय से तो आत्मा में दृष्टि पूर्वक-तत्त्वज्ञान पूर्वक लीनता हो वह सामायिक है। उस समय विकल्प राग को व्यवहार सामायिक कहा जाता है। कोई कहे कि—तो क्या सामायिक करना छोड दें? किन्तु यहाँ कहते हैं कि जिसे वस्तु स्वभाव के स्वरूप की खबर

नही है उसके सामायिक ही नही है, तब फिर सामायिक छोड देने का प्रश्न ही नही उठता । इसलिये प्रथम सामायिक का स्वरूप समझना चाहिये । सत् वस्तु को न समझकर दूसरा मार्ग ग्रहण करे तो धर्म नही हो सकता । ज्ञानी के निकट निरभिमानता पूर्वक स्वीकार करे कि हमारी अभीतक मानी हुई बात विपरीत थी, तो यह बात समझ में आ सकती है ।

एक आदमी किसी सेठ के यहाँ नौकरी के लिये गया । सेठ ने उससे पूछा कि तुझे व्यापारका सारा काम आता है ? लेन–देन करना आता है ? और लेन देन करके फिर रुपये वसूल करना आता है ? अर्थात् हिसाब चुकाना आता है ?—यह जाने तो सब कुछ जाना कहलाता है । उसीप्रकार यहाँ कहते हैं कि अभीतक जो धारणा की है, उसे रद्द करना तुझे आता हो, भूल स्वीकार करना आता हो, तो नई वस्तु अतरमें प्रविष्ट हो, अर्थात् समझमे आय । अभीतक व्रतादि करके धर्म मानता था वह मिथ्यात्वोको घाटता था, वह श्रद्धानकी भूल थी । उसे सब प्रथम छोडना चाहिये । कर्मके कारण विकार होता है इस मा यतामे भी भूल थी, ऐसा स्वीकार करना चाहिये । समयसार पढकर कहता है कि हम निश्चयको मानते हैं, कि तु साथ ही साथ कर्मके कारण राग और रागसे निश्चय रत्नत्रय मानते हैं, तो उसे आत्मा शुद्ध ज्ञायक है—ऐसी रुचि, और स्व सन्मुखता कहाँ रही ? मात्र धारणा की थी, वह भूल थी—ऐसा जबतक स्वीकार न करे तब तक पात्रता भी नही है ।

संसारका मूल मिथ्यादर्शन है; उसका नाश करने से संसार का नाश होता है।

जिसे जन्म मरणका अंत करना हो, उसे आत्मस्वरूप समझना चाहिये। ककडीकी एक बेलमें से अनेक बेलें फटती हैं और सारे खेत में फैल जाती हैं। यदि उन बेलोंका नाश करना हो तो उनकी जड तो एक ही होती है। वहाँ जाकर हँसिये से उसकी जड काट डालें तो सारी बेलें सूख जाती हैं। ऊपर से वृक्षकी डालें और पत्ते काटने से वह फिर ज्याका त्यों बढ जाता है। उसीप्रकार संसारका मूल मिथ्यादर्शन है, उसका नाश करे तो संसाररूपी वृक्षका नाश हो सकता है। दया, दान, भक्ति आदि के शुभभावसे संसारका नाश नहीं होता। कारण कि शुभराग भी आस्रव तत्त्व है—बंधका कारण है।

पद्मनंदि पचविंशतिका में आता है कि निश्चय-रत्नत्रयका साधन शरीर है, और शरीर आहारसे निभता है, तथा आहार श्रावक देते हैं, इसलिये उपचारसे ऐसा कथन करते हैं कि श्रावकों ने मोक्ष मार्ग दिया। श्रावकका आहार देने का भाव हुआ कि—मुनि जो शुद्ध आत्माकी साधना कर रहे हैं उन्हें मैं कब आहार दान दूँ! धन्य भाग्य! हमारे आँगनमें कल्प वृक्ष आया!—इसप्रकार भक्तिसे कहता है, किन्तु यह समझता है कि आहार रत्नत्रय का साधन नहीं है, किंतु व्यवहार से साधन कहलाता है। भक्तिरूप भाव और राग होता अवश्य है, किंतु ज्ञानी उसके कर्ता नहीं हैं उस समय भी ज्ञानीको ऐसा मान होता है। व्यवहार करना पडता है—ऐसा नहीं है, किन्तु वह आजाता है। भरत चक्रवर्ती क्षायिक सम्यग्दृष्टि थे, किंतु भगवान के निर्वाण के

समय रुदन करते हुए कहते हैं कि हे नाथ ! आज भरत का सूर्य अस्त हो गया ! इन्द्र कहता है कि आप तो चरम शरीरी हो, फिर यह क्या ? उसे भी भान है, तथापि कहते हैं कि प्रभो ! आपका विरह हुआ, अब आपका उपदेश कहाँ से प्राप्त होगा ?

श्री कुन्दकुन्दाचार्य भी कहते हैं कि—हे सीमंधर भगवान ! इस भरतक्षेत्र में आपका विरह हुआ है। हे नाथ ! महाविदेह में तो लाखों केवली विराजमान हैं, और इस भरतक्षेत्रमें आपका विरह है,—इस प्रकार विरह का दुःख लगता है। यह सब सहज ही होता है,—ऐसा राग लाना नहीं पड़ता, और यह जो राग हुआ है वह कहीं मोक्षमार्ग नहीं है, उपादेय तो एक निश्चय ही है।

देखो, यहाँ पंचकल्याणक महोत्सव के समय श्री नेमिनाथ भगवान के वैराग्य प्रसंग का दृश्य वैराग्य प्रेरक था। राजुल कहती हैं कि हे नाथ ! आप स्वरूप साधना के लिये निकले हैं, मैं भी स्वरूप साधना के लिये निकलती हूँ।—ऐसे दृश्य देखकर ज्ञानी को रोना भी आजाता है, किन्तु समझते हैं कि वैसा शुभभाव भी अंगीकार करने योग्य नहीं है, निर्बलता से राग हुआ है वह उपादेय नहीं है।

व्यवहारनय असत्यार्थ है, निश्चयनय सत्यार्थ है।

श्री समयसार में भी ऐसा कहा है कि—"ववहारो भूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।" व्यवहार अभूतार्थ है, सत्य स्वरूप का निरूपण नहीं करता, किन्तु किसी अपेक्षा से उपचार से अन्यथा निरूपण करता है। तथा निश्चय शुद्ध नय है—भूतार्थ है, क्योंकि वह वस्तु के स्वरूप का यथावत् निरूपण करता है। व्यवहार सत्-

वस्तु का निरूपण नहीं करता, किन्तु जैसा वस्तु स्वरूप हो उससे भिन्न कहता है। इसलिये व्यवहार उपादेय नहीं है। अज्ञानी व्यवहार को अंगीकार करने योग्य मानता है, इसलिये वह मूढ़ है।

व्यवहारनय अन्यथा कहता है अर्थात् बंध मार्ग को मोक्षमार्ग कहता है। वास्तव में जो मोक्षमार्ग नहीं है उसे मोक्षमार्ग कहता है वह व्यवहारनय है। और निश्चयनय तो जैसा स्वरूप है वैसा कहता है। भगवान ने मुझे तार दिया—यह सारा कथन व्यवहारनय का है किन्तु वस्तुस्वरूप ऐसा नहीं है। इसलिये व्यवहारनय को उपादेय मानना वह मिथ्यात्व है। एक निश्चयनय ही उपादेय है—ऐसा ज्ञानी मानते हैं।

[वीर सं० २४७६ प्र० वैशाख कृष्णा ११ गुरुवार ता० १०-४-५३]

अज्ञानी व्यवहार-निश्चय दोनों के स्वरूप को नहीं जानता इसलिये दोनों को उपादेय मानता है। आत्माकी शुद्ध पर्याय आत्मा के अवलम्बन से होती है वह मोक्षमार्ग है, किन्तु व्रत-तपादि मोक्षमार्ग नहीं है, मोक्षमार्ग में वे निमित्त-मात्र हैं।—यह बात पहले आ चुकी है।

श्री समयसार में कहा है कि व्यवहार अभूतार्थ है अर्थात् व्यवहार राग निमित्त है ही नहीं, ऐसा नहीं है, किन्तु व्यवहार सच्चे स्वरूप का कथन नहीं करता इसलिये अभूतार्थ है। व्रत, नियमादि मोक्षमार्ग नहीं हैं, तथापि व्यवहार उन्हें मोक्षमार्ग कहता है। आत्मा क्या है? राग क्या है? निमित्त क्या है?—उनका अन्तर में यथार्थ ज्ञान न करे तब तक मोक्षमार्ग नहीं हो सकता।

श्री नियमसार कलश १६४ में कहा है कि आत्मा में ज्ञान है, दर्शन है—ऐसे भेद की दृष्टि जिसके है उसका मोक्ष होता है या नहीं —यह कौन जाने ? अर्थात् उसका मोक्ष नहीं होता। अपूर्ण दशा में भेद प्रभेद का विचार करने से राग हुए बिना नहीं रहता। केवली को पूर्ण ज्ञान है इसलिये भेद प्रभेद के भान में राग नहीं होता। निचली दशा में भी भेद का भान करना वह राग का कारण नहीं है, किन्तु भेदका विचार करने से रागी को राग होता है। भेद के कारण राग होता हो तो केवली को भी राग होना चाहिये, किन्तु ऐसा नहीं है। मोक्षमार्ग प्रकाशक देहलीवाला पृष्ठ ३७१ में कहा है कि अभेद आत्मा में ज्ञान-दर्शनादि भेद किये हैं वहाँ उन्हें भेदरूप ही नहीं मान लेना चाहिये। भेद तो समझाने के लिये है, किन्तु निश्चय से आत्मा अभेद ही है उसे जीव वस्तु मानना। वहाँ जो सत्ता-सम्यादि से भेद कहे हैं वे तो कहने मात्र के हैं, परमार्थ से वे पृथक् २ नहीं हैं,—ऐसा ही श्रद्धान करना चाहिये।

आत्मा अनन्त गुणों का पिण्ड है। उसमें गुण-पर्याय का भेद है अवश्य, किन्तु अभेद चैतन्यवस्तु की दृष्टि कराने के लिये ऐसा कहा है कि वस्तु को अभेद मानना चाहिये। इसलिये अरिहन्त के मत में भेद से मुक्ति नहीं होती—ऐसा कहा है। भेद से मुक्ति होती है—ऐसा तो अज्ञानी मानता है। आत्मा असंख्यात प्रदेशी अनन्तगुणधाम है, उसके अवलम्बन से मुक्ति होती है, किन्तु गुण भेद के आश्रय से मुक्ति नहीं है। इसलिये व्यवहार अभूतार्थ है, आश्रय करने योग्य नहीं है —ऐसा कहा है।

अब कहते हैं कि—तू ऐसा मानता है कि सिद्ध समान शुद्ध आत्मा

का अनुभव वह निश्चय, तथा व्रत, शील, संयमादिरूप प्रवृत्ति वह व्यवहार, किन्तु तेरी यह मान्यता ठीक नहीं है।

आत्मा की वीतरागी श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र वह निश्चय मोक्षमार्ग है। जब पर्याय पूर्ण शुद्ध होगी तब सिद्ध दशा का अनुभव होगा। संसारी को सिद्ध समान अनुभव नहीं होता, तथापि वर्तमान सिद्ध समान अनुभव को अज्ञानी निश्चय कहता है—किन्तु ऐसा नहीं है, और उन व्रतादि की प्रवृत्ति को व्यवहार कहता है, किन्तु प्रवृत्ति कहीं व्यवहार नहीं है। व्रतादि के परिणामों को मोक्षमार्ग मानना वह व्यवहार है। अज्ञानी प्रवृत्ति को व्यवहार मानता है, किन्तु ऐसा नहीं है।

निश्चय मोक्षमार्ग तो आत्मा की श्रद्धा, ज्ञान तथा रमणता है, और उस समय जो शुभभाव होता है उसे मोक्षमार्ग मानना वह व्यवहार है। दया, दान, भक्ति का राग तो मोक्षमार्ग से विरुद्ध बंधमार्ग है, किन्तु वह निमित्त है इसलिये उपचार से उसे मोक्षमार्ग मानना यह व्यवहार है—ऐसा कहा है, किन्तु अज्ञानी बाह्य प्रवृत्ति और राग को व्यवहार कहता है इसलिये उस व्यवहार की भी खबर नहीं है।

निश्चय और व्यवहारनय की व्याख्या।

देखो, वर्तमान वीतरागी पर्याय प्रगट हुई हो उसे निश्चय कहते हैं, उसके बदले अज्ञानी सिद्ध समान शुद्ध पर्याय के अनुभव को निश्चय कहता है, किन्तु संसार दशा में सिद्धपना है ही नहीं, इसलिये

यह बात तो मिथ्या हुई। उसे निश्चय की भी खबर नहीं है। मात्र शास्त्र के शब्दों को पकड़ लिया है किंतु भाव को नहीं समझता, इस लिये वह निश्चयाभासी है। और व्रतादि की प्रवृत्ति को अज्ञानी व्यवहार मानता है, किन्तु वह व्यवहार नहीं है, क्योंकि किसी द्रव्य भाव का नाम निश्चय और किसी का व्यवहार—ऐसा नहीं है, किन्तु एक ही द्रव्य के भाव का उसी स्वरूप से निरूपण करना वह निश्चय-नय है तथा उस द्रव्य के भाव को उपचार से अन्य द्रव्य के भाव स्वरूप निरूपण करना वह व्यवहारनय है। अज्ञानी निश्चय-व्यवहार दो द्रव्यों में कहता है, किन्तु वह बात यथार्थ नहीं है। दृष्टान्त कहते हैं कि—जिसप्रकार मिट्टी के घड़े का मिट्टी के घड़ेरूप निरूपण कर वह निश्चय है, तथा घी के संयोग के उपचार से उसे घी का घड़ा कहें वह व्यवहार है। इसीप्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिये।

किसी को निश्चय मानना और किसी को व्यवहार मानना वह भ्रमणा है पर्याय में सिद्ध समान शुद्ध मानता है तो फिर व्रतादि का साधन किसलिये करता है? सिद्ध के व्रतादि का साधन नहीं होता, इसलिये निश्चय मानने में तेरी भूल है। तथा व्रतादि के साधन द्वारा सिद्ध होना चाहता है तो वर्तमान में सिद्ध समान शुद्ध आत्मा का अनुभव मिथ्या हुआ।—इसप्रकार दोनों नयों का परस्पर विरोध है, इसलिये दोनों नयों की उपादेयता संभवित नहीं है।

प्रश्न —श्री समयसारादि शास्त्रों में शुद्ध आत्मा के अनुभव का निश्चय कहा है, तथा व्रत, तप, संयमादि को व्यवहार कहा है, और हम भी ऐसा ही मानते हैं।

उत्तर —शुद्ध आत्मा का अनुभव वह सच्चा मोक्षमार्ग है, इस लिये उसे निश्चय कहा है। किन्तु सिद्ध समान वर्तमान अनुभव करना वह निश्चय नही है। मात्र ज्ञायक चिदानन्द शुद्ध सामान्य है, उसकी प्रतीति, ज्ञान और रमणता ही मोक्षमार्ग है, यह निश्चय बराबर है। वीतरागी अंश हुआ वह शुद्ध है और उसीका स्वमें अभेद अपेक्षा निश्चय कहा है। उस समय प्रवर्तमान राग को मोक्षमार्ग कहना वह व्यवहार है। उसे मोक्षमार्ग कहा इसलिये कहीं अशुद्धता शुद्धता नही बन जाती। वह तो बंधमार्ग ही है, किन्तु व्यवहार से उसे मोक्षमार्ग कहा है।

[वीरसं० २४७६ प्र० वैशाख कृष्णा १३ शनिवार, ता० ११–४–५३]

आत्मा ज्ञानानंद शुद्ध है, उसका अनुभव वह सच्चा मोक्षमार्ग है, किन्तु वर्तमान सिद्धसमान शुद्ध हूँ—ऐसा अनुभव करना वह निश्चय नहीं है। इसलिये वर्तमान पर्यायमें सिद्धसमान शुद्ध आत्मा का अनुभव तू मानता है तदनुसार नही है। शुद्ध आत्मा किसे कहना ?—यह बात अब कहते हैं। स्वभावसे अभिन्न और परभावों से भिन्न ऐसा शुद्ध शब्दका अर्थ है। आत्मा अपने गुण–पर्यायसे अभिन्न और शरीर, कर्मादि परद्रव्यों तथा उनके भावोंसे भिन्न है,–उसका नाम शुद्ध है, किन्तु संसारी आत्मा को शुद्ध सिद्ध समान मानना —ऐसा शुद्ध शब्दका अर्थ नही है। शरीरादि की क्रिया तो मोक्षमार्ग नही है, किन्तु दया, दान, भक्ति, व्रतादिके परिणाम भी मोक्षमार्ग नहीं है, वह तो बंधमार्ग है। निश्चयसे तो शुद्ध आत्माकी श्रद्धा ज्ञान और रमणता होना वह मोक्षमार्ग है। संसारीको सिद्ध मानना

का नाम शुद्ध आत्माका अनुभव नहीं है और वह निश्चय भी नहीं है।

व्रतादि मोक्षमार्ग नहीं है, तथापि निमित्तादि की अपेक्षा उसे मोक्षमार्ग कहना वह व्यवहार है।

पुनश्च, व्रत, तपादि कोई मोक्षमार्ग नही है, किन्तु निमित्तादि की अपेक्षा उपचारसे उसे मोक्षमार्ग कहते हैं, इसलिये उसे व्यवहार कहा है। इसप्रकार भूतार्थ–अभूतार्थ मोक्षमार्गपने द्वारा उसे निश्चय –व्यवहारनय कहा है ऐसा ही मानना चाहिये; किन्तु दोनो सच्चे और दोनो उपादेय हैं—ऐसा नही मानना चाहिये। आत्मामें शुद्ध श्रद्धा, ज्ञान और रमणतारूप निश्चय मोक्षमार्ग प्रगट हुआ है, उससमय व्रत–तपादिके शुभपरिणाम होते हैं वह वास्तवमे तो बधमार्ग है, किन्तु वह निश्चय मोक्षमार्गमें निमित्त है, इसलिये उसे मोक्षमार्ग कहना वह व्यवहार है। सिद्धका नही किन्तु शुद्धका अनुभव वह निश्चय और व्रत, तपादि बधमार्गमें मोक्षमार्गका उपचार करना वह व्यवहार है।—ऐसा निश्चय व्यवहारका स्वरूप है। जिसप्रकार मिट्टी के घडे को घी का घडा कहना व्यवहार है, अर्थात् जो नहीं है उसे है—ऐसा कहना वह व्यवहार है, उसीप्रकार जो राग है वह वास्तवमें बध मार्ग है, मोक्षमार्ग नही है किन्तु मोक्षमार्गमें निमित्त है, इसलिये मोक्षमार्ग कहना वह व्यवहार है।

आत्मामें केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनतआनन्द, अनंतवीर्य आदि अनन्त शक्तियाँ भरी पडी हैं। उनमें से पूर्ण ज्ञानानन्ददशा प्रगट होती है। शक्ति भरी पडी है, उसीमें से व्यक्तरूप अवस्था होती

। जो शक्ति भरी है उसे भजो। पर्यायको नहीं, रागको नहीं, निमित्त को नहीं किन्तु आत्मा पूर्ण शक्तिरूप है उसे भजना (भक्ति करना), वह मोक्षमार्ग है। श्रीमद् राजचन्द्रजी ने एक ब्राह्मण का दृष्टान्त दिया है—एक ब्राह्मण ने निर्णय किया कि मुझे शक्तिवान की पूजा करना है। इसलिये विचार करने बैठा कि अधिक शक्ति किसमें है। चूहा कपड़े काटता है इसलिये उसमें शक्ति अधिक है, बिल्ली चूहे को मार डालती है इसलिये उसकी शक्ति और भी अधिक होगई, बिल्ली को कुत्ता मार डालता है, इसलिये कुत्तेकी शक्ति बढ़ गई, कुत्तेको मेरी स्त्री लकड़ी मारकर निकाल देती है इसलिये मेरी स्त्रीकी शक्ति अधिक है, और अपनी स्त्रीकी अपेक्षा मेरी शक्ति अधिक है यानी वास्तवमें मेरी ही शक्ति सबसे अधिक है, इसलिये उसकी पूजा करना चाहिये। इसीप्रकार शरीर, वाणी, मन आदि में आत्माकी शक्ति नहीं है, क्योंकि वे तो पर हैं, और आत्माकी पर्याय में जो पुण्य-पापके भाव होते हैं उनमें केवलज्ञान प्रगट करने की शक्ति नहीं है, और वर्तमान अपूर्ण पर्याय है उसमें पूर्ण होने की शक्ति नहीं है किन्तु आत्मा त्रिकाल ध्रुव अनन्तशक्तिसे भरपूर है, उसकी प्रतीति, ज्ञान और लीनता करे तो उसमें से केवलज्ञान प्रगट हो सकता है। उसकी मान्यता, ज्ञान और रमणता वह निश्चय है। उससमय व्यवहाररत्नत्रयके परिणाम निमित्त हैं, उन्हें मोक्षमार्ग कहना वह व्यवहार है।

कारण-कार्य में निश्चय-व्यवहार

अब कारण-कार्यमें निश्चय व्यवहार कहते हैं। आत्मा द्रव्य है वह निश्चय कारण है, उसमें से मोक्ष प्रगट होता है इसलिये निश्चय

कारण तो द्रव्य है और मोक्ष वह कार्य है। इसप्रकार निश्चयकारण-कार्य है। मोक्षका यथार्थ कारण तो द्रव्य है, और जो मोक्षमार्ग की पर्याय है उसे मोक्ष का कारण कहना वह व्यवहार है। उसे व्यवहार कारण क्यों कहा ? मोक्षमार्ग का अभाव वह मोक्षका कारण है, और द्रव्य वह भावरूप कारण है। अब, अभावरूप कारणको भावरूपका कारण कहना वह व्यवहार है, और आत्मा शुद्ध चिदानन्द त्रिकाल ध्रुव है, उसे मोक्षका कारण कहना वह निश्चय है।

आत्मा वस्तु कैसी है उसका प्रथम ख्याल करना चाहिये। मृग की नाभिमें कस्तूरी भरी है, किन्तु उसको उसे खबर नहीं है—उसका विश्वास उसे नहीं आता। उसीप्रकार आत्मामें अनंत शक्ति भरी है, उसका विश्वास अज्ञानीको नहीं आता। सर्वज्ञ परमात्मा ने ऐसा देखा है कि तेरे आत्मामें अनंतशक्ति भरी है, उस शक्तिमें से मोक्षकी पर्याय होती है, इसलिये मोक्षका निश्चय कारण तो द्रव्य स्वभाव है, और आत्माकी रुचि, ज्ञान, रमणतारूप मोक्षमार्गको मोक्षका कारण कहना वह व्यवहार है। मोक्षका यथार्थ कारण मोक्षमार्ग नहीं किन्तु द्रव्य स्वभाव है—ऐसा निश्चय-व्यवहारका स्वरूप सर्वत्र समझना चाहिये।

अज्ञानी तो शरीरादिकी क्रिया तथा शुभभावको मोक्षमार्ग मानता है, किन्तु वह मोक्षमार्ग नहीं है। आहार न लिया और शरीर सूख गया, वह मोक्षकी या बंधकी क्रिया नहीं है, किन्तु जड़की क्रिया है। आत्मामें रागकी क्रिया होती है वह बंधमार्ग है, और रागरहित

किया हो वह मोक्षमार्गको किया है। बंधमार्ग है वह मोक्षमार्ग नहीं है किन्तु उसमें मोक्षमार्गका उपचार करना वह व्यवहार है। इसलिये किसी को निश्चय और किसी को व्यवहार मानना वह तो भ्रमणा है। निश्चय-व्यवहारका स्वरूप यथार्थ समझना चाहिये।

लोग सुवर्णका मूल्य देते हैं, किंतु उसमें मिले हुए तांबे का मूल्य नहीं देते, उसीप्रकार आत्माकी रुचिपूर्वक जितना वीतराग शुद्धभाव हुआ है उसका मूल्य ज्ञानी देते हैं, किन्तु जो व्रतादिका शुभराग होता है उसका मूल्य नहीं देते। शुभराग तो तांबे जैसा है, वह सुवर्ण नहीं है। सुवर्ण तो मोक्षपर्यायको जो रागरहित अवस्था हुई है वह है। भगवानके मार्गमें तो शुद्ध धर्मक्रियाका मूल्य है। राग मोक्ष मार्ग की क्रिया नहीं है वह तो तांबे जैसा है।

निबोली कहीं नीलमणि नहीं है। बालक निबोलीको नीलमणि माने तो वह कहीं नीलमणि नहीं हो सकती, उसका कोई मूल्य नहीं देगा। उसीप्रकार आत्मामें जो राग पर्याय होती है वह निबोली जैसी है, अज्ञानी उसे मोक्षमार्गरूप नीलमणि मानें, किन्तु वह मोक्ष-मार्ग नहीं है। ज्ञानी उसका मूल्य नहीं देते। इसलिये व्यवहार मोक्ष-मार्ग वह बंधमार्ग है।

[वीर सं० २४७९ प्र० वैशाख कृष्णा १४ रविवार ता० १२-४-५३]

मोक्षमार्ग दो नहीं किन्तु एक ही है।—यह बात चलरही है। आत्माके श्रद्धा-ज्ञान-रमणता वह निश्चय मोक्षमार्ग है, उसमें बीच में शुभभाव निमित्त है, उसे व्यवहारसे मोक्षमार्ग कहा है, किन्तु वह वास्तवमें मोक्षमार्ग नहीं है।

प्रवृत्ति नयरूप नहीं है, अभिप्रायानुसार प्ररूपणामें दोनों नय बनते हैं।

प्रश्न—श्रद्धान तो निश्चयका रखते हैं और प्रवृत्ति व्यवहार रूप रखते हैं।—इसप्रकार हम दोनो नयो को अगीकार करत हैं।

उत्तर—ऐसा भी नहीहोता, क्योंकि निश्चयका निश्चयरूप तथा व्यवहारका व्यवहाररूप श्रद्धान करना योग्य है। इसलिये निश्चयकी श्रद्धा रखना और व्यवहारकी प्रवृत्ति रखना—इसप्रकार अज्ञानी दो नयोका ग्रहण करना कहता है, वह बात मिथ्या है। आत्माकी शुद्ध प्रतीति, उसका वेदन और लीनता वह एक ही मोक्षपथ है। व्रतादि के शुभभावको मोक्षमार्ग मानना वह मिथ्यात्व है। अज्ञानी कहता है कि—हम एक की श्रद्धा करते हैं और दूसरे की प्रवृत्ति करते हैं, तो वह बात भी मिथ्या है, क्योंकि श्रद्धा तो दोनो नयोंकी करना चाहिये। दोनो नय हैं ऐसा जानना चाहिये, किन्तु आदरणीय तो एक निश्चय नय ही है।

आत्मामें वीतरागभाव परिणति होती है वह स्वाश्रयरूप निश्चय है और रागादिकी पर्याय है वह पराश्रयरूप व्यवहार है। निश्चयकी निश्चयरूप और व्यवहारकी व्यवहाररूप श्रद्धा करना वह दोनोंका ग्रहण है, किन्तु एक नयको माने और दूसरे को न माने तो वह एकान्त मिथ्यादृष्टि है, तथा व्यवहारसे निश्चयमें कुछ कम होता है—ऐसा माने वह भी मिथ्यादृष्टि है।

अब कहते हैं कि—प्रवृत्तिमें नयका प्रयोजन ही नहीं है, क्योंकि प्रवृत्ति तो द्रव्यकी परिणति है। वहां जिस द्रव्यकी परिणति हो, उसे

उसीको प्ररूपित करना वह निश्चयनय है और उसीको अन्य द्रव्यकी प्ररूपित करना वह व्यवहारनय है।—इसप्रकार अभिप्रायानुसार प्ररूपणामें दोनों नय बनते हैं, किन्तु वहाँ प्रवृत्ति नयरूप नहीं है। जडकी और रागकी परिणतिको जानना वह व्यवहार नय है। पींछी आदि की क्रिया होती है वह स्वतन्त्र जडकी परिणति है, उसे आत्मा करता है—ऐसा कहना वह व्यवहार है। किन्तु आत्मा उसे नहीं कर सकता। मुनि निर्दोष आहार लेते हैं और सदोष आहारका त्याग करते हैं—ऐसा कहना वह व्यवहार है किन्तु व्यवहारसे आत्मा निर्दोष आहारको ग्रहण करता है और सदोष आहारको छोड़ता है—ऐसा नहीं है, मात्र ऐसा राग आता है। आत्मा कर्मोंका बंध करता है और छोड़ता है—ऐसा कहना वह व्यवहारका कथन है, किन्तु वास्तवमें तो वह जडकी पर्याय है, आत्मा की नहीं है। आत्मा उसे नहीं कर सकता, तथापि ऐसा मानना कि आत्मा जडकी प्रवृत्ति कर सकता है वह एकान्त मिथ्यात्व है।

चलने, बोलने, खाने आदि की परिणति तो जडकी है, आत्मा की नहीं है। उस प्रवृत्तिमें नयका प्रयोजन नहीं है, किंतु उसे आत्मा की प्रवृत्ति कहना वह व्यवहारनय है और जडकी कहना वह निश्चय नय है। प्रवृत्ति करना व्यवहारनय नहीं है। जो एक द्रव्यकी क्रिया को दूसरे द्रव्यकी क्रियामें मिलाता है, उसे भिन्न-भिन्न द्रव्योंकी भी श्रद्धा नहीं है। अज्ञानीको इस बातकी खबर नहीं है इसलिये यह बात सुनने पर उसे ऐसा लगता है कि—हम सीधे मार्ग पर चले जा रहे थे, उसमें तुम ऐसा कहकर कि—'एकद्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ नहीं कर सकता', अड़चन डाल दी है। अज्ञानी मानता है कि जडकी

प्रवृत्ति आत्मासे होती है, वह एकान्त मिथ्यादृष्टि है ।

पुद्गल की परिणति उसके अपने कारण होती है, ऐसा जानना वह निश्चयनय है और आत्माने उसे किया—ऐसा कहना वह व्यवहारनयका कथन है । इसप्रकार अभिप्रायानुसार प्ररूपणामें दो नय बनते हैं, किन्तु कही प्रवृत्ति नयरूप नही है ।

"निश्चयनयाश्रित मुनिवर, प्राप्ति करें निर्वाणकी ।"

—ऐसा श्री समयसारमें कहा है । वहाँ तो आत्माकी शुद्ध परिणतिको अभेद करके कहा है, किन्तु यहाँ तो ऐसा कहना है कि—भिन्न भिन्न द्रव्योकी परिणति भिन्न भिन्न है, तथापि एक की परिणति को दूसरे की परिणति कहना वह व्यवहारनय है । परकी परिणति को आत्मा नही रखता, किन्तु आत्मा परकी परिणति रखता है—ऐसा कहना वह व्यवहारनय है । इसलिये जैसा है वैसा समझना चाहिये । कथन करना वह व्यवहारनय है, किन्तु प्रवृत्ति व्यवहारनय नही है ।—इस बातको यहाँ सिद्ध करते हैं । आत्मा जडकी प्रवृत्तिमें वर्तता है—ऐसा कथन चरणानुयोगमें आता है वह व्यवहारनयका कथन है, किन्तु वस्तुस्वरूप ऐसा नही है ।

कथनकी पद्धति ऐसी होती है कि—जडकी परिणतिसे आत्मा की परिणति सुधरती है, क्योंकि किसी के ऐसी प्रवृत्तिमें आत्माकी परिणति मंदकषायरूप होती है, इसलिये निमित्तका कथन है कि आत्मा यह प्रवृत्ति करता है । निश्चयसे बाह्य प्रवृत्ति तो जड की है और रागकी परिणति आत्माकी है, इसलिये कथनमें दो नय होते हैं किन्तु प्रवृत्ति में नय नहीं है ।

आत्मा के द्रव्य–गुण में तो विकार नहीं है, और पर्याय में विकार है, तो वह कहाँ से आया ?—तो अज्ञानी कहते हैं कि कर्मों के कारण आया है। अगर जहाँ व्यवहारनय का कथन हो वहाँ वसा ही सत्य मानले तो वह नयों को नहीं समझना। कर्मों की अवस्था पुद्गल की है—ऐसा कहना वह निश्चय है, और उससे आत्मा में विकार हुआ—ऐसा कहना वह व्यवहार है।—इसप्रकार दोनों नयों को जानना यथार्थ है, किन्तु दोनों को आदरणीय मानना वह भ्रमणा है।

निश्चय को उपादेय और व्यवहार को हेय मानना वह दोनों नयों का श्रद्धान है।

प्रश्न —तो फिर क्या करें ?

उत्तर —निश्चयनय द्वारा जो निरूपण किया हो, उसे तो सत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान करना चाहिये, तथा व्यवहारनय द्वारा जो निरूपण किया हो उसे असत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान छोड़ना चाहिये। आत्मा खा सकता है, आत्मा कर्मोंका बंध करता है आत्मा शरीर को चला सकता है—आदि प्रकार की श्रद्धा को छोड़ो। पहले दोनों नयों का श्रद्धान करने को कहा था, वहाँ कहने का तात्पर्य यह था कि दोनो नय हैं उन्हें जानना चाहिये, और यहाँ, निश्चय को उपादेय तथा व्यवहार को हेय मानना वह दोनो नयोंका श्रद्धान है—ऐसा समझना, किंतु निश्चय और व्यवहार—दोनो नय आदरणीय हैं—ऐसा नही है। दोनों नय समकक्ष हैं, समान कार्यकारी हैं ऐसा नहीं है।

श्री समयसार कलश १७३ मे भी यही कहा है कि —

सर्वत्राध्यवसानमेवमखिलं त्याज्यं यदुक्तं जिनै-
स्तन्मन्ये व्यवहार एव निखिलोऽप्यन्याश्रयस्त्याजितः ।
सम्यङ्निश्चयमेकमेव तदमी निष्कम्पमाक्रम्य किं
शुद्धज्ञानघने महिम्नि न निजे बध्नन्ति सन्तो धृतिम् ॥

"जिनसे समस्त हिंसादि तथा अहिंसादि मे अध्यवसाय है वे सब छोड़ना—ऐसा श्री जिनदेव ने कहा है, इसलिये मैं ऐसा मानता हूँ कि जो पराश्रित व्यवहार है वह सभी छुड़ाया है। तो सत्पुरुष एक निश्चय को ही भलीभाँति निश्चलता पूर्वक अंगीकार करके, शुद्ध-ज्ञानघनरूप अपनी महिमा में स्थिति क्यों नहीं करते ?

मैंने पर जीव की रक्षा की, भाषादि की क्रिया मैंने की, वस्त्र, स्त्री धनादिक का ग्रहणत्यागरूप क्रिया जड़की परिणति है उसे आत्मा करता है,—ऐसे अध्यवसान को छोड़ना चाहिये। पुनश्च मैंने परकी दया पाली, सत्य बोला, ब्रह्मचर्य का पालन किया—यह सब अध्यवसान छोड़ने योग्य हैं, क्योंकि यह सब जड़की परिणति है, आत्मा की नहीं है। आत्मा परिग्रहादि को नहीं छोड़ सकता। मेरे आत्मा से पर की हिंसा हुई, मैंने पर की दया का पालन किया आदि मानना वह मिथ्यात्व है—पर मे एकत्व बुद्धि है। निमित्त की परिणति परमें हुई है, उसके बदले ऐसा मानना कि मुझसे हुई है—यह सब अध्यवसान मिथ्यात्व हैं इसलिये छोड़ने योग्य हैं।

शुभाशुभ राग और निमित्त के साथ की एकत्वबुद्धि छोड़ना चाहिये—ऐसा जिनेन्द्र भगवान की ॐ ध्वनि में आया है। आत्माको पर द्रव्य में अर्थात् किसी भी पर आत्मा में या पुद्गल में एकत्व बुद्धि

नहीं करना चाहिये—ऐसा भगवान ने कहा है। इसलिये मैं ऐसा मानता हूँ कि जो पराश्रित व्यवहार है वह सारा छुड़ाया है। इसका अर्थ यह है कि—जो व्यवहार की रुचि है वही मिथ्यात्व है। इसलिये सत्पुरुष का एक निश्चयनय को ही आदरणीय मानना चाहिये।

[वीर सं० २४७६ प्र० अषाढ़ सुदा १ मंगलवार ता० १४।४।५१]

देखो, इस श्लोक का अर्थ समयसार नाटक में कहा है।

असंख्यात लोक परवान जे मिथ्यात भाव,
तेई विवहारभाव केवली-उकत है।
जिन्हकौ मिथ्यात गयौ सम्यक दरस आयौ,
ते नियत-लीन विवहारसौं मुकत है॥
निरविकलप निरुपाधि आतमसमाधि,
साधि जे सुगुन मोखपंथकौं ढुकत हैं।
तेई जीव परम दसामैं थिररूप ह्वै कै,
धरममैं धुके न करमसौं रुकत हैं॥

असंख्यात लोक प्रमाण जो मिथ्यात्व भाव है, वह सब व्यवहारभाव है। जो उसे आदरणीय मानता है उसे केवली भगवान ने मिथ्यादृष्टि कहा है। यहाँ तो व्यवहारभाव को ही मिथ्यात्व कहा है। *अस्थिरता का भाव गौण है।* अर्थात् व्यवहार में हित बुद्धि, व्यवहार का आग्रह,—व्यवहार की रुचि है वह मिथ्यात्व है। पर की जो-जो पर्यायें होती हैं वह मेरे कारण हुई हैं—ऐसी मान्यता को भी मिथ्यात्व कहा है। जहाँ व्यवहारभाव वहाँ मिथ्यात्व भाव और जहाँ मि

श्री समयसार कलश १७३ मे भी यही कहा है कि —

सर्वत्राध्यवसानमेवमखिलं त्याज्यं यदुक्तं जिनै
स्तन्मन्ये व्यवहार एव निखिलोऽप्यन्याश्रयस्त्याजितः ।
सम्यङ्निश्चयमेकमेव तदमी निष्कम्पमाक्रम्य किं
शुद्धज्ञानघने महिम्नि न निजे बध्नन्ति सन्तो धृतिम् ॥

"जिनसे समस्त हिंसादि तथा अहिंसादि मे अध्यवसाय है वे सब छोडना—ऐसा श्री जिनदेव ने कहा है, इसलिये मैं ऐसा मानता हूँ कि जो पराश्रित व्यवहार है वह सभी छुडाया है । तो सत्पुरुष एक निश्चय को ही भलीभाँति निश्चलता पूर्वक अगीकार करके, शुद्ध-ज्ञानघनरूप अपनी महिमा मे स्थिति क्यो नही करते ?

मैंने पर जीव की रक्षा की, मायादि की क्रिया मैंने की, वस्त्र, स्त्री धनादिक का ग्रहणत्यागरूप क्रिया जडकी परिणति है उसे आत्मा करता है,—ऐसे अध्यवसान को छोडना चाहिये । पुनश्च मैंने परकी दया पाली, सत्य बोला, ब्रह्मचर्य का पालन किया—यह सब अध्यवसान छोडने योग्य हैं, क्योकि यह सब जडकी परिणति है, आत्मा की नही है । आत्मा परिग्रहादि को नही छोड सकता । पर आत्मामें पर की हिंसा हुई, मैंने पर की दया का पालन किया आदि मानना वह मिथ्यात्व है—पर मे एकत्व बुद्धि है । निमित्त की परिणति परसे हुई है, उसके बदले ऐसा मानना कि मुझसे हुई है—यह सब अध्यवसान मिथ्यात्व हैं इसलिये छोडने योग्य हैं ।

शुभाशुभ राग और निमित्त के साथ की एकत्वबुद्धि छोडना चाहिये—ऐसा जिनेन्द्र भगवान की ॐ ध्वनि मे आया है । आत्माको पर द्रव्य में अर्थात् किसी भी पर आत्मा मे या पुद्गल में एकत्व बुद्धि

नही करना चाहिये—ऐसा भगवान ने कहा है। इसलिये मैं ऐसा मानता हूँ कि जो पराश्रित व्यवहार है वह सारा छुडाया है। इसका अर्थ यह है कि—जो व्यवहार की रुचि है वही मिथ्यात्व है। इस लिये सत्पुरुष को एक निश्चयनय को ही आदरणीय मानना चाहिये।

[वीर सं० २४७६ प्र० वशाख शुक्ला १ मगलवार ता० १४४५१]

देखो, इस श्लोक का अर्थ समयसार नाटक में कहा है।

असरयात लोक परवान जे मिथ्यात भाव,
तेई विवहारभाव केवली-उकत है।
जि हको मिथ्यात गयो सम्यक दरस आयो,
ते नियत-लीन विवहारसा मुकत है॥
निरविकल्प निरुपाधि आतमसमाधि,
साधि जे सुगुन मोखपथकौं ढुकत हैं।
तेई जीव परम दसामैं थिररूप ह्वै कैं,
धरममैं धुके न करमसौं रुकत हैं॥

असख्यात लोक प्रमाण जो मिथ्यात्व भाव है, वह सब व्यवहारभाव है। जो उसे आदरणीय मानता है उसे केवली भगवान ने मिथ्यादृष्टि कहा है। यहाँ तो व्यवहारभाव को ही मिथ्यात्व कहा है। अस्थिरता का भाव गौण है। अर्थात् व्यवहार म हित बुद्धि, व्यवहार का आग्रह,—व्यवहार की रुचि है वह मिथ्यात्व है। पर की जो-जो पर्यायें होती हैं वह मेरे कारण हुई हैं—ऐसी मान्यता को भी मिथ्यात्व कहा है। जहाँ व्यवहारभाव वहाँ मिथ्यात्व भाव और जहाँ मि

थ्यात्व भाव वहाँ व्यवहारभाव—ऐसा कहा है। ज्ञानी के व्यवहार भाव नहीं ह। देखो तो सही, यहाँ कडक बात (नग्न सत्य) कही है। ग्रंथकार ने व्यवहार भाव को मिथ्या व कहा है, वह एकत्व बुद्धि का व्यवहार है। ज्ञानी के एकत्वबुद्धि का व्यवहार नहीं होता। इसलिये व्यवहार में एकत्वबुद्धि मानना ही मिथ्यात्व है। व्यवहार से आत्म हित में लाभ है ऐसी मान्यता रूप एकत्व बुद्धि को जिनेश्वर भगवान ने छुड़ाया है।

आगे आठवें अधिकारमें आता है कि—भगवान ने मोक्षमार्ग का उपदेश दिया है और हम भी उपदेश देते हैं,—वह तो निमित्तका कथन है, किन्तु तदनुसार मानना नहीं चाहिये। वह मान्यता छोडने जैसी है। आत्मा शुद्ध ज्ञानघन है उसकी महिमा होने पर रागकी महिमा नहीं रहती। यहाँ व्यवहारका तो त्याग कराया है, इसलिये निश्चयको अंगीकार करके निजमहिमारूप प्रवर्तन करना योग्य है। मोक्षपाहुडकी ३१ वी गाथामें कहा है कि—

जो आत्मार्थमें जागृत हैं वे व्यवहारम सोते हैं।

जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्मि,
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणो कज्जे ॥

अर्थ—जो व्यवहारमें सोता है वह योगी अपने कार्यमें जागता ह तथा जो व्यवहार में जागता है वह अपने कार्यमें सोता है, इसलिये व्यवहारनय का श्रद्धान छोडकर निश्चयनयका श्रद्धान करने योग्य है।

सत्यकी स्थापना करो, जगह जगह प्रचार करो, शरीरादिकी

क्रिया करो —इसप्रकार जो व्यवहार में जागृत हैं व स्वभावमें सोते हैं। मिथ्यादृष्टि परके कायमें रुका है, वह अपने कायमें सोता है। यहाँ के श्री जिनमंदिर, समवशरण, स्वाध्याय मंदिर, प्रवचन मंडप मानस्तम्भ, ब्रह्मचर्य आश्रम आदि को देखकर लोगों को ऐसा लगता है कि यह सब अपने यहाँ बनवायें और बाह्यमें प्रभावना करें।—इस प्रकार जिनकी बुद्धि बाह्यमें है वे व्यवहारमें जागृत हैं और अपने कायमें सोते हैं।

ज्ञानी समझते हैं कि परकी महिमासे आत्माकी महिमा नहीं है। समन्तभद्राचार्य कहते हैं कि—अहो भगवन्! आपकी महिमा इन समवशरणादिसे नहीं है। आत्मामें अनन्त चतुष्टय प्रगट हुए हैं वह आपकी महिमा है,—इसप्रकार जो आत्माकी महिमामें जागृत हैं वे व्यवहारमें सोते हैं और अपने कायमें जागृत हैं। अज्ञानी परकी महिमा करता है, उसके धर्म की महिमा नहीं है।

देखो, अब सिद्धान्त कहते हैं कि—व्यवहारनय स्वद्रव्य-पर द्रव्य अथवा उनके भावोंका, अथवा कारण-कार्यादिका किसीका किसी में मिलाकर निरूपण करता है, इसलिये वह श्रद्धान मिथ्यात्व है। शरीर आत्माका है आठकर्म आत्माके हैं—इसप्रकार व्यवहार नय दो द्रव्योंको मिलाकर बात करता है किन्तु वस्तुका स्वभाव ऐसा नहीं है, इसलिये उस श्रद्धासे मिथ्यात्व होता है। इसलिये व्यवहार नयका श्रद्धान करने जैसा नहीं है। आत्माके दस प्राण होते हैं,—ऐसे व्यवहार कथनको सत्यार्थ मान लेना वह मिथ्यात्व है।

पुरुषार्थ सिद्ध्युपायमें कहा है कि—पदार्थका जैसा स्वभाव है उसका उसी भाँति निरूपण करना सो निश्चय है, और जिसप्रकार

थ्यात्व भाव यहाँ व्यवहारभाव—ऐसा कहा है। ज्ञानी के व्यवहार भाव नहीं है। देखो तो सही, यहाँ कड़क बात (नग्न सत्य) कही है। ग्रन्थकार ने व्यवहार भाव को मिथ्यात्व कहा है, वह एकत्व बुद्धि का व्यवहार है। ज्ञानी के एकत्वबुद्धि का व्यवहार नहीं होता। इसलिये व्यवहार में एकत्वबुद्धि मानना ही मिथ्यात्व है। व्यवहार से आत्म हित में लाभ है ऐसी मान्यता रूप एकत्व बुद्धि को जिनेश्वर भगवान ने छुड़ाया है।

आगे आठवें अधिकारमें आता है कि—भगवान ने मोक्षमार्ग का उपदेश दिया है और हम भी उपदेश देते हैं,—वह तो निमित्तका कथन है, किन्तु तदनुसार मानना नहीं चाहिये। वह मान्यता छोड़ने जसी है। आत्मा शुद्ध ज्ञानघन है, उसकी महिमा होने पर रागकी महिमा नहीं रहती। यहाँ व्यवहारका तो त्याग कराया है, इसलिये निश्चयको अंगीकार करके निजमहिमारूप प्रवर्तन करना योग्य है। मोक्षपाहुडकी ३१ वीं गाथामें कहा है कि —

जो आत्मार्थमें जागृत हैं वे व्यवहारमें सोते हैं।

जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्मि,
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणो कज्जे ॥

अर्थ—जो व्यवहारमें सोता है वह योगी अपने कार्यमें जागता है, तथा जो व्यवहार में जागता है वह अपने कार्यमें सोता है, इसलिये व्यवहारनय का श्रद्धान छोड़कर निश्चयनयका श्रद्धान करने योग्य है।

सत्धर्मकी स्थापना करो, जगह जगह प्रचार करो, शरीरादिकी

(१) एकेन्द्रियादि शरीरवाला जीव कहना वह द्रव्यमें द्रव्यका आरोप है। (२) इन्द्रियोंके निमित्तसे ज्ञान होता है, इसलिये ज्ञानको मूर्तिक कहना वह गुणमें गुणका आरोप है। (३) शुद्ध जीवकी पर्याय को जीवकी पर्याय कहना वह पर्यायमें पर्यायका आरोप है। (४) ज्ञान से अजीव द्रव्य ज्ञात होता है। इसलिये उस द्रव्यमें ज्ञानका आरोप करना वह दूसरे द्रव्यमें गुणका आरोप है। लकड़ी ज्ञानमें ज्ञात होती है इसलिये लकड़ीको ज्ञान कहना वह परद्रव्यमें गुणका आरोप है। (५) एक प्रदेशी पुद्गल–परमाणुका द्वि अणुक आदि स्कंधोंके सम्बन्धसे बहुप्रदेशी कहना वह द्रव्यमें पर्यायका आरोप है। (६) ज्ञानको आत्मा कहना वह गुणमें द्रव्यका आरोप है। (७) ज्ञानगुण की परिणमनशील ज्ञानगुणकी पर्याय कहना वह गुणमें पर्यायका आरोप है। (८) स्थूल स्कंधको पुद्गल द्रव्य कहना वह पर्यायमें द्रव्य का आरोप है और (९) उपयोगरूप पर्यायको ज्ञान कहना वह पर्याय में गुणका आरोप है–इन नौ बोलोंमें व्यवहारके सब बोलोंका समा वश होजाता है। यह व्यवहारनयका कथन है, किन्तु तदनुसार मानना नहीं चाहिये। विकार था इसलिये कर्मबंध हुआ वह व्यवहार का कथन है, किन्तु उसप्रकार मान लेना वह मिथ्यात्व है।

व्यवहारनय पदार्थका असत्यार्थ कथन करता है, तदनुसार मानना मिथ्यात्व है।

देखो, यहाँ पण्डितजी ने व्यवहारकी खूब स्पष्टता की है। पाठ शाला खोलकर विद्यार्थियों को तैयार किया, जिनमंदिर बनवाये,— यह सब व्यवहारका कथन है, किन्तु वस्तुका स्वरूप ऐसा नहीं है।

असत्यवादी मनुष्य अनेक कल्पनाएँ करके अपने असत्यको ताहृश कर दिखाता है, उसीप्रकार व्यवहारनय निमित्तका छल पाकर चढ़ा चढ़ाकर कथन करता है, इसलिये वह छोड़ने योग्य है।

[वीर सं० २४७६ प्र० वैशाख शुक्ला २ बुधवार ता० १५-४-५३]

व्यवहार जानने योग्य है उपादेय नहीं है।

श्री समयसारकी बारहवीं गाथामें कहा कि—साधक की भूमिकानुसार जो-जो राग आये उसे जानना प्रयोजनवान है। पूर्णदशा नहीं हुई तबतक राग आता है, उसे जानना वह व्यवहार है, किन्तु उसे आदरना व्यवहार नहीं है। वीतरागता एक अंश है और सरागता भी एक अंश है। उन दोनों भेद का सच्चा ज्ञान करना चाहिये। व्यवहारको जानना प्रयोजनवान है। व्यवहारके आश्रयसे लाभ होता है—ऐसी श्रद्धा छोड़ो। व्यवहार नहीं है-ऐसा मान तो एकांत-मिथ्यात्व होता है। व्यवहारनय स्वद्रव्य और परद्रव्यको एकमेक करके बात करता है, तदनुसार मान लेना वह मिथ्यात्व है।

नौ प्रकारके आरोप-व्यवहार

आलापपद्धतिमें नौ प्रकारके आरोपका व्यवहार कहा है। (१) द्रव्यमें द्रव्यका आरोप, (२) गुणमें गुणका आरोप, (३) पर्यायमें पर्यायका आरोप, (४) द्रव्यमें गुणका आरोप, (५) द्रव्यमें पर्यायका आरोप, (६) गुणमें द्रव्यका आरोप, (७) गुणमें पर्यायका आरोप, (८) पर्यायमें द्रव्यका आरोप, और (९) पर्यायमें गुणका आरोप करना वह व्यवहार है।

(१) एकेन्द्रियादि शरीरवाला जीव कहना वह द्रव्यमें द्रव्यका आरोप है। (२) इन्द्रियोंके निमित्तसे ज्ञान होता है, इसलिये ज्ञानको मूर्तिक कहना वह गुणमें गुणका आरोप है। (३) शुद्ध जीवकी पर्याय को जीवकी पर्याय कहना वह पर्यायमें पर्यायका आरोप है। (४) ज्ञान में अजीव द्रव्य ज्ञात होता है। इसलिये उस द्रव्यमें ज्ञानका आरोप करना वह दूसरे द्रव्यमें गुणका आरोप है। लकड़ी ज्ञानमें ज्ञात होती है इसलिये लकड़ीको ज्ञान कहना वह परद्रव्यमें गुणका आरोप है। (५) एक प्रदेशी पुद्गल–परमाणुका द्वि अणुक आदि स्कन्धोंके सम्बन्धसे बहुप्रदेशी कहना वह द्रव्यमें पर्यायका आरोप है। (६) ज्ञानको आत्मा कहना वह गुणमें द्रव्यका आरोप है। (७) ज्ञानगुण को परिणमनशील ज्ञानगुणकी पर्याय कहना वह गुणमें पर्यायका आरोप है। (८) स्थूल स्कंधको पुद्गलद्रव्य कहना वह पर्यायमें द्रव्य का आरोप है और (९) उपयोगरूप पर्यायको ज्ञान कहना वह पर्याय में गुणका आरोप है–इन नौ बोलोंमें व्यवहारके सब बोलोंका समावेश होजाता है। यह व्यवहारनयका कथन है, किन्तु तदनुसार मानना नहीं चाहिये। विकार था इसलिये कर्मबंध हुआ वह व्यवहार का कथन है, किन्तु उसप्रकार मान लेना वह मिथ्यात्व है।

व्यवहारनय पदार्थका असत्यार्थ कथन करता है, तदनुसार मानना मिथ्यात्व है।

देखो, यहाँ पण्डितजी ने व्यवहारकी खूब स्पष्टता की है। पाठशाला खोलकर विद्यार्थियों को तैयार किया, जिनमंदिर बनवाये,— यह सब व्यवहारका कथन है, किन्तु वस्तुका स्वरूप ऐसा नहीं है।

निमित्तकी उपस्थिति बतलाने के लिये शास्त्रोमें व्यवहारसे कथन किया होता है। व्यवहार पदार्थोंका असत्य कथन करता है, इसलिये वैसा मान नही लेना चाहिये। मानतुगाचार्य ने भक्तामर स्तोत्र' से ताले तोड डाले, सीताजी के ब्रह्मचर्यसे अग्नि पानीरूप होगई, श्रीपालका रोग गधोदकसे मिट गया, शान्तिनाथ भगवान शान्तिके कर्ता हैं,—आदि कथनको वास्तविक—सत्यार्थ मानना वह मिथ्यात्व है, क्योंकि किसी की पर्याय कोई नही करता, किन्तु निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध बतलानेके लिये व्यवहारसे कथन किया जाता है।

तीर्थकर भगवान ने अनत जीवोको तार दिया, यज्ञमें पशुओंकी हिंसा होती थी वह भगवान ने बन्द करादी, भगवानने तीर्थकी स्थापना की।—यह सब कथन निमित्त नैमित्तिक सबन्धके हैं। इसीप्रकार मान लेना वह मिथ्यात्व है। भगवान ने तीर्थकी स्थापना नहीं की है, भगवान ने हिंसा बन्द नही कराई है, और न भगवान ने अनत जीवको तारा है—यह सत्य बात है। क्योंकि कोई किसी का कुछ नही करता। शास्त्रमे आये कि सज्वलनकषायका तीव्र उदय हो तो छट्ठा गुणस्थान होता है, और मद उदय हो तो सातवा गुणस्थान होता है, यह निमित्तका कथन है, किन्तु वास्तवमें ऐसा नही है। ज्ञानावरणीय ने ज्ञानको रोका—इसप्रकार व्यवहारनय किसी के कारण कार्य किसीमे एकमेक करता है। पानी पीने से प्यास बुझी, खाने से भूख मिटी, और उससे आत्मामें शान्ति हुई—ऐसा मानना वह मिथ्यात्व है।

शास्त्रमें जहा-जहा व्यवहारका कथन आये, द्रव्यमें पर्यायका, द्रव्यमे गुणका, द्रव्यमें द्रव्यका आरोप किया जाये तो तदनुसार श्रद्धा

नहीं करना चाहिये। सासारिक बातामे खूब चतुराईबतलामें और यहाँ यह बात ध्यान पर कहे कि हमारी समझमें नहीं आता, तो इसका अर्थ यह है कि उसे धर्म की रुचि ही नहीं है। रुचि हो तो समझ मे आये बिना न रहे, और यह बात समझे बिना धर्म या शांति नहीं हो सकती। आत्माको समझे बिना णमोकार मन्त्र पढ़ते-पढ़ते देह छूट जाय, तथापि उसे समाधि नहीं कहा जा सकता। कदाचित् शुभभाव हो तो पुण्यबन्ध होता है। उँगलियास लकड़ी ऊँची हुई वह किसीका कारण कार्य किसी मे मिलाकर व्यवहारनयसे कथन किया है किन्तु वास्तवमें उँगलियों से लकड़ी ऊँची नहीं हुई है। उंगलियोसे मुह्म कौर जाता है यह व्यवहारनयका कथन है। आत्मा उँगलियोको नहीं चलाता, चबाकर नहीं खा सकता—यह यथार्थ है, क्योंकि कोई वस्तु किसी दूसरीका स्पर्श करती ही नहीं। आत्मा पुद्गलका स्पर्श करता ही नहीं, तो फिर आत्माके कारण भोजन लिया जाता है—ऐसा कहना वह व्यवहारनय का कथन है। चक्कीसे आटा पिसता है—ऐसा मानना वह मिथ्यात्व है, क्योंकि चक्की और गेहूँ के बीच अन्योन्य अभाव है। एक द्रव्यके कारण दूसरे द्रव्यका कार्य मानना वह मिथ्यात्व है। शिक्षकको व्यवस्था अच्छी है, इसलिये विद्यार्थी होशियार हैं, कवि सुन्दर काव्य बनाता है—ऐसा मानना वह मिथ्यात्व है। अज्ञानी लोग तो ऐसा ही मानते हैं, किन्तु सम्यग्ज्ञानी ऐसा नहीं मानते। निश्चयनय एक-दूसरे के अंशको एकमेक नहीं करता, इसलिये ज्ञानी उसकी श्रद्धा करते हैं। निश्चयनय किसीको किसी मे मिलावट नहीं करता, इसलिये ऐसा कहा है कि निश्चयकी श्रद्धा करना चाहिये और व्यवहारकी श्रद्धा छोड़ना चाहिये।

प्रश्न—यदि ऐसा है तो जिनमार्गमें दोनों नयोंका ग्रहण करना किसलिये कहा है ?

दोनों नयोंके ग्रहणका अर्थ

उत्तर—जिनमार्गमें कहीं तो निश्चयनयकी मुख्यता सहित व्याख्यान है, उसे तो सत्यार्थ—ऐसा ही है"—ऐसा जानना। द्रव्य, गुण और पर्याय स्वयं सिद्ध हैं,—उन्हें तो यही सत्य है—ऐसा जानना, तथा कहीं व्यवहारनयकी मुख्यता सहित व्याख्यान है, उसे 'ऐसा नहीं है," किन्तु निमित्तादिकी अपेक्षासे उपचार किया है—ऐसा जानना। क्रमसे विकार हुआ ऐसा है ही नहीं। आगे आयेगा कि दर्शनमोह से मिथ्यात्व होता है, वह व्यवहारका कथन है, इसलिये उसे सत्य नहीं मान लेना चाहिये। शास्त्रमें दो नयोंकी बात होती है। एक नय तो जैसा स्वरूप है वैसा ही कहता है, और दूसरा नय जैसा स्वरूप हो वैसा नहीं कहता, किन्तु निमित्तादिकी अपेक्षासे कथन करता है ऐसा जानना।

घी का घड़ा कहा जाता है किंतु घड़ा घी का नहीं है। घी का संयोग बतलाने के लिये घी का घड़ा कहा जाता है, वहाँ व्यवहारनय की मुख्यता से कथन है किंतु यथार्थरूप से वैसा नहीं है—ऐसा जानना, उसीका नाम दोनों नयों का ग्रहण है। राग होता है उसे जानना चाहिये, किंतु राग मेरा है और वह आदरणीय है—ऐसा नहीं मानना चाहिये। भगवान के दर्शन से अथवा देवऋद्धि से सम्यग्दर्शन होता है ऐसा नहीं मानना चाहिये। वह निमित्त का कथन है ऐसा जानना वह व्यवहारनय का ग्रहण है। निश्चयनय उपादेय है और व्यवहार

नय हेय है—ऐसा जानना वह दोनों नयों का ग्रहण है, किन्तु दोनों नय अंगीकार करने योग्य हैं—उसका नाम कहीं दोनों नयों का ग्रहण नहीं है। यहाँ तो जानने का नाम ही ग्रहण कहा है।

[वीर सं० २४७६ प्र० वैशाख शुक्ला ३ गुरुवार १६-४-५३]

दोनों नयों को सत्यार्थ नहीं जानना चाहिये।

जिसप्रकार ननिहाल के किसी व्यक्ति विशेष को "कहने मात्र के लिये" मामा कहते हैं, किन्तु वह सच्चा मामा नहीं है, नाम मात्र है, उसीप्रकार आत्मा की पर्याय में होनेवाले दया-दानादि के परिणामों को "कहने मात्र के लिये" धर्म कहा जाता है। आत्माकी श्रद्धा, ज्ञान और आचरण रूपी निश्चय धर्म प्रगट हुआ हो, उस जीव के शुभ राग को व्यवहार धर्म कहा जाता है—इसप्रकार दोनों पक्षों को जानने का नाम दोनों नयों का ग्रहण कहा है। व्यवहार को अंगीकार करने की बात नहीं है। घड़ा घी का नहीं है किंतु मिट्टी का है, उसीप्रकार शुभराग (व्यवहार) धर्म नहीं है, कहने मात्र के लिये है। —ऐसा जानने को व्यवहारनय का ग्रहण करना कहा है। जहाँ व्यवहार की मुख्यता सहित व्याख्यान हो वहाँ "ऐसा नहीं है, किन्तु निमित्तादि की अपेक्षा से उपचार किया है"—ऐसा जानना चाहिये। दोनों नयों के व्याख्यानों को समान सत्यार्थ जानकर भ्रमरूप प्रवर्तन नहीं करना चाहिये।

पुनश्च कोई कहे कि—(१) निश्चय से धर्म होता है और व्यवहार से भी धर्म होता है, अथवा (२) निश्चय से निश्चय धर्म है और व्यवहार से व्यवहार धर्म है, अथवा किसी समय उपादान से कार्य

होता है और कभी निमित्त से, अथवा (३) किसी समय ज्ञानावरणीय कर्म से ज्ञान रुकता है और (४) कभी अपने कारण ज्ञान रुकता है— ऐसा मानना भ्रमणा है। वास्तव में ज्ञानावरणीय कर्म से ज्ञान नहीं रुकता, अंतरायसे वीर्य नहीं रुकता, मोहनीय कर्म से चारित्र नहीं रुकता। कर्म से ज्ञान रुका—आदि समस्त कथन निमित्त के हैं।

निमित्त का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता।

गोम्मटसार में लिखा है कि—घी दूध रहित रूक्ष सूखे आहार से वीर्य का घात होता है, तो वह कथन निमित्त से है। बादाम पिस्ता से बुद्धि का विकास होता हो, तो भैंसे को खिलाने से उसकी बुद्धि का बहुत विकास होना चाहिये, किंतु ऐसा नहीं है। निमित्त के कथनों का अर्थ समझना चाहिये। आत्मा में भावकर्म अपने कारण है। उसमें द्रव्य कर्म निमित्त है और बाह्य पदार्थ नो कर्म है। उन सबका सम्बन्ध बतलाने के लिये ऐसा कथन किया है।

पुनश्च, स्मशान में कोई व्यक्ति अकेला जाये तो बहुत भय लगता है, दो व्यक्ति साथ जायें तो कम भय लगता है और तीन चार व्यक्ति आयुधादि सहित जायें तो बिलकुल कम भय लगता है। इसलिये वहाँ निमित्त का प्रभाव पड़ता है—ऐसा अज्ञानी कहते हैं, किंतु वह सब मिथ्या है। भय के परिणाम कम अधिक होते हैं व अपने कारण होते हैं, हथियार आदि के कारण भय कम नहीं होता—ऐसा जानना चाहिये। अपनी योग्यतानुसार परिणाम होते हैं, निमित्त का बिलकुल प्रभाव नहीं होता।

आत्मा में राग की उत्पत्ति न होना वह सच्ची अहिंसा है।

आत्मा में राग की उत्पत्ति न होना वह यथार्थ अहिंसा है, और

राग की मन्दता को अहिंसा कहना वह कथन मात्र है। पंच महाव्रत में पहला अहिंसा महाव्रत है यह कथनमात्र का है। वे सब राग के परिणाम हैं। निश्चय से तो वह हिंसा है तथापि उसे अहिंसा कहना वह उपचार मात्र है।

राग रहित दशा को निश्चय महाव्रत कहते हैं। मंद रागादि परिणाम कथनमात्र महाव्रत हैं। अज्ञानी तो जड़ की क्रिया में महाव्रत मानता है और समझ बिना दीक्षा ले लेता है, उससे अनन्त संसार की वृद्धि होती है। इसलिये दोनों नयों के व्याख्यान को समान सत्यार्थ जानकर "इसप्रकार भी है तथा इसप्रकार भी है,"—ऐसा भ्रमरूप प्रवर्तन करने के लिये दोनों नय ग्रहण करने को नहीं कहा है।

व्यवहारनय परमार्थ को समझाने के लिये है।

प्रश्न —यदि व्यवहार नय असत्यार्थ है तो जिनमार्ग में उसका उपदेश किसलिये दिया ? एक निश्चयनयका ही निरूपण करना था।

उत्तर —ऐसा ही तर्क श्री समयसार [गाथा ८] में किया है। वहाँ यह उत्तर दिया है कि—जैसे किसी अनार्य को उसी की भाषा बिना नहीं समझाया जा सकता, उसीप्रकार व्यवहारके बिना परमार्थ का उपदेश अशक्य है।

निश्चय मोक्षमार्ग सच्चा है। वीतरागी धर्म पर्याय सच्चा धर्म है। देखकर चलना, मृदु भाषा बोलना, वह वास्तव में समिति नहीं है। शास्त्र में कथन आता है कि मुनि को ईर्या समिति के अनुसार देखकर चलना चाहिये इत्यादि। तो ऐसा उपदेश क्यों किया ? उसके समा

होता है और कभी निमित्त से, अथवा (३) किसी समय ज्ञानावरणीय कर्म से ज्ञान रुकता है और (४) कभी अपने कारण ज्ञान रुकता है—ऐसा मानना भ्रमणा है। वास्तव में ज्ञानावरणीय कर्म से ज्ञान नहीं रुकता, अन्तरायसे वीर्य नहीं रुकता, मोहनीय कर्म से चारित्र नहीं रुकता। कर्म से ज्ञान रुका—आदि समस्त कथन निमित्त के हैं।

निमित्त का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता।

गोम्मटसार मे लिखा है कि—घी दूध रहित रूखा सूखा आहार से वीर्य का घात होता है, तो वह कथन निमित्त से है। बादाम पिस्ता से बुद्धि का विकास होता हो, तो भैंसे को खिलाने से उसकी बुद्धि का बहुत विकास होना चाहिये, किंतु ऐसा नहीं है। निमित्त के कथनों का अर्थ समझना चाहिये। आत्मा मे भावकर्म अपने कारण है। उसमें द्रव्य कर्म निमित्त है और बाह्य पदार्थ नो कर्म है। उन सबका सम्बन्ध बतलाने के लिये ऐसा कथन किया है।

पुनश्च, श्मशान मे कोई व्यक्ति अकेला जाये तो बहुत भय लगता है, दो व्यक्ति साथ जायें तो कम भय लगता है और तीन चार व्यक्ति आयुधादि सहित जायें तो बिलकुल कम भय लगता है। इसलिये वहाँ निमित्त का प्रभाव पड़ता है—ऐसा अज्ञानी कहते हैं, किन्तु वह सब मिथ्या है। भय के परिणाम कम अधिक होते हैं व अपने कारण होते हैं, हथियार आदि के कारण भय कम नहीं होता—ऐसा जानना चाहिये। अपनी योग्यतानुसार परिणाम होते है, निमित्त का बिलकुल प्रभाव नहीं होता।

आत्मा में राग की उत्पत्ति न होना वह सच्ची अहिंसा है।

आत्मा मे राग की उत्पत्ति न होना वह यथार्थ अहिंसा है, और

राग की मंदता को अहिंसा कहना वह कथन मात्र है। पंच महाव्रत में पहला अहिंसा महाव्रत है वह कथनमात्र का है। वे सब राग के परिणाम हैं। निश्चय से तो वह हिंसा है तथापि उसे अहिंसा कहना वह उपचार मात्र है।

राग रहित दशा को निश्चय महाव्रत कहते हैं। मंद रागादि परिणाम कथनमात्र महाव्रत हैं। अज्ञानी तो जड़ की क्रिया में महाव्रत मानता है और समझे बिना दीक्षा ले लेता है, उससे अनन्त संसार की वृद्धि होती है। इसलिये दोनों नयों के व्याख्यानों को समान सत्यार्थ जानकर "इसप्रकार भी है तथा इसप्रकार भी है,"—ऐसा भ्रम रूप प्रवर्तन करने के लिये दोनों नय ग्रहण करने को नहीं कहा है।

व्यवहारनय परमार्थ को समझाने के लिये है।

प्रश्न —यदि व्यवहार नय असत्यार्थ है तो जिनमार्ग में उसका उपदेश किसलिये दिया? एकनिश्चयनयका ही निरूपण करना था।

उत्तर —ऐसा ही तर्क श्री समयसार [गाथा ८] में किया है। वहां यह उत्तर दिया है कि—जैसे किसी अनार्य को उसी की भाषा बिना नहीं समझाया जा सकता, उसीप्रकार व्यवहारके बिना परमार्थ का उपदेश अशक्य है।

निश्चय मोक्षमार्ग सच्चा है। वीतरागी धर्म पर्याय सच्चा धर्म है। देखकर चलना, मृदु भाषा बोलना, वह वास्तव में समिति नहीं है। शास्त्र में कथन आता है कि मुनि को ईर्या समिति के अनुसार देखकर चलना चाहिये इत्यादि। तो वैसा उपदेश क्यों किया? उसके समा

धान मे उत्तर देते हैं कि —व्यवहारके बिना परमार्थको नही समझाया जा सकता।

"स्वस्ति" शब्द का अर्थ अनार्य नही समझ सकता, किन्तु "स्वस्ति" का अर्थ उसकी भाषा में समझायें कि—"तेरा अविनाशी कल्याण हो," तो वह जीव समझ सकता है।—ऐसा व्यवहार का उपदेश है। म्लेच्छ भाषा में समझाना चाहिये, किन्तु ब्राह्मण को म्लेच्छ नही बनना चाहिये। उसीप्रकार व्यवहार से समझाया जाता है किन्तु उसे निश्चय नही मानना चाहिये। आत्मा में दर्शन, ज्ञान, चारित्र—ऐसे भेद डालकर समझाते हैं किंतु वे कथनमात्र हैं। आत्मा में वास्तव मे ऐसे भेद नही हैं, वह तो अभेद है। अज्ञानी के मन में व्यवहार रम रहा है, इसलिये व्यवहार की भाषा से आत्मा का स्वरूप कहता है, किन्तु वह वस्तु का स्वरूप नही है।

पुनश्च, व्यवहार अगीकार करने के लिये उसका कथन नही करते, व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश अशक्य है, इसलिये व्यवहार का उपदेश है। और उसी सूत्र की व्याख्या मे ऐसा कहा है कि—इसप्रकार निश्चय को अगीकार कराने के लिये व्यवहार द्वारा उपदेश देते हैं। पच महाव्रत, अट्ठाईस मूलगुण आदि व्यवहारनय का विषय है, किन्तु वह अगीकार करने योग्य नही है। तो भी मुनि दशा मे ऐसे शुभभाव आते ही हैं, लाना नही पडते।

प्रश्न —व्यवहार के बिना निश्चय का उपदेश नही हो सकता, तो व्यवहारनय को क्यो अगीकार न करें?

उत्तर —यहाँ दूसरे प्रकार से कथन है। समयसार मे आत्मा

वस्तु को अभेद रूप परमार्थ कहा है और उसके पर्यायादि भेदों को व्यवहार कहा है। एकरूप अभेद आत्मा की दृष्टि कराने के लिये अपनी पर्याय के भेदों को गौण करके व्यवहार कहा है। यहाँ मोक्ष-मार्ग प्रकाशक में परद्रव्य से भिन्न और स्व भावों से अभिन्न वस्तु कही है। यहाँ अपनी पर्याय अपने में ली है, वस्तु अपने गुण-पर्यायों से अभिन्न है ऐसा यहाँ कहा है।

यहाँ स्व के द्रव्य-गुण पर्याय को निश्चय कहा है और शरीर, कर्म, निमित्तादि को व्यवहार कहा है। वस्तु है वह पर द्रव्य से भिन्न है और अपने भावों से अभिन्न है। अपने द्रव्य गुण-पर्याय अपने कारण स्वयं सिद्ध हैं, विकारी या अविकारी पर्याय स्व से है—पर से नहीं है। यहाँ विकारी पर्याय सहित द्रव्य को निश्चय कहते हैं और जड की पर्याय को जड द्रव्य का निश्चय स्वरूप कहते हैं।

व्यवहारनय से कथन के तीन प्रकार।

श्री समयसार की १४ वी गाथामें व्यंजन पर्याय तथा अर्थपर्याय को भी व्यवहार कहा है। उसे यहाँ अभिन्न वस्तु में लिया है।—ऐसी अपेक्षा समझना चाहिये। जो आत्मा को न पहिचानता हो उस से ऐसे ही कहते रहें तो वह नहीं समझेगा। इसलिये उसे समझाने के लिये व्यवहार नय से [१] शरीरादि पर्याय की सापेक्षता से बतलाते हैं। यह एकेन्द्रिय जीव, यह मनुष्य जीव—ऐसा कहते हैं। पंचेन्द्रिय जीव के दस प्राण हैं—इसप्रकार शरीरादि परद्रव्य की अपेक्षा करके नर, नारकी, पृथ्वीकायादि जीव के भेद किये हैं। जड की

अपेक्षा लेकर जीव की पहिचान कराने के लिये शरीर को जीव कह देते हैं। जो जीव आत्मा के अभेद स्वरूप को नहीं समझता, निमित्त के सम्बन्ध से रहित, इन्द्रिय आदि दस प्राणो के सम्बन्ध से रहित, आत्मा का यथाथ निश्चय जिसने नही किया है, उसे शरीरादि सहित जीव की पहिचान करात हैं।

(२) अब अ तर् के व्यवहार से जीव की पहिचान कराते हैं। अभेद वस्तु मे भेद उत्पन्न करके, ज्ञान दर्शनादि गुण पर्याय रूप जीव के भेद किये हैं। यह जो जाता है वह जीव है, दृष्टा है वह जीव है, वीर्यवान है वह जीव है,—इसप्रकार भेद से जीव की पहिचान कराते हैं।

श्री समयसारकी सातवी गाथामें कहा है कि—पर्यायमें भेद है, किन्तु अभेद–सामा य द्रव्य स्वरूपको मुख्य कराने के लिये पर्याय के भेदो को गौण करके व्यवहार कहते हैं। इसलिये भेद अवस्तु है। भेद अपनी पर्याय है, किन्तु भेद के लक्षसे रागी जीवको राग होता है, इसलिये अभेदको मुख्य तथा भेदको गौण करके उसे अवस्तु कहा है। यहाँ मोक्षमार्ग प्रकाशकमें भेदको स्वयं सिद्ध वस्तुम गिना है और भेदसे समझात हैं। अब तीसरा बोल कहते हैं।

(३) पुनश्च, रागरहित अभेद स्वभावकी श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र वह मोक्षमार्ग है। पच महाव्रतादिके परिणाम मोक्षमार्ग नहीं हैं। लाखों रुपये का दान करे उससे धम तो नही है, कि तु उसमें जो कषायमदता हो वह पुण्य है। पसा पाप नही है, किन्तु पसेको अपना मानना वह पाप है। पैसा जाने रूप जो क्रिया है वह पुण्य नहीं है,

दानादिकमें कषायकी मंदताके परिणाम करे वह पुण्य है, किन्तु वे पुण्यपरिणाम मोक्षमार्ग नहीं हैं। किन्तु वीतरागभावसे ही मोक्षमार्ग है किन्तु अज्ञानी जीव वीतरागभाव वह मोक्षमार्ग—इतने से नहीं समझना, इसलिये उसे व्यवहारनय द्वारा समझाते हैं।

मोक्षमार्ग प्रकाशक दे० पृष्ठ ३७१ में "व्यवहारनयसे तत्त्व-श्रद्धान ज्ञानपूर्वक परद्रव्यके निमित्त मिटानेकी " लिखा है। उसमें 'व्यवहारनय' शब्द लिखा है वह 'तत्त्वश्रद्धान ज्ञान के साथ लागू नहीं होता। तत्त्वश्रद्धान ज्ञान तो निश्चय है, व्यवहार नहीं है। जिसके निश्चय तत्त्वश्रद्धान ज्ञान प्रगट हुए हैं उसे व्यवहारनयसे परद्रव्यके निमित्त मिटने की सापेक्षता द्वारा व्रतादिके भेद बतलाते हैं। वीतरागी चारित्र वह मोक्षमार्ग है—ऐसा अज्ञानी नहीं समझता इसलिये व्यवहारसे समझाते हैं। अपने में अशुभराग मिटता है और शुभराग होता है, उस शुभरागके व्रत, शील आदि भेद बताकर वीत-रागभावकी पहिचान कराते हैं। जिसे निश्चय तत्त्वश्रद्धान ज्ञान हुए हैं, उसके जो वीतरागभाव प्रगट होता है उस वीतरागभावको व्रत, शील, संयमादिरूप शुभभावके भेदों द्वारा समझाते हैं, क्योंकि अज्ञानी "वीतरागभाव"—इतना मात्र कहने से नहीं समझता।

[वीर सं० २४७६ प्र० वैशाख शुक्ला ४ शुक्रवार १७-४-५३]

यह मोक्षमार्ग प्रकाशक है। मोक्षमार्ग अर्थात् क्या ?—आत्मा की पर्यायमें राग-द्वेष अज्ञानभावरूप विकार है वह संसार है, और उस विकारसे रहित पूर्ण निर्मल ज्ञानानंददशा प्रगट हो उसका नाम मोक्ष है, और उस मोक्षका जो कारण है वह मोक्षमार्ग है। शुद्ध

आत्माकी श्रद्धा, ज्ञान और रमणता वह मोक्षमार्ग है। परजीवका जीवन या मरण आत्मा नहीं कर सकता, और दयादिका शुभभाव हो वह भी वास्तवमें मोक्षमार्ग नहीं है। मोक्षमार्ग तो वीतरागभाव है। सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र यह तीनों वीतरागभावरूप हैं। मेरा आत्मा ज्ञानानन्द स्वरूपी है—ऐसी वीतरागी श्रद्धा हो वह सम्यग्दर्शन है। मैं परका भला बुरा कर सकता हूँ—ऐसी मान्यता वह अज्ञान है। आत्माकी श्रद्धा ज्ञान चारित्ररूप वीतरागभाव ही मोक्षमार्ग है, उसे जो नहीं पहिचानता उसे व्यवहारनयसे व्रतादि के भेद करके समझाया है। व्यवहारश्रद्धा कहीं मोक्षमार्ग नहीं है। मोक्षमार्ग तो वीतरागी रत्नत्रय ही है, किन्तु उसे भेद करके समझाया है।

जीवादि सातों तत्त्व जिसप्रकार भिन्न भिन्न हैं, उसीप्रकार उनकी श्रद्धा करना चाहिये। सातों तत्त्वोंके भावोंका यथार्थ भासन होना वह निश्चय सम्यग्दर्शन है। यथार्थ तत्त्वश्रद्धा और ज्ञानपूर्वक वीतरागभाव हुआ वह मोक्षमार्ग है। ज्ञानानंद स्वरूपका यथार्थ भान हुआ हो और विकार हो वह मेरे स्वभावके लिये व्यर्थ है, और जड़की क्रिया मेरे लिये साधक या बाधक नहीं है—ऐसी श्रद्धा-ज्ञानसहित वीतरागभाव वह मोक्षमार्ग है, किंतु जो जीव ऐसे भावको नहीं पहिचानता उसे व्रतादि भेद करके समझाया है, उसका नाम व्यवहार है। मोक्षमार्गरूप वीतरागभाव तो एकही प्रकार का है, तथापि अनेक प्रकारों से उसका कथन करना वह व्यवहार है। इसका यह अर्थ नहीं है कि व्यवहार श्रद्धा ज्ञान चारित्र भी मोक्षमार्ग है। व्यवहार श्रद्धा ज्ञान चारित्र वह मोक्षमार्ग नहीं है, किन्तु निश्चय मोक्षमार्गका स्वरूप समझाने के लिये व्यवहारसे भेद करके समझाना वह व्यवहार है।

रागादिसे मोक्षमार्ग नहीं है। पदा रूप करने से धर्म नहीं हो जाता और न पते से पुण्य भी है। पैसा खर्च करते समय मंदकषाय हो तो पुण्य होता है, धर्म तो भिन्न ही वस्तु है।

मोक्षमार्ग तो वीतरागभाव है। आत्माकी परमानन्ददशा प्रगट हो वह मोक्ष है। मोक्ष आत्मामें होता है। उसका उपाय भी आत्मा का वीतरागभाव है, और वह वीतरागभाव एक ही प्रकारका है। जो उसे नहीं समझता उसे व्रतादिके अनेक भेद करके समझाया है। पहले स्त्री–व्यापारादिको अशुभपरिणामोंका निमित्त बनाता था किन्तु आत्माके भानपूर्वक सतत वीतरागता होने से हिंसादिके अशुभ निमित्त छूट गये वहाँ निमित्त छूटने की अपेक्षासे अहिंसा, सत्यादि भेद करके समझाया है, किंतु वहाँ जो उसका शुभराग है वह वहाँ वास्तवमें मोक्षमार्ग नहीं है मोक्षमार्ग तो वीतरागभाव है। हिंसाभाव छूटा वहाँ हिंसाके निमित्त भी छूट गये। राग द्वेषके समय स्त्री आदि निमित्त थे, वीतरागभाव होने पर वे निमित्त छूट गये इसलिये व निमित्त छूटने की अपेक्षासे अहिंसादि व्रत आदिका उपचारसे मोक्ष-मार्ग कहकर वीतरागभावकी पहिचान कराई है, किन्तु व्रतादिके जो शुभभाव हैं वे कहीं वीतरागभाव नहीं हैं।

जिसके वीतरागभावरूप मोक्षमार्ग प्रगट हुआ है, उसके व्रतादिको उपचारसे मोक्षमार्ग कहा है।

अज्ञानी लोग कहते हैं कि अनासक्तिभावसे जगतके कार्य करना चाहिये, किन्तु वह बात मिथ्या है। परके कार्य आत्मा कर ही नहीं

सकता, तथापि मैं उन्हें करता हूँ—*ऐसा मानता है वही मिथ्यात्व है।* जड इन्द्रियोंको जीतना चाहिये—ऐसा अज्ञानी मानता है, वह बात भी मिथ्या है। इन्द्रियाँ जड हैं, उन्हें जीतना कैसा? किन्तु अंतरमें आत्माका भान होने पर इन्द्रियों मुक्तताख्प राग छूट जाने से इन्द्रियों का निमित्त छूट गया, और इन्द्रियों को जीत लिया ऐसा कहा जाता है सम्यग्दर्शन ज्ञानपूर्वक भूमिकानुसार वीतरागभाव हुआ वह मोक्षमार्ग है, और उस भूमिकामें व्रतादिका शुभराग भी होता है। जहाँ वीतराग भावरूपी यथार्थ मोक्षमार्ग प्रगट हुआ है वहाँ व्रतादि भेदों को उपचारसे मोक्षमार्ग कहा है, किन्तु जिसके वीतरागभावरूप मोक्षमार्ग प्रगट ही नहीं हुआ है, उसके अकेले रागको उपचारसे भी मोक्षमार्ग नहीं कहते। यहाँ तो उस जीव की बात है जिसे तत्त्व का निश्चय श्रद्धा ज्ञान प्रगट हुआ है। निश्चय श्रद्धा ज्ञान के बिना तो मोक्षमार्ग का अंश भी वीतरागभाव नहीं होता। व्यवहार भी नहीं होता।

मुनि को चैतन्यकी निश्चय श्रद्धा ज्ञान पूर्वक उसमें लीनता से वीतराग भाव होने पर हिंसा चोरी-परिग्रहादि का अशुभ भाव नहीं होता। वहाँ अहिंसाव्रत, सत्यव्रत आदि भेद करके उसे समझाया है, किन्तु यहाँ मोक्षमार्ग तो वीतराग भाव है। वह वीतराग भाव एक ही प्रकार का है। राग और निमित्त छूटने की अपेक्षा से पंच महाव्रतादि, भेदो से मोक्षमार्ग का कथन करके समझाया है। इसलिये यथार्थ वस्तुस्थिति क्या है उसे प्रथम समझना चाहिये। शरीरकी क्रिया बराबर हो तो धर्म होता है—ऐसा अज्ञानी मानता है, किन्तु शरीर की क्रिया में कहीं धर्म नहीं है। महावीतरागी मुनि हो और शरीर में अमुक लकवा हो गया हो, तो वहाँ शरीर की क्रिया से वंदनादि

नही कर पाते, तथापि अतर म स्वभावके अवलम्बन से निश्चय श्रद्धा ज्ञान चारित्र रूप वीतरागभाव बना है यह मोक्षमार्ग है। मुनि की दिगम्बर दशा होती है, वस्त्रका राग उनके नही होता। अट्ठाईस मूल गुण होते हैं, किंतु मूलगुणों का शुभ भाव वही मोक्षमार्ग नही है। मोक्षमार्ग तो अतर स्वरूप के आश्रय से प्रगट हुआ वीतरागभाव है। पच महाव्रत के विकल्पो के समय उसम उस भूमिका के योग्य वीतराग भाव है, वही मोक्षमार्ग है।

जड पदार्थ जगत के स्वतत्र तत्त्व हैं। आहार का आना या न आना यह जड की क्रिया है आत्मा की नहीं। अज्ञानी आत्मा के भान बिना जडकी क्रिया का अभिमान करता है, उसे मोक्षमार्ग की खबर नहीं है।

"बोले उसके दो"

निश्चय का उपदेश करते समय बीच में भद रूप व्यवहार मे कथन आये बिना नही रहता। निश्चय मोक्षमार्ग तो एक ही प्रकार का है, किंतु उसे समझाते समय भद करके समझाया है। "बोले वह दो मागे"—इसप्रकार निश्चय का उपदश करत समय बीचमें व्यवहार आये बिना नही रहता। इस सम्बन्ध म एक दृष्टान्त आता है। काका भतीजेके बीच पाच लड्डू थे वहाँ दोना झगडपडे और उन्हो ने निर्णय किया कि जो बोलगा उस दो मिलेंगे और नही बोलेगा उसे तीन। फिर वो दोना चुप होकर लेट गये। लोगो न समझा कि यह दोनो मर गये हैं, इसलिये उन्हे जलान के लिये श्मशान म ले गये और जलाने की तयारी की। इतने म भतीजे स नही रहा गया और

सकता, तथापि मैं उन्हें करता हूँ—ऐसा मानता है वही मिथ्यात्व है। जड इन्द्रियोंको जीतना चाहिये—ऐसा अज्ञानी मानता है, वह बात भी मिथ्या है। इन्द्रियाँ जड हैं उन्हें जीतना कैसा? किन्तु अंतरमें आत्माका भान होने पर इन्द्रियों मुख्यतारूप राग छूट जाने से इन्द्रिया का निमित्त छूट गया, और इन्द्रियों को जीत लिया ऐसा कहा जाता है सम्यग्दर्शन ज्ञानपूर्वक भूमिकानुसार वीतरागभाव हुआ वह मोक्षमार्ग है और उस भूमिकामें व्रतादिका शुभराग भी होता है। जहाँ वीतराग भावरूपी यथार्थ मोक्षमार्ग प्रगट हुआ है वहाँ व्रतादि भेदों को उपचारसे मोक्षमार्ग कहा है, किन्तु जिसके वीतरागभावरूप मोक्षमार्ग प्रगट ही नहीं हुआ है, उसके अकेले रागको उपचारसे भी मोक्षमार्ग नहीं कहते। यहाँ तो उस जीव की बात है जिसे तत्त्व का निश्चय श्रद्धा ज्ञान प्रगट हुआ है। निश्चय श्रद्धा ज्ञान के बिना तो मोक्षमार्ग का अंश भी वीतरागभाव नहीं होता। व्यवहार भी नहीं होता।

मुनि को चैतन्यकी निश्चय श्रद्धा ज्ञान पूर्वक उसमें लीनता से वीतराग भाव होने पर हिंसा चोरी परिग्रहादि का अशुभ भाव नहीं होता। वहाँ अहिंसाव्रत, सत्यव्रत आदि भेद करके उसे समझाया है, किन्तु वहाँ मोक्षमार्ग तो वीतराग भाव है। वह वीतराग भाव एक ही प्रकार का है। राग और निमित्त छूटने की अपेक्षा से पंच महाव्रतादि, भेदों से मोक्षमार्ग का कथन करके समझाया है। इसलिये यथार्थ वस्तुस्थिति क्या है उसे प्रथम समझना चाहिये। शरीरकी क्रिया बराबर हो तो धर्म होता है—ऐसा अज्ञानी मानता है, किन्तु शरीर की क्रिया में कहीं धर्म नहीं है। महावीतरागी मुनि हो और शरीर में प्रमुक लकवा हो गया हो, तो वहाँ शरीर की क्रिया से वंदनादि

है; घोड़े के शरीर को [illegible] घोड़े का जीव —ऐसा कहा जाता है, किन्तु वह कहने मात्र के लिये है। वास्तव में घोड़े का शरीर घोड़ा जीव नहीं है, जीव तो पृथक् है। आत्मा शरीर का ज्ञाता है। आत्मा "चिद्रूप" चेतनाशरीरी है। शरीरादि, आत्मा से भिन्न हैं, किन्तु वह सुन्दर कलेवर देख इस जड़ शरीर में मूर्छित हो गया है। आज तुम भी शरीर तो सुन्दर कलेवर ही है। श्री समयसार की २६ वीं गाथा में कहते हैं कि—भगवान आत्मा तो परम अमृतमय चिदानन्द है और शरीर तो जड़ अमूर्त कलेवर है। [illegible] पुद्गल शरीर हो गये? शरीर की क्रिया तुम से होती है —ऐसा मानना है मूर्ख कलेवर में मूर्छित हुआ है। जब आत्मा शरीर से भिन्न भासित नहीं होता। निश्चय से तो आत्मा चिदानन्द है और शरीर के संयोग से जीव का कथन किया वह व्यवहार है किन्तु कहीं वास्तव में जीव को शरीरवाला ही मान ले तो वह जीव मिथ्यादृष्टि है। अरे जीव! शरीर तो पुद्गल है और तू तो चैतन्यघन है, इसलिये ये शरीर को अपना है —ऐसा मत मान [illegible] मान छोड़ दे। शरीर तो सुन्दर कलेवर है, वह तेरे धर्म का साधन नहीं है। तेरा आत्मा अमूर्त सिद्ध चिदानन्द है वही तेरे धर्म का साधन है। शरीर को जीव कहा वहाँ आत्मा तो चिदानन्द है और शरीर जड़ है उससे जीव पृथक् है ऐसा समझना चाहिये।

व्यवहारका दूसरा प्रकार

(२) पुनश्च, व्यवहारका दूसरा प्रकार यह है कि अभेद आत्मा में ज्ञानादिके भेद करके कथन किया वह व्यवहार है किन्तु

बोला कि—"उठो काका, तीन तुम्हारे और दो मेरे ?" उसीप्रकार आत्मा का चिदानन्द स्वभाव है। उसमे निर्विकल्प श्रद्धा, ज्ञान और एकाग्रतारूप मोक्षमार्ग है। बीच मे जो विकल्प उठता है वह राग है। उपदेश का विकल्प उठा वहा निश्चय श्रद्धा और ज्ञानरूप दो लड्डू रहे, किन्तु निर्विकल्प रमणतारूप तीसरा लड्डू गँवा दिया, इसलिये कहा है कि—"बोले उसके दो।" और निर्विकल्परूप से चैतन्य में एकाग्र हुआ वहाँ सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र तीनो की एकतारूप मोक्ष मार्ग है। व्यवहार से कथन किया, वहा उसीसे चिपटा रहे और उस का परमार्थ न समझे तो वह मिथ्यादृष्टि है।

व्यवहार का पहला प्रकार

(१) नर नारकादि शरीर को जीव, नरक का जीव अथवा देवका जीव कहा, वहा वास्तव मे जो शरीर है वह जीव नही है, किन्तु अज्ञानी शरीर रहित अकेले जीव को नही पहिचानता, इसलिये उसे समझाने के लिये शरीर के निमित्त से कथन करके जीव की पहिचान कराई है। किंतु वहाँ शरीर को ही जीव नहीं मान लेना चाहिये। वर्तमान मे भी शरीर तो जड है। शरीर और जीव के सयोग की अपेक्षा से कथन किया कि—यह एकेंद्रिय जीव, यह नारक का जीव, किंतु वास्तव में वहाँ जीव तो उन एकेंद्रियादि शरीरो से भिन्न ही है। जिसका लक्ष भिन्न जीव पर नही है, उसे सयोगकी अपेक्षासे कथन करके समझाया है, किंतु कथन किया उससे कही शरीर जीव नही बन जाता। अज्ञानीने शरीर रहित अकेला आत्मा कभी नही देखा है, इसलिये उसे समझाने के हेतु उपचार से कथन किया है वह व्यवहार

है जैसे कि शरीर की प्रशंसा से जीवों का जीव —ऐसा कहा जाता है किन्तु वह कहने मात्र के लिये है। वास्तव में घी-जैसा शरीर वहाँ जीव नहीं है, जीव तो पृथक् है। जीव का शरीर तो जड़ है। "प्राण बिन्दु" इत्यादि दृष्टान्त है। इत्यादि का आशय समझाते हैं, किन्तु वह पृथक् करके देख इस जड़ शरीर से पृथक् हो गया है। आत्मा भी शरीर से पृथक् करके रहा है। इस समयसार की २६ वीं गाथा में कहते हैं कि—व्यवहारनय कहता है कि आत्मा ज्ञायक है, और शरीर तो जड़ अचेतन वस्तु है। इसकी भिन्न चेतना को पृथक् शरीर ही से है, क्योंकि क्रिया शुभ न होती है —ऐसी मान्यता से पृथक् करके मैं मुक्ति हुआ है उसे आत्मा शरीर से भिन्न मालूम नहीं होता। विवेक से तो आत्मा ज्ञायक है और शरीर के संयोग से जीव का कथन किया वह व्यवहार है, किन्तु वहाँ वास्तव में जीव का स्वरूप तो ज्ञाता ही है वह जीव लिया है। मेरे जीव में शरीर तो जुदा है और तू तो चेतनमय है, इसलिये 'मैं शरीर को चलाता हूँ' —ऐसा अज्ञान करना भी व्यवहार है। शरीर तो पृथक् व जड़ है वह मेरे धर्म का साधन नहीं है। मेरा आत्मा प्रभु निज ज्ञायक है वही मेरे धर्म का साधन है। शरीर को जीव कहा वहाँ जीव तो ज्ञायक है और शरीर जड़ है, उससे जीव पृथक् है ऐसा समझना चाहिये।

व्यवहार का दूसरा प्रकार

(२) पुनश्च, व्यवहार का दूसरा प्रकार यह है कि अभेद आत्मा में ज्ञान दर्शनादि भेद करके कथन किया वह व्यवहार है, किन्तु

वास्तवमें वहाँ आत्मा तो अभेद है अपने द्रव्य गुण पर्यायोंसे एकरूप है, किंतु जाने वह आत्मा, श्रद्धा करे वह आत्मा, आनंद वह आत्मा इसप्रकार भिन्न भिन्न गुणोंके भेदसे आत्माकी पहिचान कराई है, किंतु वहाँ कहीं आत्मा अलग अलग नहीं है आत्मा तो समस्त गुणोंका अभेद पिण्ड है। समझाने के लिये अनेक भेद करके कहा है, किन्तु निश्चय से आत्मा अभेद है वही जीववस्तु है—ऐसा समझना। विश्वास करनेवाला कौन है? शरीर, पैसा, स्त्री आदि का विश्वास करता है वह कौन है?—तो कहते हैं कि आत्मा अपने श्रद्धा गुणसे विश्वास करता है, इसलिये श्रद्धा करे वह आत्मा है। तो हे भाई! अपने श्रद्धा गुण द्वारा जिसप्रकार तू परका विश्वास करता है उसी प्रकार श्रद्धाको अंतर्मुख करके अपने आत्माकी श्रद्धा कर,—इसप्रकार समझाया है। वहाँ कहीं श्रद्धा और आत्माके बीच भेद नहीं है, किन्तु समझाते हुए कथनमें भेद आता है।

पहले तो ऐसा कहा कि—शरीरादि परवस्तुओं को जीव कहना वह कथनमात्र है, वास्तवमें जीव वैसा नहीं है। जीव तो शरीर से भिन्न है। उसीप्रकार गुण भेदसे समझाया है। किन्तु वस्तु तो गुण-पर्यायोंका एक अभेद पिण्ड है, इसलिये भेदसे वस्तुकी श्रद्धा नहीं करना चाहिये, किंतु अभेद वस्तुकी श्रद्धा करना चाहिये। परसे भिन्न और स्वभावसे अभिन्न, इसप्रकार जीवकी पहिचान कराई है। अब व्यवहारका तीसरा प्रकार कहते हैं। व्रतादि भेदों को मोक्षमार्ग कहा वहाँ वास्तवमें वह मोक्षमार्ग नहीं है। सच्चा मोक्षमार्ग तो वीतराग-भाव ही है—वह बात अब कहेंगे।

[वीर० सं० २४७६ प्र० वैशाख शुक्ला २ शनिवार १७-४-५३]

आत्मा ने सच्चे-देव-गुरु-शास्त्रका ग्रहण किया और कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्रको छोड़ा—यह भी उपचार से है। क्योंकि आत्माकी पहिचान होने से वीतरागी देव गुरु-शास्त्रकी भक्तिका शुभराग आया और कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्रका मिथ्यात्व छूट गया वहाँ कुदेवादि निमित्त भी छूट गये। आत्मा ने उन्हें छोड़ा—ऐसा कहना वह व्यवहार मात्र है। परका कौन ग्रहण-त्याग कर सकता है?

स्वरूपमें लीन हुआ और सच्चे देव-गुरु-शास्त्रका राग भी छूट गया, वहाँ निमित्तका लक्ष छूटने की अपेक्षासे ऐसा कहा जाता है कि देव-गुरु-शास्त्रको भी छोड़ दिया। परद्रव्य का निमित्त मिटनेकी अपेक्षासे कथन किया है कि—हिंसा छोड़कर परजीवकी अहिंसा ग्रहण की, असत्यका त्याग किया और सत्यका ग्रहण किया, चोरी छोड़ी और अचौर्यका ग्रहण किया परिग्रहका त्याग किया और दिगम्बरदशा ग्रहण की, अब्रह्म छोड़ा और ब्रह्मचर्य ग्रहण किया, किंतु वहाँ ऐसा समझना चाहिये कि स्वभावके अवलम्बनसे आत्मामें वीतरागभाव होने से उस-उसप्रकार का राग छूट गया। वास्तवमें रागको छोड़ना भी व्यवहारसे है, क्योंकि जो राग हुआ उसे उस-समय छोड़ना कैसा? और दूसरे समय तो उस रागका व्यय हो जाता है। इसलिये वास्तवमें रागका भी ग्रहण त्याग नहीं है, किन्तु स्वभावमें एकाग्रता द्वारा वीतरागभाव प्रगट हुआ वहाँ ऐसा कहा जाता है कि रागको छोड़ा। और राग छूटने पर ऐसा भी उपचारसे कहा जाता है कि अहिंसादि निमित्तोंको छोड़ दिया। पंचमहाव्रतादिका,

शुभभाव होनेसे हिंसादिकी ओर का अशुभभाव छूट गया, किंतु वहाँ के शुभ रागरूप संयमादि अथवा व्रत आस्रव है बंधमार्ग है, मोक्षमार्ग नहीं है। छह कायकी दयाका भाव वास्तवमें मोक्षमार्ग नहीं है। मोक्षमार्ग तो वीतरागभाव ही है, उस वीतरागभावमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रका समावेश हो जाता है।

व्यवहारका तीसरा प्रकार

परद्रव्यका निमित्त मिटने की अपेक्षासे व्रत-तपादिको मोक्षमार्ग कहा है, वहाँ उसीको मोक्षमार्ग नहीं मान लेना चाहिये, किन्तु वह तो व्यवहार मात्र कथन है, क्योंकि यदि परद्रव्यका ग्रहण त्याग आत्माके हो तो आत्मा परका कर्ता हर्ता हो जावे, किन्तु ऐसा वस्तुस्वरूप नहीं है। किसी द्रव्यकी क्रिया दूसरे द्रव्यके आधीन नहीं है। मैं शरीरको चलाता हूँ—ऐसा जो मानता है वह मिथ्यादृष्टि है शरीर की उँगली चले या भाषा निकले वह जीवकी क्रिया नहीं है, जीव ने उसे नहीं किया है, तथापि ऐसा माने कि मुझसे वह क्रिया हुई है, तो वह जैन नहीं है। उसे नवतत्त्वों की श्रद्धा नहीं है। उँगलीकी क्रिया आत्माके आधीन नहीं है, सिरके बाल उलझ जायें या केशलोच की क्रिया वह क्रिया उँगलीके आधीन नहीं है, और वह क्रिया आत्माके आधीन नहीं है। किसी द्रव्यकी क्रिया किसी दूसरे द्रव्यके आधीन नहीं है। बाह्य त्याग तो मोक्षमार्ग नहीं है और अंतरमें व्रतादिका शुभराग भी मोक्षमार्ग नहीं है। मोक्षमार्ग तो वीतरागभाव है। स्वभावोन्मुख हुआ वहाँ राग छूटा और वीतराग हुआ, इसलिये स्वभावोन्मुख होना ही मोक्षमार्ग है। पहले कहीं आत्मा ने परद्रव्यको

ग्रहण नहीं किया था और वीतराग होने पर कहीं उसने परद्रव्यका त्याग नहीं किया है। परद्रव्य तो त्रिकाल आत्मासे पृथक ही हैं।

अज्ञानीको सच्ची समझ कठिन मालूम होती है और मुनिपना सरल लगता है किन्तु अरे भाई! आत्माके ज्ञान बिना मुनिपना हो ही कैसे सकता है? सम्यग्दर्शनके बिना अनन्तवार मुनिव्रत धारण करके स्वर्गमें गया किन्तु अन्तरमें यथार्थ मोक्षमार्ग क्या है उसे नहीं समझा।

व्रतादिक को मोक्षमार्ग कहना यह उपचार है।

आत्मा में जो अशुद्धता है उसे मिटाने का उपाय बाह्य क्रिया है, तथा शुद्ध पर्याय की उत्पत्ति का कारण देव-गुरु आदि निमित्त हैं —इसप्रकार अज्ञानी जीव अशुद्धता और शुद्धता दोनों पर्यायें पर से मानता है। शुद्धता का उत्पाद भी पर से माना और अशुद्धता का नाश भी पर से माना इसलिये आत्मा तो उत्पाद-व्यय रहित मात्र ध्रुव रह गया, किन्तु यह श्रद्धा ही मिथ्या है। चिदानन्द ध्रुव स्वभाव की दृष्टि से ही सम्यग्दर्शन का उत्पाद और मिथ्यात्व का नाश हो जाता है।—यही शुद्धता प्रगट करने और अशुद्धता नष्ट करने की क्रिया है। बाह्य क्रिया से अशुद्धता नहीं मिटती, और शुभ राग भी अशुद्धता मिटने का कारण नहीं है, शुभ राग तो पुण्य बन्ध का कारण है। उस भाव से आत्मा बँधता है, वहाँ अज्ञानी उसे मोक्ष का कारण मानता है। शुभ राग से हमें पुण्य बन्ध तो होगा न?— इसप्रकार जिसे पुण्य बन्ध की रुचि है उसे अबंध आत्म स्वभाव का अनादर है। निश्चयसे आत्माका वीतराग भाव ही मोक्षमार्ग है

और वृतादिक को मोक्षमार्ग कहना तो उपचार ही है। वीतराग भाव और वृतादिक में कदाचित् कार्यकारणपना है। वीतरागभाव वर्तता हो, प्रमाद भाव न हो, और कदाचित् शरीर के निमित्त से किसी जीव की हिंसा हो जाये, वहाँ कार्यकारणपना नहीं है, इसलिये वीत राग भाव और बाह्य व्रतादिक में कदाचित् सम्बन्ध कहा है। मुनि छट्ठे गुणस्थान में हो और कोई उन्हें उठा कर पानी में डुबा दे, तो वहां शरीर के निमित्त से पानी के जीवों की हिंसा होगी किंतु मुनि उसके निमित्त नहीं हैं, वे तो निर्मल ध्यान की श्रेणी लगा कर केवल ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। पुनश्च वीतरागभाव में एकाग्र हुआ वहाँ वृतादिक का शुभ विकल्प भी नहीं है। ज्ञानी को पूजा–भक्ति का भाव आये, पैरों मे घुँघरू बांध कर, ताण्डव नृत्य कर, किंतु समझता है कि यह जो भक्ति का भाव आया है वह मेरे कारण है। नृत्य करने में शरीर की क्रिया जड़ की है, उसमे मेरा मोक्षमार्ग नहीं है। मेरा मोक्षमार्ग तो मेरे स्वभाव के अवलम्बन से ही है। ऋषभदेव भगवान के समक्ष इन्द्र ने नीलांजना देवी का नृत्य कराया, और नृत्य करते करते उसकी आयु पूर्ण हो गई,—वहां भगवान को वैराग्य हो गया, किन्तु उन्होंने अपने कारण वैराग्य प्राप्त किया है यदि निमित्त के कारण वैराग्य प्राप्त हुआ हो तो सारे दर्शकों को क्यों वैराग्य नहीं हुआ? पुनश्च, हनुमानजी खिरते हुए तारे को देख कर वैराग्य को प्राप्त हुए। वहाँ तारा खिरा वह तो निमित्त मात्र है, वास्तव में स्वयं अपने मे क्या वीतराग भाव प्रगट किया तब बाह्य वस्तु को निमित्त कारण कहा। उसीप्रकार मोक्षमार्ग में वृतादिक को निमित्त कारण कहना भी निमित्त से है। वह नियम

रूप नहीं है, किन्तु कभी कभी व्रतादिक और मोक्षमार्ग के निमित्त-नैमित्तिकपना होता है। पुनश्च, व्रतादिक भी नियम से निमित्त नहीं हैं, क्योंकि अंतरंग में वीतरागी मोक्षमार्ग प्रगट करे तभी उसके निमित्तपने का आरोप आता है।

अज्ञानी जीव आत्मा के भान बिना व्रतादि के शुभ राग में वर्तता हो, और उसके बाह्य व्रतादि की क्रिया हो, किन्तु वह कहीं उसे मोक्षमार्ग का कारण नहीं होता, क्योंकि जहाँ मोक्षमार्ग होता है वहाँ व्रतादि होते हैं, उन्हें निमित्त-व्यवहार से मोक्षमार्ग कहा जाता है। व्रतादि को मोक्षमार्ग कहना वास्तव में तो कथन मात्र है।

तीनों प्रकार के व्यवहार

(१) नर-नरकादि शरीरको जीव कहना वह संयोग का कथन है।

(२) वस्तु अभेद है, उसमें ज्ञान दर्शनादि भिन्न भिन्न गुणों से भेद करके कथन करना—वह भी उपचार से कथन है। वस्तु तो एक ही है।

(३) वीतरागभाव मोक्षमार्ग है। उसके बदले व्रतादिक शुभ रागको मोक्षमार्ग कहना—वह भी उपचार से कथनमात्र है।

—इसप्रकार व्यवहार कथनके तीन दृष्टांत दिये हैं। तदनुसार सबमें समझ लेना चाहिये। "धर्मास्तिकायाभावात्"—अलोकाकाशमें धर्मास्तिकाय न होने से सिद्धके जीव आगे नहीं जाते—यह कथन भी उपचारमात्र है। वास्तवमें तो सिद्ध भगवान की क्रियावती शक्ति की पर्याय की उतनी योग्यता है। गुरुके निमित्तसे ज्ञान हुआ वहाँ, अहो!

धन्य गुरु ! तुम्हारे चरण कमल के प्रतापसे मैं भवसागर से पार हो गया।—इसप्रकार बडे बडे मुनि भी विनय से कहते हैं, किन्तु वहां वह उपचार कथन है। स्वयं अपने से पार हुआ तब विनयपूर्वक गुरु से कहता है कि—"हे नाथ ! आपने तार दिया ! आपके प्रताप से मैं संसार सागर से पार हो गया।"—इसप्रकार शास्त्रमें जहां जहां व्यवहार कथन आये वहां वहां यथार्थ वस्तुको समझकर उसका श्रद्धान करना चाहिये, किन्तु व्यवहार कथनको ही सत्य नही मान लेना चाहिये, क्योंकि व्यवहारनय परद्रव्य के संयोग और निमित्तादि को अपेक्षा से वर्णन करता है, इसलिये ऐसे व्यवहारनयका अंगीकार नही करना चाहिये।

व्यवहारनय परको उपदेश देने मे ही कार्यकारी है, या अपना भी कुछ प्रयोजन सिद्ध करता है ?—यह बात अब कहते हैं।

[वीर सं० २४७६ प्र० वैशाख शुक्ला ६ रविवार १९-४-५१]

निश्चय और व्यवहारके वर्णन का अधिकार चलता है। व्यवहारनय वस्तु के यथार्थ स्वरूप को नही बतलाता, किन्तु उपचारसे अन्यथा निरूपण करता है। अज्ञानी जीव अनादिसे व्यवहार को ही यथार्थ मानता है। व्रतादि के शुभराग को धर्म मानता है वह मिथ्या है। व्यवहारनय परको उपदेश देने में ही कार्यकारी है या अपना भी कुछ प्रयोजन सिद्ध करता है ?—ऐसा प्रश्न किया है, उसका उत्तर देते हैं। परको उपदेश देनेमें व्यवहारनय आता है यह बात तो कही, अब अपने लिये बात है। चैतन्य वस्तु देहादि से भिन्न है, और अपने गुणोंसे अभेद है। चैतन्य वस्तु देहादिसे भिन्न है, और अपने गुणोंसे

अभेद है, किन्तु देहके संयोग से एकेन्द्रिय जीव, पंचेन्द्रिय जीव आदि कहकर व्यवहार से पहिचान कराई है। जीव चैतन्य स्वरूप है, देहसे भिन्न है,—ऐसा कहने पर कोई अज्ञानी जीव ऐसा समझ जाये कि ऐसे तो सिद्ध भगवान ही हैं, इसलिये वे ही जीव हैं और मैं तो शरीरवान हूँ, तो वह परमार्थ को नहीं समझता। व्यवहार कहकर भी भेदज्ञान द्वारा जीवका लक्ष कराना था किन्तु व्यवहार कथन के अनुसार ही वस्तु स्वरूप नहीं समझ लेना चाहिये।

अब, अपने में भी जहाँ तक परमार्थ वस्तुको ही समझे तबतक 'मैं ज्ञान हूँ, मैं दर्शन हूँ'—इसप्रकार व्यवहार मार्ग द्वारा वस्तुका निर्णय करना चाहिये। व्यवहार मार्ग अर्थात् क्या? बाह्यक्रियाकांड की बात नहीं है किन्तु अंतरंग मैं ज्ञान हूँ", इत्यादि भेदका विकल्प और विचार उठता है उसे व्यवहारमार्ग कहा है। अभेद वस्तुका अनुभव नहीं है इसलिये भेदका विकल्प आता है, किंतु अभेद का निर्णय करना चाहता है इसलिये उस भेदके विचार को व्यवहार कहा है। "मनुष्य जीव'—ऐसा पहले विचार करके, फिर देहसे भिन्न ज्ञान स्वरूप हूँ—इस प्रकार जीवको लक्ष मे ले वहाँ गुण गुणी के भेद से जीव को लक्ष में लेना वह व्यवहार है। उस व्यवहारमार्ग द्वारा अभेद जीवका अनुभव कर तो भेद का विचार निमित्त है। जो जीव भेद का अवलम्बन छोड़कर अभेदरूप जीव को लक्ष में ले उसे भेदका विचार व्यवहार मार्ग कहलाता है। इसप्रकार भेदका भी लक्ष छोड़कर अभेद जीवका निर्णय करना वह सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की क्रिया है। यथार्थ स्वरूप क्या है? और उपचार क्या है? उसका पहले निर्णय करना चाहिये। वीतरागभाव वह सच्चा

धन्य गुरु ! तुम्हारे चरण कमल के प्रतापसे मैं भवसागर से पार हो गया।—इसप्रकार बडे बडे मुनि भी विनय से कहते हैं, किन्तु वहाँ वह उपचार कथन है। स्वयं अपने से पार हुआ तब विनयपूर्वक गुरु से कहता है कि—"हे नाथ ! आपने तार दिया ! आपके प्रताप से मैं संसार सागर से पार हो गया।"—इसप्रकार शास्त्रमें जहाँ जहाँ व्यवहार कथन आये वहाँ वहाँ यथार्थ वस्तुका समझकर उसका श्रद्धान करना चाहिये, किन्तु व्यवहार कथनको ही सत्य नहीं मान लेना चाहिये, क्योंकि व्यवहारनय परद्रव्य के संयोग और निमित्तादि की अपेक्षा से वर्णन करता है, इसलिये ऐसे व्यवहारनयको अंगीकार नहीं करना चाहिये।

व्यवहारनय परको उपदेश देने में ही कार्यकारी है, या अपना भी कुछ प्रयोजन सिद्ध करता है?—यह बात अब कहते हैं।

[वीर सं० २४७६ प्र० वैशाख शुक्ला ६ रविवार १९-४-५३]

निश्चय और व्यवहारके वर्णन का अधिकार चलता है। व्यवहारनय वस्तु के यथार्थ स्वरूप को नहीं बतलाता, किन्तु उपचारसे अन्यथा निरूपण करता है। अज्ञानी जीव अनादिसे व्यवहार को ही यथार्थ मानता है। व्रतादि के शुभराग को धर्म मानता है वह मिथ्या है। व्यवहारनय परको उपदेश देने में ही कार्यकारी है या अपना भी कुछ प्रयोजन सिद्ध करता है?—ऐसा प्रश्न किया है, उसका उत्तर देते हैं। परको उपदेश देनेमें व्यवहारनय आता है यह बात तो कही, अब अपने लिये बात है। चैतन्य वस्तु देहादि से भिन्न है, और अपने गुणोंसे अभेद है। चैतन्य वस्तु देहादिसे भिन्न है, और अपने गुणोंसे

अभेद है, किन्तु देहके संयोग से एकेन्द्रिय जीव, पंचेन्द्रिय जीव आदि कहकर व्यवहार से पहिचान कराई है। जीव चैतन्य स्वरूप है, देहसे भिन्न है,—ऐसा कहने पर कोई अज्ञानी जीव ऐसा समझ जाये कि एक तो सिद्ध भगवान ही हैं, इसलिये वे ही जीव हैं और मैं तो शरीरवान हूँ तो वह परमार्थ को नहीं समझता। व्यवहार कहकर भी भेदज्ञान द्वारा जीवका लक्ष कराना था किन्तु व्यवहार कथन के अनुसार ही वस्तु स्वरूप नहीं समझ लेना चाहिये।

अब, कथन मे भी जहाँ तक परमार्थ वस्तुको ही समझे तबतक 'मैं ज्ञान हूँ, मैं दर्शन हूँ'—इसप्रकार व्यवहार मार्ग द्वारा वस्तुका निर्णय करना चाहिये। व्यवहार मार्ग अर्थात् क्या? बाह्य क्रियाकांड की बात नहीं है किन्तु अतरमें मैं ज्ञान हूँ, इत्यादि भेदका विकल्प और विचार उठता है उसे व्यवहारमार्ग कहा है। अभेद वस्तुका अनुभव नही है इसलिये भेदका विकल्प आता है, किंतु अभेद का निर्णय करना चाहता है इसलिये उस भेदके विचार को व्यवहार कहा है। "मनुष्य जीव"—ऐसा पहले विचार करके, फिर देहसे भिन्न ज्ञान स्वरूप है—इस प्रकार जीवको लक्ष में ले वहाँ गुण गुणी के भेद से जीव को लक्ष में लेना वह व्यवहार है। उस व्यवहारमार्ग द्वारा अभेद जीवका अनुभव कर तो भेद का विचार निमित्त है। जो जीव भेद का अवलम्बन छोड़कर अभेदरूप जीव को लक्ष में ले उसे भेदका विचार व्यवहार मार्ग कहलाता है। इसप्रकार भेदका भी लक्ष छोड़कर अभेद जीवका निर्णय करना वह सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की क्रिया है। यथार्थ स्वरूप क्या है? और उपचार क्या है? उसका पहले निर्णय करना चाहिये। वीतरागभाव वह सच्चा

मोक्षमार्ग है और बाह्य में व्रत तपादि भेदोंको मोक्षमार्ग कहना यह उपचारमात्र है। वह सच्चा मोक्षमार्ग नहीं है।

(१) मनुष्य जीव, देव जीव आदिको जीव कहा वहाँ ऐसा निर्णय करना चाहिये कि मनुष्य, देवादि के जो शरीर हैं वे जीव नहीं हैं, जीव तो उनसे पृथक् चेतनमय है।

(२) गुण गुणी भेदसे कथन किया कि ज्ञान वह जीव, दर्शन वह जीव, वहाँ ऐसा निर्णय करना चाहिये कि जीव वस्तु तो अनंत गुणोंसे अभेद है।

(३) व्रतादि भेदों को मोक्षमार्ग कहा, वहाँ ऐसा निर्णय करना चाहिये कि व्रतादिका राग या बाह्य क्रिया वह वास्तवमें मोक्षमार्ग नहीं है, सच्चा मोक्षमार्ग तो वीतरागभाव ही है।

व्यवहारनय कार्यकारीका अर्थ !!

इसप्रकार जहाँ जहाँ व्यवहार कथन हो वहाँ सर्वत्र परमार्थका ही निर्णय करना चाहिये, व्यवहार कथन को पकड़ रखना कार्यकारी नहीं है। परमार्थ वस्तुका निर्णय करना ही प्रयोजन है और व्यवहार का कथन उसमें निमित्त है, उस निमित्तपने की अपेक्षा से व्यवहार को कार्यकारी कहा है, किंतु जो परमार्थका निर्णय करे उसे व्यवहार निमित्त कहलाता है। अनादि से परमार्थ तत्त्व समझ में नहीं आया है, इसलिये उसका निर्णय करने में बीचमें भेदका विचार आये बिना नहीं रहता, किंतु उस व्यवहारको उपचार मात्र मानकर परमार्थ

वस्तुका निर्णय करे तो उसे व्यवहार कार्यकारी अर्थात् निमित्त कहलाता है, किन्तु निश्चयकी भांति व्यवहार कथनको भी सत्यभूत मानले और वैसा ही श्रद्धान करले तो उसे तो व्यवहारनय उलटा अकार्यकारी हो जायगा। मनुष्यका जीव"—ऐसा कहने से जीवको तो नहीं समझे और मनुष्य शरीर को ही जीव मानले तो उसके मिथ्याश्रद्धा ही दृढ होती है। उसीप्रकार व्रतादि शुभरागको उपचारसे मोक्षमार्ग कहा है, वहाँ उस रागको ही सच्चा मोक्षमार्ग मानले और वीतरागभावरूप यथार्थ मोक्षमार्गको न पहिचाने, तो उसके मिथ्या श्रद्धा ही होती है। इसलिये उसे व्यवहारनय अकार्यकारी हुआ। तथा गुण गुणी के भेद से कथन करके समझाया वहाँ उस भेदके लक्षमें ही रुक जाये और अभेदका लक्ष न करे तो उसे भी व्यवहारनय कार्यकारी नहीं हुआ। इसलिये जो निश्चय का अवलम्बन लेकर जीवका परमार्थ स्वरूप समझता है उसीको भेद कथन—व्यवहार कहा जाता है। परमार्थ न समझे तो उसके व्यवहार भी नहीं है, क्योंकि व्यवहार तो अनादि से किया है। जो जीव परमार्थको नहीं समझता और व्यवहार को ही सत्यभूत मान लेता है उसे तो व्यवहार किंचित् कार्यकारी नहीं है।

जो मात्र व्यवहारको ही समझता है वह उपदेश के योग्य नहीं है।

पुरुषार्थ सिद्ध्युपायमें कहते हैं कि —

> अबुद्धस्य बोधनार्थं मुनीश्वरा देशयन्त्यभूतार्थं ।
> व्यवहारमेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति ॥ ६ ॥

माणवक एक सिंहो यथा भवत्यनवगीत सिंहस्य ।
व्यवहार एव हि तथा निश्चयतां यात्यनिश्चयज्ञस्य ॥ ७ ॥

अर्थ —मुनिराज अज्ञानी को समझाने के हेतु, असत्यार्थ जो व्यवहारनय है उसका उपदेश देते हैं परन्तु जो मात्र व्यवहार को ही जानते हैं उन्हें तो उपदेश देना ही योग्य नहीं है, और जिसप्रकार कोई सिंहको न जानता हो उसे तो बिलाव ही सिंह है, उसीप्रकार जो निश्चयको न जानता हो उसे तो व्यवहार ही निश्चयपन को प्राप्त होता है ।

देखो, वास्तवमें द्रव्यके आश्रयसे ही निर्णय होता है । व्यवहार द्वारा कहीं परमार्थका निर्णय नहीं होता, किन्तु निर्णय करनेवाले को वैसा निमित्त होता है, और उपदेश में व्यवहार आये बिना नहीं रहता, इसलिये व्यवहार द्वारा निर्णय करना चाहिये—ऐसा उपचार से कहा है । किन्तु जो व्यवहारको ही पकड़ रखे उसे तो उपदेश देना ही योग्य नहीं है । जैसे—वचनगुप्तिका उपदेश चल रहा हो कि—"वचनगुप्ति रखना चाहिये", वहाँ कोई जीव ऐसा कहे कि यदि वचनगुप्ति रखने को कहते हो तो आप क्यों वचन बोलते हैं ?—तो वैसा कहने वाला जीव स्वच्छन्दी है, उसे व्यवहार की खबर नहीं है और न परमार्थकी ही खबर है । वह जीव उपदेश के योग्य नहीं है । उसी प्रकार उपदेश में परमार्थ समझाते समय बीच में व्यवहार कथन आजाता है, वहाँ जो जीव व्यवहार को ही सत्यभूत मानकर उसकी श्रद्धा करता है और परमार्थ को नहीं समझता, वह जीव उपदेश के योग्य नहीं है ।

पहल 'व्यवहार चाहिये'—ऐसा जो मानता है वह जीव उपदेश क योग्य नहीं है । अर भाई ! परमार्थ समझाने के लिये हमने व्यवहार से कथन किया था, कि–ऐसे भेद मात हैं व जानन योग्य हैं उसके बदले व्यवहारके अवलम्बन से जो लाभ मान लेता है वह जीव परमार्थ समझने क योग्य तो नही है, कि तु उपदेश के भी योग्य नहीं है । अहो ! मुनि कहते हैं कि हमें उपदेश में जो परमार्थ वस्तु समझाना थी, उस नही समझा और अनादिकालीन व्यवहार दृष्टि नहीं छोड़ी, तो उस जीव न हमारा उपदेश सुना ही नहीं है । उपदेश में व्यवहार आये वहाँ कहे कि—देखो, "हमारा व्यवहार आया या नही ?"—ऐसा कहकर जो व्यवहारके आश्रयसे लाभ मानता है वह मिथ्यादृष्टि है । अभव्य के और उसके अभिप्रायमे कोई अतर नहीहै, क्योंकि श्री समयसार में कहा है कि—"अभव्य को व्यवहार के पक्ष का सूक्ष्म आशय रह जाता है । परमार्थ की दृष्टि नही करता और व्यवहार के आश्रय से लाभ मानता है इसलिये वह उपदेश के योग्य नहीं है । उपदेश देकर हम तो अभेद की दृष्टि कराना है, कहीं भेद का अवलम्बन नही कराना है, किंतु उपदेश में व्यवहार आये बिना नहीं रहता, क्योंकि—

"उपादान विधि निवचन है निमित्त उपदेश"

उसीप्रकार

"निश्चयविधि निवचन है व्यवहार उपदेश"

"उपदेश से लाभ नहीं है"—ऐसा कहे, वहाँ अज्ञानी कहता है कि—"यदि हमें उपदेशसे लाभ न होता हो तो आप किसलिये उपदेश देते हैं ?" वहाँ ज्ञानी कहते हैं कि अरे मूढ ! तेरे लिये हमारा उपदेश नहीं है । हमारे उपदेश का रहस्य तू नही समझा ।

दिगम्बर जैन परमेश्वर का सिद्धांत है कि परमार्थ के बिना व्यवहार नहीं होता। परमार्थ के आश्रय से ही मोक्षमार्ग है, और परमार्थ हुआ तब राग को व्यवहार कहा जाता है। जो व्यवहार के आश्रय से लाभ मानता है वह जीव देशना का पात्र नहीं है। अंतर मे मालवस्तु है, उसे जब पकड़ा तब राग में व्यवहारका आरोप आया। अंतर मे परमार्थ वस्तु को पकड़े बिना व्यवहार किसका ? सिंह को पहिचाननेके लिये कहे कि—"देखो सिंह इस बिल्ली जैसा होता है।" वहां बिल्ली को ही सिंह मानले वह सच्चे सिंह को नहीं जानता। उसी प्रकार जो परमार्थ को तो जानता नहीं है और व्यवहार से परमार्थ समझाने के लिये उपदेश किया, वहां व्यवहार को ही परमार्थ मानकर श्रद्धा करता है वह जीव परमार्थ को नहीं समझता। व्यवहार असत्यार्थ है, उसी को जो सत्यार्थ माने उसे तो असत्यार्थ ही सत्यार्थपने को प्राप्त होता है, अर्थात् वह जीव असत्य श्रद्धान करता है।

व्यवहारको असत्य कहा, इसलिये कोई अज्ञानी जीव ऐसा कहे कि व्यवहार असत्य है तो हम व्रत—तप छोड़ देंगे ! तो उसका क्या समाधान है ? वह अब कहेंगे।

[वीर सं० २४७६ प्र० वैशाख शुक्ला ७ सोमवार ता० २०-४-५३]

व्यवहारको हेय कहा, वहां कोई निर्विचार अज्ञानी ऐसा प्रश्न करता है कि—आप व्यवहारको असत्य और हेय कहते हो, तो हम व्रत तप संयमादि व्यवहारकम किसलिये करें ? उन सबको छोड़ देंगे।

व्रतादिक व्यवहार नहीं हैं, किन्तु व्रतादि को मोक्षमार्ग मानना वह व्यवहार है।

उत्तर—अरे भाई! हमने व्रतादिको कहाँ व्यवहार कहा है? व्रतादि तो व्यवहार नहीं हैं किंतु उन्हें मोक्षमार्ग मानना वह व्यवहार है इसलिये उनकी श्रद्धा छोड़। व्रतादिको व्यवहारसे मोक्षमार्ग कहा है किंतु वह वास्तवमें मोक्षमार्ग नहीं है—ऐसी श्रद्धा करने का नाम व्यवहारकी हेयता है। इसलिये तू व्रतादिको मोक्षमार्ग मानना छोड़ दे, किन्तु उन व्रतादिको छोड़कर यदि अशुभभाव करेगा तो पाप होगा, और उलटा नरकादिमें जायगा। व्रत पर्याय स्वयं नहीं व्यवहार नहीं है, किंतु उस व्रतपर्यायमें मोक्षपर्यायका आरोप करना वह व्यवहार है, इसलिये उसे मोक्षमार्ग मानने की श्रद्धा छोड़ दे! मोक्षमार्गमें बीचमें भगवानकी भक्ति निःशंकता आदि आठ आचार और व्रत तप आदि के शुभभाव आते हैं व निचली भूमिकामें नहीं छूटेंगे शुद्धोपयोग उग्र होने पर ही वह शुभराग छूटता है, इसलिये वह परिणति हो तब तक उसे निश्चयसे अपनी जान, किंतु उसे मोक्षमार्ग मत मान। व्यवहारको छोड़नेका अर्थ क्या?—तो कहते हैं कि व्रतादिके रागको मोक्षमार्ग न मानना। व्रतादिको मोक्षमार्ग कहना यह व्यवहार है, और उन व्रतादिको मोक्षमार्ग न मानना, किन्तु व्रतको व्रतरूप ही जानना वह निश्चय है। वह आत्माकी ही अशुद्ध परिणति है। यहाँ तो निश्चय व्यवहारकी ऐसी शैली है कि अपने भावको अपना कहना यह निश्चय, और अपने भावको दूसरे का बतलाना वह व्यवहार है। व्रतादिका रागभाव वास्तवमें मोक्षमार्गका भाव

नही है किन्तु बंधमार्गका भाव है, तथापि उस भावको मोक्षमार्ग मानना वह व्यवहार है। वह मान्यता छोड़कर यथार्थ वीतरागभाव रूप मोक्षमार्गको पहिचान। जहाँ स्वभावके आश्रयसे वीतरागी मोक्षमार्ग प्रगट हुआ है वहाँ व्रतादिको बाह्य सहकारी जानकर उसे उपचारसे मोक्षमार्ग कहा है। मोक्षमार्ग के बीचमें वे होते हैं। अंतर मे निश्चय श्रद्धा–ज्ञान–चारित्र स्वद्रव्यके आश्रयसे प्रगट हुए वही निश्चयसे मोक्षमार्ग है, और उसके साथ व्रत–तप–त्यागादि तो पर द्रव्याश्रित हैं। व्यवहार मोक्षमार्ग तो परद्रव्याश्रित है। सच्चा मोक्षमार्ग वीतरागभाव है वह स्वद्रव्याश्रित है, इसलिये स्वद्रव्याश्रित भावको मोक्षमार्ग कहना वह निश्चय है और व्रतादि परद्रव्याश्रित हैं उन्हें मोक्षमार्ग कहना वह व्यवहार है, अर्थात् वह सचमुच मोक्षमार्ग नही है। वास्तव में मोक्षमार्ग तो दूसरा ही है—ऐसा समझने का नाम व्यवहार की हेयता है। निश्चय मोक्षमार्ग के साथ निमित्त रूपसे व्रतादि कैसे होते हैं, उन्हें जानने को मना नही किया है, किन्तु उन्ही को मोक्षमार्ग मानना छोड दो।

सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् व्रतादि शुभभावको मोक्षमार्ग का उपचार आता है, अशुभ को नहीं

व्रतादि के परिणाम बीचमें आये बिना नही रहेंगे। वीतरागता हुए बिना शुभराग नहीं छूटेगा। शुद्धोपयोग न हो वहा शुभ या अशुभ उपयोग होता है। इसलिये शुभपरिणाम हो वह अलग बात है, किन्तु उस शुभको मोक्षमार्ग मानना मिथ्या है। शुभको मोक्षमार्ग मानना छोड दे। यही व्यवहारको हेय करने का अर्थ है। निश्चय

स्वभावमें दृष्टि रखे और बीचमें व्रत–तपके परिणाम आयें उन्हें भी अपने परिणाम जाने, किन्तु उन्हें मोक्षमार्ग न माने। व्यवहार और राग बीचमें आये वह अलग बात है किन्तु उसीको मोक्षमार्ग माने सो उसका मिथ्यात्व है उसके शुभमें तो मोक्षमार्गका उपचार भी नहीं है। उपचार तो तब कहलाता है जबकि—वास्तवमें वह मोक्षमार्ग नहीं है—ऐसा समझे और वीतरागभावरूप सच्चे मोक्षमार्ग को जाने। व्रतादिका शुभराग सचमुच मोक्षमार्ग नहीं है—ऐसी धर्मीकी मान्यता हो जाने पर भी जबतक शुद्धोपयोग नहीं हुआ तबतक भक्ति–पूजा–व्रतादिके शुभभाव आते हैं। यदि शुभ परिणाम भी छोड़कर और अशुभ परिणामोंमें वर्ते तो वहाँ मोक्षमार्गका निमित्त भी नहीं है। यदि अशुभको मोक्षमार्गका निमित्त माने तब तो वहाँ निश्चयकी दृष्टि भी नहीं रहेगी इसलिये वहाँ मोक्षमार्गका आरोप भी नहीं है। मोक्षमार्गका निमित्त शुभ को कहा जाता है किन्तु अशुभ को नहीं कहा जाता। जहाँ ज्ञायक तत्त्व पर दृष्टि हो वहां शुभमें मोक्षमार्गका आरोप आता है, किन्तु जहां दृष्टि ही मिथ्या है अर्थात् यथार्थ मोक्षमार्ग प्रगट ही नहीं हुआ है, वहां तो शुभमें मोक्षमार्गका उपचार भी नहीं आता। और शुभको छोड़कर अशुभ करे तो उस अशुभमें तो मोक्षमार्गके निमित्तका उपचार भी सम्भवित नहीं होता। शुद्धोपयोग तो हुआ नहीं है और शुभको छोड़ दिया तो अशुभ होकर नरकादिमें जायगा। देखो, यह मिथ्यादृष्टिकी बात है इसलिये नरककी बात ली है। सम्यग्दर्शनके पश्चात् भी विषय–कषायके कोई अशुभभाव आ जाते हैं, किन्तु उसे वे नरकादिके कारण नहीं होते, और वे अशुभ-परिणाम मोक्षमार्गके निमित्त भी नहीं हैं। मोक्षमार्गका उपचार•

व्रतादि—शुभमे आता है, किंतु हिंसादिके अशुभ-परिणामोमें तो वैसा उपचार भी नहीं होता। मिथ्यादृष्टि शुभको छोडकर अशुभमें प्रवर्तन करेगा तो पाप बाधकर नरकमें जायेगा। धर्मीके अशुभ आये किंतु अशुभके समय उसे नरकादिकी आयु का बंध नहीं होता। परन्तु अभी जिसे धर्मकी दृष्टि भी नहीं है और शुभरागको व्यवहार कहकर छोडता है, उसे तो मोक्षमार्गकी या उसके उपचारकी भी दृष्टि नहीं रही। उसकी तो दृष्टि ही मिथ्या है। इसलिये शुभ छोड कर अशुभमें वर्तना वह निर्विचारीपना है। हा यदि सम्यग्दर्शनके पश्चात् व्रतादिक शुभभाव छोडकर मात्र वीतराग उदासीन भावरूप रह सके तो वैसा कर, किंतु वह शुद्धोपयोगके बिना नहीं हो सकता, और निचली दशामें चौथे पाचवें छट्ठे गुणस्थानमें शुद्धोपयोग नहीं रहता, इसलिये वहा शुभराग और व्रतादिक के भाव आते हैं, किंतु उसे मोक्षमार्ग नहीं मानना चाहिये। निचली दशामें शुभको छोडकर अशुभमें प्रवर्तन करे तो वह स्वच्छंदी हो जायेगा।

श्रद्धामें तो निश्चयको तथा प्रवृत्तिमें व्यवहारको उपादेय मानना—वह मान्यता मिथ्याभाव ही है, किंतु निश्चयको तो यथार्थ वस्तु स्वरूप जानकर अंगीकार करना चाहिये, और व्यवहारको तो आरोप जानकर उसका श्रद्धान छोडना चाहिये, —इसप्रकार दोनों नय समझना।

अब, वह जीव दोनो नयों का अंगीकार करनेके हेतुसे किसी समय अपने को शुद्ध सिद्ध समान, रागादि रहित और केवलज्ञानादि सहित आत्मा मानता है, तथा ध्यान मुद्रा धारण करके ऐसे विचारों

में लीन होता है। स्वयं ऐसा नहीं है तथापि भ्रमसे, निश्चयसे 'मैं ऐसा ही हूँ'—ऐसा मानकर संतुष्ट होता है, तथा किसी समय वचन द्वारा निरूपण भी ऐसा ही करता है, किन्तु स्वयं प्रत्यक्ष जैसा नहीं है वैसा अपने को मानता है वहाँ निश्चय नाम कैसे प्राप्त कर सकता है? क्योंकि जो वस्तु को यथावत् प्ररूपणा करे उसका नाम निश्चय है। इसलिये जिसप्रकार मात्र निश्चयाभासी जीवका अयथार्थपना पहले कहा था उसीप्रकार इसे भी जानना।

द्रव्यदृष्टिसे सिद्ध समान कहा है, किंतु पर्यायमें भी अपने को सिद्ध जैसा मानकर अज्ञानी संतुष्ट होता है। पर्यायमें राग और अल्पज्ञता होनेपर भी अपने को वीतरागी केवलज्ञान सहित सिद्ध समान मानता है, किन्तु पर्यायमें सिद्धपना तो नहीं है तथापि अज्ञानी सिद्धपना मानता है और उसे निश्चय मानता है, किन्तु वह निश्चय नहीं है, वह तो निश्चय श्रद्धा है। पर्याय में जैसा है वैसा जानना चाहिये।

अथवा वह मानता है कि—'इस नयसे आत्मा ऐसा है और इस नयसे ऐसा है', किन्तु आत्मा तो जैसा है वैसा ही है। वहाँ नय द्वारा निरूपण करने का जो अभिप्राय है उसे वह नहीं जानता, क्योंकि आत्मा निश्चयनय से तो सिद्ध समान केवलज्ञानादि सहित, द्रव्यकर्म नोकर्म भावकर्म रहित है, तथा व्यवहारनयसे संसारी, मतिज्ञानादि सहित, द्रव्यकर्म नोकर्म भावकर्म सहित है,—ऐसा वह मानता है। अब, एक आत्माके ऐसे दो स्वरूप तो होते नहीं हैं, क्योंकि जिस भावका सहितपना माना, उसी भावका रहितपना एक ही वस्तु में कैसे संभवित हो सकता है? इसलिये ऐसा मानना भ्रम है।

व्रतादि—शुभम आता है, किन्तु हिंसादिके अशुभ-परिणामोंमें तो वैसा उपचार भी नहीं होता। मिथ्यादृष्टि शुभको छोड़कर अशुभम प्रवर्तन करेगा तो पाप बांधकर नरकमें जायेगा। धर्मीके अशुभ आये किन्तु अशुभके समय उसे नरकादिकी आयु का बंध नहीं होता। परन्तु अभी जिसे धर्मकी दृष्टि भी नहीं है और शुभरागको व्यवहार कहकर छोड़ता है, उसे तो मोक्षमार्गकी या उसके उपचारकी भी दृष्टि नहीं रही। उसकी तो दृष्टि ही मिथ्या है। इसलिये शुभ छोड़कर अशुभम वर्तना वह निर्विचारीपना है। हां यदि सम्यग्दर्शनके पश्चात् व्रतादिक शुभभाव छोड़कर मात्र वीतराग उदासीन भावरूप रह सके तो वैसा कर, किंतु वह शुद्धोपयोगके बिना नहीं हो सकता, और निचली दशामें चौथे पांचवें छट्ठे गुणस्थानमें शुद्धोपयोग नहीं रहता, इसलिये वहां शुभराग और व्रतादिक के भाव आते हैं, किंतु उसे मोक्षमार्ग नहीं मानना चाहिये। निचली दशामें शुभको छोड़कर अशुभमें प्रवर्तन करे तो वह स्वच्छंदी हो जायेगा।

श्रद्धामें तो निश्चयको तथा प्रवृत्तिमें व्यवहारको उपादेय मानना—यह मान्यता मिथ्याभाव ही है, किन्तु निश्चयको तो यथार्थ वस्तु स्वरूप जानकर अंगीकार करना चाहिये, और व्यवहारको तो आरोप जानकर उसका श्रद्धान छोड़ना चाहिये, —इसप्रकार दोनों नय समझना।

अब, वह जीव दोनों नयों का अंगीकार करनेके हेतुसे किसी समय अपने को शुद्ध सिद्ध समान, रागादि रहित और केवलज्ञानादि सहित आत्मा मानता है, तथा ध्यान मुद्रा धारण करके ऐसे विचारों

में लीन होता है। स्वयं ऐसा नहीं है तथापि भ्रमसे, निश्चयसे मैं ऐसा ही हूँ"—ऐसा मानकर संतुष्ट होता है, तथा किसी समय वचन द्वारा निरूपण भी ऐसा ही करता है, किन्तु स्वयं प्रत्यक्ष जैसा नहीं है वैसा अपने को मानना है, वहाँ निश्चय नाम कैसे प्राप्त कर सकता है ? क्योंकि जो वस्तु की यथावत् प्ररूपणा करे उसका नाम निश्चय है। इसलिये जिसप्रकार मात्र निश्चयाभासी जीवका अयथार्थपना पहले कहा था उसीप्रकार इसे भी जानना।

द्रव्यदृष्टिसे सिद्ध समान कहा है, किन्तु पर्यायमें भी अपने को सिद्ध जैसा मानकर अज्ञानी संतुष्ट होता है। पर्यायमें राग और अल्पज्ञता होनेपर भी अपने को वीतरागी केवलज्ञान सहित सिद्ध समान मानता है, किन्तु पर्यायमें सिद्धपना तो नहीं है तथापि अज्ञानी सिद्धपना मानता है और उसे निश्चय मानता है, किन्तु वह निश्चय नहीं है, वह तो निश्चय श्रद्धा है। पर्याय में जैसा है वैसा जानना चाहिये।

अथवा वह मानता है कि—'इस नयसे आत्मा ऐसा है और इस नयसे ऐसा है', किन्तु आत्मा तो जैसा है वैसा ही है। वहाँ नय द्वारा निरूपण करने का जो अभिप्राय है उसे वह नहीं जानता, क्योंकि आत्मा निश्चयनय से तो सिद्ध समान केवलज्ञानादि सहित, द्रव्यकर्म नोकर्म भावकर्म रहित है तथा व्यवहारनयसे संसारी, मतिज्ञानादि सहित, द्रव्यकर्म नोकर्म भावकर्म सहित है—ऐसा वह मानता है। अब, एक आत्माके ऐसे दो स्वरूप तो होते नहीं हैं, क्योंकि जिस भावका सहितपना माना, उसी भावका रहितपना एक ही वस्तु में कैसे संभवित हो सकता है ? इसलिये ऐसा मानना भ्रम है।

एक ही पर्याय में परस्पर विरुद्ध दो भाव मानना वह मिथ्याश्रद्धा है।

अज्ञानी एक ही पर्याय म दो प्रकार मानता है। उसी पर्याय म सिद्धपना और उसी म ससारीपना। निश्चय से सिद्धपना और उसी में व्यवहार से ससारीपना,—इसप्रकार अज्ञानी मानता है, किन्तु वह वस्तुस्वरूप का तो निर्णय करता नहीं है।

पुनश्च, एक ही पर्याय में मतिज्ञान और केवलज्ञान—दोनो कैसे सभवित हो सकते हैं ? अज्ञानी मानता है कि वर्तमान पर्याय में व्यवहार से मैं मतिज्ञानादि सहित हूँ और निश्चय से वर्तमान पर्याय में केवलज्ञानी हूँ, किन्तु इसप्रकार निश्चय व्यवहार है ही नही। एक ही पर्याय में सिद्धपना और ससारीपना दो नही होते। एक ही पर्याय में मतिज्ञान और केवलज्ञान दोनो कैसे हो सकते हैं ? एक ही पर्याय म राग और पूर्ण वीतरागता दोनो कैसे हो सकते हैं ? हाँ, वस्तुमें द्रव्य दृष्टिसे सिद्ध होने की शक्ति है, और पर्याय में ससार है। द्रव्य में केवलज्ञान की शक्ति है और पर्याय म मतिज्ञानादि अल्प ज्ञान है—ऐसा जाने तो यथार्थ है, किन्तु एक ही पर्याय मे दो भाव मानना वह कही निश्चय-व्यवहार नही है, [illegible] श्रद्धा है। तो फिर किसप्रकार है ?

[illegible] और एक [illegible] समान हैं, [illegible]

[illegible] —दोनोंको [illegible] सम [illegible]

अपेक्षा से [illegible]

[illegible]

को केवलज्ञान है। यहाँ इतना विशेष कि संसारी को मतिज्ञानादिक हैं वे कर्म के निमित्त से हैं, इसलिये स्वभाव अपेक्षा से संसारी को केवलज्ञान की शक्ति कहें तो उसमें दोष नहीं है। जिसप्रकार रंक मनुष्य में राजा होने की शक्ति होती है उसीप्रकार यह शक्ति भी जानना।

पर्याय अपेक्षा से तो छद्मस्थ को मतिज्ञानादिक हैं वे निश्चय से हैं। निश्चय से केवलज्ञान की शक्ति कहना वह तो द्रव्य अपेक्षा है, किन्तु पर्याय में कहीं निश्चय से केवलज्ञान नहीं है। पर्याय में तो निश्चय से मति-श्रुत ज्ञान ही हैं।

पुनश्च, द्रव्यकर्म, नो कर्म तो पुद्गल की पर्याय है, इसलिये निश्चय से तो वह संसारी जीव से भी भिन्न ही है, किन्तु संसारपर्याय के समय उस कर्म-नो कर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है वह जानना चाहिये। सिद्ध भगवान की भाँति संसारीको भी कर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिक संबंध सर्वथा न माने तो वह भ्रम है। हाँ, धर्मी जीव की दृष्टि में कर्म के साथका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध छूट गया है। निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध में जो राग द्वेषादि भावकर्म होते हैं, वह तो आत्मा का औदयिक भाव है, वह भाव निश्चय से आत्मा का है, तथा कर्म उस में निमित्त है। इसलिये उसे कर्म का कहना वह उपचार से-व्यवहार से है। राग-द्वेषादि उदयभाव भी निश्चय से आत्मा के हैं, क्यों कि वे आत्माकी पर्याय में होते हैं, तथा शरीर, कर्म आदि निश्चय से जड की परिणति है, उस के साथ जीव का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

एक ही पर्याय में परस्पर विरुद्ध दो भाव मानना वह मिथ्याश्रद्धा है।

अज्ञानी एक ही पर्याय में दो प्रकार मानता है। उसी पर्याय म सिद्धपना और उसी म ससारीपना। निश्चय से सिद्धपना और उसी मे व्यवहार से ससारीपना,—इसप्रकार अज्ञानी मानता है, किन्तु वह वस्तुस्वरूप का तो निणय करता नही है।

पुनश्च, एक ही पर्याय में मतिज्ञान और केवलज्ञान—दोनो कसे सभवित हो सकते है? अज्ञानी मानता है कि वर्तमान पर्याय में व्यवहार से मैं मतिज्ञानादि सहित हूँ और निश्चय से वतमान पर्याय में केवलज्ञानी हूँ, किन्तु इसप्रकार निश्चय व्यवहार है ही नहीं। एक ही पर्याय में सिद्धपना और ससारीपनादो नही होते। एक ही पर्याय में मतिज्ञान और केवलज्ञान दोनों कसे हो सकते हैं? एक ही पर्याय में राग और पूण वीतरागता दोनो कैसे हो सकते हैं? हाँ, वस्तुमें द्रव्य दृष्टिसे सिद्ध होने की शक्ति है, और पयाय म ससार है। द्रव्य म केवलज्ञान की शक्ति है और पर्याय में मतिज्ञानादि अल्प ज्ञान है—ऐसा जाने तो यथाथ है, किन्तु एक ही पर्याय म दो भाव मानना वह कहीं निश्चय-व्यवहार नही है, वह तो मिथ्या श्रद्धा है। तो फिर किसप्रकार है?

जिसप्रकार राजा और रक मनुष्यत्व की अपेक्षा से समान हैं, उसीप्रकार सिद्ध और ससारी—दोनोको जीवत्व की अपेक्षासे समान रहा है। केवलज्ञानादि की अपेक्षा से समानता मानें, तो वसा नही है, क्योंकि ससारी को निश्चय स मतिज्ञानादिक ही है और सिद्ध

को केवलज्ञान है। यहाँ इतना विशेष कि संसारी को मतिज्ञानादिक हैं वे कर्म के निमित्त से हैं, इसलिये स्वभाव अपेक्षा से संसारी को केवलज्ञान की शक्ति कह् सा उसमें दाष नहीं है। जिसप्रकार एक मनुष्य में राजा होने की शक्ति होती है उसीप्रकार यह शक्ति भी जानना।

पर्याय अपेक्षा से तो छद्मस्थ को मतिज्ञानादिक हैं वे निश्चयसे हैं। निश्चय से केवलज्ञान की शक्ति कहना यह तो द्रव्य अपेक्षा है, किंतु पर्याय में कहीं निश्चय से केवलज्ञान नहीं है। पर्याय में तो निश्चय से मति-श्रुत ज्ञान ही हैं।

पुनश्च, द्रव्यकर्म, नो कर्म तो पुद्गल की पर्याय है, इसलिये निश्चय से तो वहससारी जीव सेभी भिन्नही है, किंतु संसारपर्याय के समय उन कर्म-नो कर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है वह जानना चाहिये। सिद्ध भगवान की भांति संसारीको भी कर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिक संबंध सर्वथा न माने तो वह भ्रम है। हाँ, धर्मी जीव की दृष्टि में कर्म के साथका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध छूट गया है। निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध में जो राग द्वेषादि भावकर्म होते हैं, वह तो आत्मा का औदयिक भाव है, वह भाव निश्चय से आत्मा का है, तथा कर्म उस में निमित्त है। इसलिये उसे कर्म का कहना वह उपचार से-व्यवहार से है। राग-द्वेषादि उदयभाव भी निश्चय से आत्मा के हैं, क्यों कि वे आत्माकी पर्याय में होते हैं, तथा शरीर, कर्म आदि निश्चय से जड की परिणति है, उस के साथ जीव का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

शुद्ध द्रव्य दृष्टि के विषय में तो ऐसा कहा जाता है कि–रागादि आत्मा के हैं ही नहीं, व निश्चय से जड़ के हैं, किंतु वहाँ द्रव्यदृष्टि की बात है और यहाँ तो दो द्रव्यों का पृथक्त्व बतलाते हैं। जिस द्रव्य का जो भाव हो उसे उसी का कहना वह भी निश्चय है। राग को आत्मा का कहना भी निश्चय है। राग निश्चय से आत्मा का है, कर्म से राग हुआ ऐसा मानना यह भ्रम है। संसारी जीव के ही रागादि हैं यह औदयिक भाव स्वतत्त्व है, रागादि भाव कर्म के नहीं है। उन रागादिक भावों को कर्म का मानना वह भ्रम है। इसलिये निश्चय से ऐसा है, और व्यवहार से ऐसा है,–इसप्रकार एक ही पर्याय में दो भाव मानना वह भ्रम है, किंतु भिन्न २ भावों की अपेक्षा से नयों की प्ररूपणा है, इसलिये जिस अपेक्षा से जिस भाव का कथन हो, तदनुसार यथार्थ समझना वह सत्य श्रद्धा है। मिथ्यादृष्टि को अनेकांत के स्वरूप की खबर नहीं है।

[वीर सं० २४७६ प्र० वैशाख शुक्ला ६ बुधवार ता० २२-४-५१]

पुनश्च, उस जीव को व्रत शील संयमादिक का अंगीकार होता है। उसे व्यवहार से "यह भी मोक्षमार्ग का कारण है" ऐसा मान कर उसे उपादेय मानता है। यह तो, जिसप्रकार पहले मात्र व्यवहारावलम्बी जीव का अयथार्थपना कहा था उसीप्रकार इसके भी अयथार्थपना ही जानना। और वह ऐसा भी मानता है कि–"यथा योग्य व्रतादि क्रिया करना तो योग्य है, किन्तु उसमें ममत्व नहीं करना चाहिये।" अब, स्वयं जिसका कर्ता होगा उसमें ममत्व कैसे नहीं करेगा? यदि स्वयं कर्ता नहीं है तो "मुझे यह क्रिया करना योग्य है"–ऐसा भाव कैसे किया? और यदि स्वयं कर्ता है तो वह (क्रिया)

उसका कर्म हुआ, इसलिये कर्ता कर्म सम्बन्ध स्वयं सिद्ध हुआ। किन्तु ऐसी मान्यता तो भ्रम है।

शरीर से ब्रह्मचर्य का पालन करे, निर्दोष आहार ले, शरीर से हिंसा न हो, इत्यादि बाह्य व्रतादि की क्रियाको अज्ञानी मोक्षका साधन मानता है। और अज्ञानी ऐसा कहता है कि—अल्पाहार, शरीरको आसन लगाकर स्थिर रखना—आदि क्रियाएँ करना अवश्य किंतु उसका ममत्व नहीं करना चाहिये, लेकिन यह बात मिथ्या है। प्रथम तो कर्ता हुआ वहीं ममत्व आगया। कर्ता हो और ममत्व न करे यह कैसे हो सकता है? जड़की क्रिया आत्मा कर ही नहीं सकता, तथापि 'मैं करता हूँ'—ऐसा मानता है वह महामिथ्यात्व और ममत्व है। जड़ शरीरकी क्रिया मैं कर सकता हूँ—ऐसा जिसने माना है वह जीव जड़का कर्ता हुआ और जड़ उसका कर्म हुआ। वहाँ जड़के साथ कर्ता-कर्म सम्बन्ध हुआ, किन्तु यह मान्यता मिथ्यात्व है।

बाह्य व्रतादिक हैं वे तो शरीरादि परद्रव्याश्रित हैं, और पर द्रव्यका स्वयं कर्ता नहीं है, इसलिये उसमें कर्तृत्वबुद्धि भी नहीं करना चाहिये, तथा उसमें ममत्व भी नहीं करना चाहिये। उन व्रतादिकमें ग्रहण-त्यागरूप अपना शुभोपयोग होता है वह अपने आश्रित है और स्वयं उसका कर्ता है, इसलिये उसमें कर्तृत्वबुद्धि भी मानना चाहिये और ममत्व भी करना चाहिये।

शुद्ध उपयोग ही धर्मका कारण है

सम्यग्दृष्टि रागका कर्ता नहीं है—ऐसा कहा है, वह तो द्रव्य

दृष्टिकी अपेक्षा कहा है, किन्तु सम्यग्दृष्टिको भी पर्यायमें जितना राग होता है, उसका कर्ता पर्याय अपेक्षासे वह आत्मा ही है, कोई जड़ उसका कर्ता नहीं है। इसलिये पर्यायमें जो राग होता है उसे अपना जानना चाहिये, किन्तु उस शुभरागको मोक्षका कारण नहीं मानना चाहिये। शुभरागको धर्मका कारण मानना वह भ्रम है। धर्मका कारण तो राग रहित शुद्ध उपयोग है। शुद्धोपयोग और शुभोपयोग में प्रतिपक्षीपना है, शुभराग तो पुण्यबंधका कारण है और मोक्षका कारण शुद्धोपयोग है शुभरागसे पुण्यबंध भी हो और वह मोक्षका कारण भी हो—इसप्रकार एक ही भावको बंध-तथा मोक्षका कारण मानना वह भ्रम है। इसलिये व्रतादि में शुभ राग को बंध का ही कारण जानना, उसे मोक्षका कारण नहीं मानना चाहिये।

वीतराग शुद्ध उपयोग ही मोक्षका कारण है

व्रत-अव्रत दोनों विकल्पोंसे रहित जहाँ परद्रव्यके ग्रहण-त्यागका कोई प्रयोजन नहीं है—ऐसा उदासीन वीतराग शुद्धोपयोग है, वही मोक्षमार्ग है। किन्हीं जीवों को निचलीदशामें शुभोपयोग और शुद्धोपयोगका सयुक्तपना होता है, इसलिये उस व्रतादि शुभोपयोगको उपचार से मोक्षमार्ग कहा है। वस्तुविचारसे देखने पर शुभोपयोग मोक्षका घातक ही है।—इसप्रकार जो बंधका कारण है वही मोक्षका घातक है,—ऐसा श्रद्धान करना।

सम्यग्दृष्टिको शुभोपयोग भी वास्तवमें तो बंधका ही कारण है, किन्तु उस समय साथमें निश्चय श्रद्धा ज्ञान स्थिरतारूप मोक्षमार्ग है, इसलिये उसके शुभ को उपचारसे मोक्षका कारण कहा है, किन्तु सच्चा साधन तो विकल्परहित श्रद्धा-ज्ञान और वीतरागी चारित्र ही है।

राग मोक्षका साधन है ही नहीं—ऐसा श्रद्धान करना चाहिये। मोक्ष का कारण तो रागरहित ज्ञानानन्द स्वभावमें एकाग्रतारूप शुद्धोपयोग ही है। इसप्रकार शुद्धोपयोगको मोक्षका कारण जानकर उसका उद्यम करना चाहिये और शुभाशुभ उपयोगको बंधका कारण और हेय जानकर उनकी रुचि छोड़ना चाहिये। प्रथमसे ही ऐसा निश्चय करना चाहिये।

शुद्ध उपयोग ही मोक्ष का कारण होने से आदरणीय है—ऐसी श्रद्धा तो हुई है, किंतु जहाँ शुद्धोपयोग न हो सके वहाँ शुभोपयोग होता है। अशुभ को छोड़कर शुभ भाव करना—ऐसा उपदेश में कहा जाता है, किन्ही अशुभ आता है और उसे छोड़ देना चाहिये—ऐसा नहीं है। शुभ का काल है वहाँ अशुभ राग होता ही नहीं। राग हुआ और छोड़ देना चाहिये—ऐसा नहीं है। अशुभ हुआ ही नहीं है, फिर उसे छोड़ना कैसा? और अशुभ हुआ, तो उसे छोड़ना किसप्रकार? हुआ वह तो हुआ ही है, और दूसरे समय तो वह छूट ही जाता है। उसीप्रकार शुद्धोपयोग हुआ वहाँ शुभोपयोग छूट जाता है, अर्थात् वहाँ शुभ की उत्पत्ति ही नहीं होती।

क्रमबद्धपर्याय में तो कोई फेर नहीं पड़ता, किन्तु उपदेश में तो ऐसा ही कथन आता है कि पाप छोड़ो अशुभ छोड़ो। शुभ और अशुभ दोनों उपयोग अशुद्ध ही हैं, किंतु उनमें शुभ की अपेक्षा अशुभ में अधिक अशुद्धता है। जहाँ शुद्धोपयोग है वहाँ तो बाह्य में लक्ष ही नहीं है। चैतन्य के अनुभव में ही एकाग्रता वर्तती है, वहाँ पर द्रव्य का तो वह साक्षी ही है, इसलिये पर द्रव्यों का तो कोई सम्बन्ध आलम्बन ही नहीं है। परंतु शुभोपयोग के समय बाह्य में अहिंसा

का पालन करूँ, देखकर चलूँ—इत्यादि व्रतादिक की प्रवृत्ति होती है, तथा अशुभोपयोग के समय हिंसादि अव्रतरूप प्रवृत्ति होती है।—इसप्रकार शुभ और अशुभ भावरूप अशुद्ध उपयोग के समय परद्रव्य की प्रवृत्ति के साथ निमित्त नैमित्तिकपना होता है। जहाँ शुद्धोपयोग है वहाँ तो परद्रव्यके साथ सम्बन्ध ही नहीं है, शुद्धोपयोग का तो स्वभाव के ही साथ सम्बन्ध है। इसका ग्रहण करूँ और इसे छोड़ूँ—इत्यादि ग्रहण त्याग के विकल्प शुद्धोपयोग में नहीं होते। जब शुद्धोपयोग न हो तब अशुद्धोपयोग में शुभ अशुभ राग होता है।

[वीर० सं० २४७६ प्र० वैशाख शुक्ला १० गुरुवार २३-४-५३]

शुभ को और शुद्ध को कारणकार्यपना नहीं है।

कोई ऐसा मानता है कि—शुभोपयोग शुद्धोपयोग का कारण है। अब, वहाँ जिसप्रकार अशुभोपयोग छूटकर शुभोपयोग होता है, उसीप्रकार शुभोपयोग छूटकर शुद्धोपयोग होता है,—ऐसा ही यदि कारणकार्यपना हो तो शुभोपयोग का कारण अशुभोपयोग भी सिद्ध हो। अथवा द्रव्यलिंगी को शुभोपयोग तो मिथ्यादृष्टि के योग्य उत्कृष्ट होता है, जबकि शुद्धोपयोग होता ही नहीं है। इसलिये वास्तविकरूप से दोनों में कारणकार्यपना नहीं है। अशुभ में से सीधा शुद्धोपयोग किसीको नहीं होता। अशुभ दूर होकर शुभ होता है व शुभ दूर होकर फिर शुद्ध होता है। यद्यपि व्रत के परिणाम भी त्यागने योग्य हैं, किंतु सम्यग्दृष्टि को पहले अव्रत के परिणाम छूटकर व्रत के परिणाम होते हैं और फिर शुद्धोपयोग होने पर व्रत व शुभ परिणाम भी छूट जाते

हैं। वास्तव में शुभ वह शुद्ध का कारण नही है। यदि शुभ शुद्ध का कारण हो, तब तो अशुभ भी शुभ का कारण हो जाये किन्तु ऐसा नही है। पुनश्च, यदि शुभ वह शुद्ध का कारण हो, तो द्रव्यलिंगी मिथ्यादृष्टि उत्कृष्ट शुभ भाव करके नववें ग्रैवेयक मे जाता है, तथापि वह शुभराग उसे किंचित् भी शुद्ध का कारण नही होता। इसलिये शुभराग शुद्ध का कारण नही है। कभी-कभी भावलिंगी मुनि प्रथम स्वर्ग में जाता है और द्रव्यलिंगी मिथ्यादृष्टि शुभ से नववें ग्रैवेयक तक पहुँचता है, किन्तु उसे उस शुभ के कारण किंचित् मात्र शुद्धता नही होती। इसलिये शुभ और शुद्ध को वास्तव में कारणकार्यपना नही है।

जैसे–किसी रोगी को पहले भारी रोग था और फिर अल्प रह गया वहाँ वह अल्प रोग कही निरोग होने का कारण नहीं है। हाँ, इतना अवश्य है कि अल्प रोग रहे तब निरोग होने का उपाय करे तो हो सकता है, किंतु कोई उस अल्प रोग को ही भला जानकर उसे रखने का यत्न करे तो वह निरोग कैसे होगा? उसीप्रकार किसी कषायी को तीव्र कषायरूप अशुभोपयोग था, बाद में मंद कषायरूप शुभोपयोग हुआ, तो वह शुभोपयोग कहीं निष्कषाय शुद्धोपयोग होने का कारण नही है। हाँ, इतना अवश्य है कि–शुभोपयोग होने पर यदि यत्न करे तो शुद्धोपयोग हो जाये, किन्तु कोई उस शुभोपयोगको ही भला जानकर उसी की साधना करता रहे तो उसे शुद्धोपयोग कहाँ से होगा? दूसरे, मिथ्यादृष्टि का शुभोपयोग तो शुद्धोपयोग का कारण है ही नही, किन्तु सम्यग्दृष्टि को शुभोपयोग होने पर निकट

शुद्धोपयोग की प्राप्ति होती है ।—ऐसी मुख्यता से कहीं २ शुभोपयोग को भी शुद्धोपयोग का कारण कहते हैं—ऐसा समझना चाहिये ।

शुद्धोपयोग तो स्वभाव में एकाग्र होने पर ही होता है । शुभ तो पर के लक्ष से होता है । सारी दृष्टि बदल जाय तब शुद्धोपयोग होता है । मिथ्यादृष्टिको तो शुद्धोपयोग होता ही नहीं, इसलिये उसे तो शुभोपयोग कभी उपचार से भी शुद्ध का कारण नहीं होता । सम्यग्दृष्टि को स्वभाव की दृष्टि तो वर्त रही है, और शुभ को तोड़कर निकट में ही शुद्धोपयोग की प्राप्ति होना है, उस अपेक्षा से कहीं २ सम्यग्दृष्टि के लिये शुभ को शुद्ध का कारण कहते हैं ।

निश्चय–व्यवहार सम्बन्धी अज्ञानी का भ्रम

पुनश्च, यह जीव अपने को निश्चय–व्यवहार रूप मोक्षमार्ग का साधक मानता है, वहाँ जैसा पहले कह चुके हैं तदनुसार, आत्मा को शुद्ध माना वह तो सम्यक्दर्शन हुआ, उसीप्रकार जाना वह सम्यक्ज्ञान हुआ और उसीप्रकार विचार में प्रवर्तित हुआ वह सम्यक्चारित्र हुआ—इसप्रकार अपने को निश्चय रत्नत्रय का होना मानता है । किंतु मैं प्रत्यक्ष अशुद्ध होने पर भी शुद्ध किसप्रकार मानता हूँ–जानता हूँ—विचार करता हूँ ।—इत्यादि विवेक रहित मात्र भ्रमसे संतुष्ट होता है ।

आत्मा को 'शुद्ध शुद्ध" कहता है, किंतु किसप्रकार शुद्ध है उस की उसे खबर नहीं है । द्रव्यदृष्टि के बिना यों ही कहता है कि—आत्मा तो सिद्धसमान शुद्ध है, किंतु पर्याय में अशुद्धता होने पर भी शुद्धता मानना वह तो भ्रम है । वस्तु को समझे बिना शुद्ध आत्मा की

मान्यता किस प्रकार की ? यदि शुद्ध द्रव्य की यथार्थ मान्यता ज्ञान और एकाग्रता करे तो पर्याय में शुद्धता होना चाहिये, किन्तु पर्याय की तो उसे खबर नहीं है। मैं शुद्ध हूँ—ऐसी कल्पना से मानता है, जानता है और उस रागमिश्रित विचार में लीन होता है—उसीको वह निश्चय रत्नत्रय मानता है, किन्तु निश्चय रत्नत्रय के सच्चे स्वरूप की उसे खबर नहीं है। और अपनी व्यवहार रत्नत्रय को भी अन्य प्रकार से भ्रमरूप मानता है।

"अरिहंतादिके अतिरिक्त अन्य देवादिको मैं नहीं मानता, और जैन शास्त्रानुसार जीवादिक के भेद सीख लिये हैं उन्हीं को मानता हूँ, अन्य को नहीं मानता वह तो सम्यग्दर्शन हुआ। जैन शास्त्रों के अभ्यासमें बहुत प्रवर्तन करता है वह सम्यग्ज्ञान हुआ तथा व्रतादिरूप क्रियाओं में वर्तता है वह सम्यक् चारित्र हुआ।"—इस प्रकार अपने को व्यवहार रत्नत्रयरूप हुआ मानता है किन्तु व्यवहार तो उपचारका नाम है और वह उपचार भी तभी हो सकता है जब कि सत्यभूत निश्चय रत्नत्रयके कारणादिरूप हो अर्थात् जिसप्रकार निश्चयरत्नत्रयकी साधना होती है उसीप्रकार उसे साधे तो व्यवहारपना संभवित होता है। किन्तु इसे तो सत्यभूत निश्चयरत्नत्रय की पहिचान ही नहीं हुई है तब फिर तदनुसार साधना कैसे कर सकता है ? मात्र आज्ञानुसारी होकर देखा देखी साधना करता है, इसलिये उसे निश्चय व्यवहार मोक्षमार्ग भी नहीं हुआ है।

इसप्रकार यह जीव निश्चयाभास को जानता–मानता है, किन्तु व्यवहार साधनको भला समझता है, इसलिये स्वच्छंदी होकर अशु

भरूप प्रवतन नही करता, किन्तु व्रतादि शुभोपयोगरूप वर्तता है, इसलिये अन्तिम ग्रैवेयक तक का पद प्राप्त करता है, तथा यदि निश्चयाभासकी प्रबलतासे अशुभरूप प्रवृत्ति होजाये तो उसका कुगति में भी गमन होकर परिणामानुसार फल पाता है, किंतु ससारका ही भोक्ता रहता है, अर्थात् सच्चा मोक्षमार्ग प्राप्त किये बिना वह सिद्धपद को प्राप्त नही कर सकता।—इसप्रकार निश्चय व्यवहाराभास दोनों नयावलम्बी मिथ्यादृष्टियोंका निरूपण किया। वह जीव निश्चयाभास को जानता-मानता है, किन्तु व्यवहारसाधनको भला समझता है इसलिये स्वच्छन्दी होकर अशुभरूप प्रवतन नहीं करता।

अब, जो मिथ्यादृष्टि सम्यक्त्व सन्मुख है, उसका निरूपण करते हैं।



१२

सम्यक्त्वसन्मुख मिथ्यादृष्टिका निरूपण

किन्ही मंदकषायादिका कारण पाकर ज्ञानावरणादि कर्मोंका क्षयोपशम होने से जीवके तत्त्व विचार करने की शक्ति प्रगट होती है और सत्य समझने का इच्छुक हुआ होने से देव गुरु-शास्त्र नव-तत्त्व, छह द्रव्य आदि तत्त्वोंका विचार करने में उद्यमी हुआ,—ऐसा होने से उसे देव गुरु शास्त्रादि सच्चे बाह्य निमित्तों का योग मिला और वहाँ सच्चा उपदेश श्रवण किया। उस उपदेशमें अपने को प्रयोजनभूत मोक्षमार्ग के, देव गुरु धर्मादि के, जीवादि तत्त्वों के, स्व परके अथवा अपने को अहितकारी-हितकारी भावों के—इत्यादि उपदेश से सावधान होकर उसने ऐसा विचार किया कि—अहो! मुझे इस बातकी तो खबर ही नहीं थी, मैं भ्रमसे भूलकर मनुष्यादिक—शरीर में मग्न हो रहा हूँ, किन्तु यह शरीर तो अल्पकाल रहता है।—इसप्रकार वैराग्य होता है, तथा निर्णय करता है कि पूर्वोक्त तत्त्वोंकी मुझे खबर नहीं थी। "मैं तो यह सब जानता हूँ"—ऐसा जो भ्रमपूर्वक मान बैठे वह तो पात्र ही नहीं है, क्योंकि वह पूर्वकी और वर्तमान की अपनी मान्यताके बीच कोई भेद नहीं करता।

पुनश्च, वह विचार करता है कि मुझे यह सब निमित्त प्राप्त हुए हैं, इसलिये मुझे इस बात का निर्णय करना चाहिये, क्योंकि इसीमें मेरा हित है—ऐसा विचार करजो उपदेश सुना उसको धारणा करने का उद्यम करता है। यहाँ उपदेशका श्रवण लिया है, पहले शास्त्र पढ़कर तत्त्व विचार करता है—ऐसा नहीं कहा।

[वीर सं० २४७९ प्र० वैशाख शुक्ला ११ बुधवार २४-४-५३]

सम्यग्दर्शन प्राप्त करने में पूर्वकी पात्रता

सम्यग्दर्शन सन्मुख हुए जीवकी पात्रता कैसी होती है उसका यह वर्णन है। जिसने अभी सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं किया है किंतु प्राप्त करने के लिये तत्त्व निर्णय आदि का उद्यम करता है—ऐसे जीवकी यह बात है। जिसे आत्माका हित करने की भावना हुई है, सम्यग्दर्शन प्रगट करके आत्माका कल्याण करने की आकांक्षा जागृत हुई है—ऐसे जीवको प्रथम तो कषायकी मंदता हुई है, तत्त्वनिर्णय करने जितना ज्ञानकी शक्तिका विकास हुआ है, निमित्तरूपसे सच्चे देव गुरु शास्त्र मिले हैं और स्वयं का उनकी प्रतीति हुई है। ज्ञानीके निकट यथार्थ उपदेश प्राप्त हुआ है और स्वयं अपने प्रयोजन के लिये मोक्षमार्ग आदिका उपदेश सुना है। कौनसे भाव आत्माको हितकारी हैं और कौनसे अहितकारी हैं, सच्चे देव-गुरु-शास्त्रका स्वरूप क्या है और कुदेव कुगुरु-कुशास्त्र कैसे हैं, जीवादि नवतत्त्वोंका स्वरूप क्या है ? द्रव्य गुण पर्याय क्या हैं ? उपादान निमित्तका स्वरूप कैसा है ? मोक्षमार्गका सच्चा स्वरूप क्या है ?—इत्यादि प्रयोजनभूत विषयों का यथार्थ उपदेश गुरुगमसे प्राप्त हुआ है, और स्वयं अंतरमें उनका

निर्णय करके समझने का प्रयत्न करता है, उसे समझकर स्वयं अपना ही प्रयोजन सिद्ध करना चाहता है, उपदेशकी धारणा करके मैं दूसरे को सुनाऊं अथवा समझा दूँ—इस आशयसे नहीं सुनता, किन्तु समझकर अपना कल्याण करने की ही भावना है।

देखो, यह तो अभी सम्यग्दर्शन प्राप्त करने से पहले की पात्रता बतलाते हैं। जो अपना कल्याण करना चाहता है उसे मन्दकषाय और ज्ञानका विकास तो होना ही है तदुपरान्त ज्ञानी के पास से सच्चा उपदेश मिलना चाहिये। अज्ञानी–कुगुरुओं के उपदेशसे यथार्थ तत्त्व निर्णय नहीं हो सकता। जिसे कुदेव–कुगुरु तो छूट गये हैं, निमित्त रूपसे सच्चे देव गुरु शास्त्र मिले हैं, और कषायकी मंदता पूर्वक जो तत्त्व निर्णयका उद्यम करता है एसे जीव की यह बात है। देखो सम्यक्त्व से सुमुख जीवमें कैसी कैसी पात्रता होती है यह बतलाते हैं।

(१) प्रथम तो मन्दकषाय हुई है। आत्माका हित करने की जिज्ञासा हुई वही मन्दकषाय हो ही गई। तीव्र विषय कषायके भावों में डूबे हुए जीवको आत्माके हितका विचार ही नहीं उठता।

(२) मंदकषायसे ज्ञानावरणादिका ऐसा क्षयोपशम हुआ है कि तत्त्वका विचार और निर्णय करने जितनी ज्ञानकी शक्ति प्रगट हुई है। देखो, तत्त्व निर्णय करने जितनी बुद्धि तो है, किन्तु जिसे आत्माकी दरकार नहीं है वह जीव तत्त्व निर्णयमें अपनी बुद्धि नहीं लगाता और बाह्य विषय कषायोंमें ही लगाता है।

(३) जो सम्यक्त्व से सुमुख है उस जीवको मोहकी मंदता हुई

है, इसलिये वह तत्त्व विचारमें उद्यमी हुआ है। दर्शनमोहकी मंदता हुई है और चारित्रमोहमें भी कषायों की मंदता हुई है। अपने भावमें मिथ्यात्वादिका रस अत्यंत मंद होगया है और तत्त्वनिर्णय की ओर ढला है। सांसारिक कार्योंकी लोलुपता कम करके आत्माका विचार करने में उद्यमी हुआ है। संसार के कार्योंसे निवृत्त हो, (उनकी प्रीति कम करे), तब आत्माका विचार करे न ! जो संसारकी तीव्र लोलुपतामें मग्न हो उसे आत्माका विचार कहाँ से आयगा ? जिसके हृदयमें से संसारका रस उड़ गया है और जो आत्माके विचार का उद्यम करता है कि—"अरे ! मुझे तो अपने आत्मा का कल्याण करना है, दुनिया तो इसीतरह चलती रहेगी, दुनियाकी चिन्ता छोड़कर मुझे तो अपना हित करना है।"—ऐसे जीवकी यह बात है।

(४) उस जीवको बाह्य निमित्तरूपसे सच्चे देव-गुरु-शास्त्र आदि मिले हैं कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्रकी मान्यता छूट गई है और सर्वज्ञ वीतरागदेवको ही मानता है। अरिहंत भगवान की वीतरागी प्रतिमा भी देव है। शास्त्रमें नौ देव पूज्य कहे हैं—पंच परमेष्ठी, जिनधर्म, जिनवाणी, जिन चैत्यालय और जिनबिम्ब—यह नौ देवरूप से पूज्य हैं। सर्वज्ञ-वीतरागदेवको पहिचाने, और दिगम्बर संत भावलिंगी मुनि मिले वे गुरु हैं, तथा कोई ज्ञानी सत्पुरुष निमित्तरूप से प्राप्त हो वह भी ज्ञानगुरु है। पात्र जीवको ज्ञानीका उपदेश ही निमित्तरूप होता है। नरकादिमें मुनि आदिका सीधा निमित्त नहीं है, किन्तु पूर्वकालमें ज्ञानीकी देशना मिली है, उसके संस्कार वहाँ निमित्त होते हैं। देव गुरु के बिना अकेला शास्त्र सम्यग्दर्शन में निमित्त नहीं

ही सकता। इसलिये कहा है कि सम्यक्त्व सम्मुख जीवको कुदेवादि की परम्परा छोड़कर सच्चे देव गुरु शास्त्रकी परम्परा प्राप्त हुई है।

(५) पुनश्च, उस जीवको सत्य उपदेशका लाभ मिला है। ऐसे निमित्तोंका संयोग प्राप्त होना तो पूर्व पुण्यका फल है, और सत्यतत्त्व का निर्णय करने का उद्यम वह अपना वर्तमान पुरुषार्थ है। पात्र जीव को कैसे निमित्त होते हैं वह भी बतलाते हैं कि—निमित्तरूपसे सत्य उपदेश मिलना चाहिये। यथार्थ मोक्षमार्ग क्या है? नवतत्त्वोंका स्वरूप क्या है? सच्चे देव गुरु शास्त्र कैसे होते हैं? स्व पर, उपादान निमित्त, निश्चय व्यवहार सम्यग्दर्शनादि हितकारी भाव तथा मिथ्यात्वादिक अहितकारी भाव—इन सबका यथार्थ उपदेश मिला है। उपदेश मिलना तो पुण्यका फल है, किन्तु उसे सुनकर तत्त्व निर्णय करने की जिम्मेवारी अपनी है।—यह बात अब कहते हैं।

(६) ज्ञानी के पास से यथार्थ तत्त्वका उपदेश मिलने के पश्चात् स्वयं सावधान होकर उसका विचार करता है। यों ही ऊपर से नहीं सुन लेता, किन्तु अच्छी तरह ध्यानपूर्वक सुनकर सावधानी से उसका विचार करता है, और उपदेश सुनते समय बहुमान आता है कि— 'अहो! मुझे इस बातकी तो खबर ही नहीं है, ऐसी बात तो मैंने पहले कभी सुनी ही नहीं। देखो, यह जिज्ञासु जीवकी योग्यता!

जिसे अपने आत्माका हित करना हो, वह जगत् को देखने में नहीं रुकता। बाह्य में बहुत से ग्रामों में जिनमंदिरों का निर्माण हो और बहुत से जीव धर्म प्राप्त करें तो मेरा कल्याण हो जाये,—ऐसा विचार करके यदि बाह्य में ही रुका रहे तो आत्मा की ओर कब देखेगा? अरे भाई! तू अपने आत्मा में ऐसा मन्दिर बना कि जिसमें

सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्ररूपी भगवान आकर विराजमान हो। भक्ति प्रभावनादि का शुभराग आये वह अलग बात है, किन्तु पात्र जीव उस राग पर भार न देकर आत्मा के निर्णय का उद्यम करता है। अहो! ऐसे तत्त्व की मुझे अभी तक खबर नहीं थी। मैंने भ्रम से रागादि को ही धर्म माना था, और शरीर को अपना स्वरूप मानकर उसमें तन्मय था। यह शरीर तो जड़ अचेतन है और मैं तो ज्ञान-स्वरूप हूँ। इस शरीर का संयोग तो अल्पकाल पर्यन्त ही है, यह मनुष्य भव कहीं नित्यस्थायी नहीं रहेगा। यहाँ मुझे सब हितकारी निमित्त मिले हैं, इसलिये मैं तत्त्व समझ कर अपने आत्मा का उद्धार करूँ और मोक्षमार्ग आदिका अच्छी तरह विचार करूँ–ऐसा सोच कर तत्त्वनिर्णय आदिका उद्यम करता है। "काम एक आत्मार्थका अन्य नहीं मन रोग।"

(७) वहाँ उद्देश सहित निर्देश अर्थात नाम जानता है, और लक्षण निर्देश अर्थात् जिसका जो लक्षण हो वह समझना है, तथा परीक्षा द्वारा विचार करके निर्णय करता है। जीव–अजीवादिके नाम सीखता है, उनके लक्षण समझना है और परीक्षा करके निर्णय करता है। जो उपदेश सुना उसकी धारणा करके फिर स्वयं अंतरमें उसका निर्णय करता है। उपदेशानुसार तत्त्वों के नाम और लक्षण जानकर स्वयं विवेक पूर्वक निर्णय करता है। देखो, आत्महित के लिये ये प्रथम कर्तव्य है।

तत्त्वनिर्णय करने के लिये प्रथम तो तत्त्वों के नाम और लक्षण जानता है और फिर स्वयं परीक्षा द्वारा तत्त्व के भावों को पहिचान

कर निणय करता है। अज्ञानी के विरुद्ध उपदेश को तो मानता ही नही है, किंतु ज्ञानी के पास से जो यथार्थ उपदेश मिला है, उसका भी स्वय उद्यम करके निणय करता है। यों ही नहीं मान लेता, किंतु स्वय अपना विचार मिलाकर तुलना करता है। ज्ञानी के पास से सुन लिया, किंतु पश्चात "यह कौन सी रीति है"—इसप्रकार स्वय उसके भावको पहिचान कर स्वय निणय न करे तो सच्ची प्रतीति नहीं होती। इसलिये कहा है कि ज्ञानी के पास से जो तत्त्व का उपदेश सुना उसे धारण कर रखना चाहिये, और फिर एकान्त में विचार करके स्वय उसका निणय करना चाहिये। उपदेश सुनने में ही जो ध्यान नही रखता, और उसी समय अन्य सासारिक विचारो में लग जाता है उसे तो तत्त्वनिणय की दरकार ही नहीं है। क्या कहा—उसकी धारणा भी न करे तो विचार करके अतर में निर्णय कसे करेगा? जिसप्रकार गाय खाने के समय खा लेती है और फिर आराम से बैठी बैठी जुगाली करके उसे पचाती है, उसीप्रकार जिज्ञासु जीव जैसा उपदेश सुने वैसा अच्छीतरह याद कर लेता है और फिर एकान्त में विवेक पूर्वक विचार करके उसका निर्णय तथा अतर मे परिणमित करने का प्रयत्न करता है।

यथार्थ उपदेश सुनना, याद रखना, विचारना और उसका निणय करना—ऐसी चार बात रखी हैं। तत्त्व निणय करने की शक्ति स्वय में होना चाहिये। उस जीव के इतना ज्ञानका विकास तो हुआ है, किंतु उस ज्ञान को तत्त्वनिर्णय करने में लगाना चाहिये। सुनने के पश्चात स्वय मात्र अपने उपयोग का विचार करे कि—श्री गुरु ने जो कहा है वह किस प्रकार होगा!—इस प्रकार स्वय उपदेशानुसार निणय करनेका प्रयत्न करता है। मात्र सुनता ही रहे या पढता ही

रहे, किन्तु स्वयं कुछ भी विचार करके तत्त्वनिर्णय में अपनी शक्ति न लगाये तो उसे यथार्थ प्रतीति का लाभ नहीं हो सकता।

विपरीत अभिप्राय रहित तत्त्वार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन का लक्षण है–ऐसा जो ज्ञानी उपदेश देते हैं, उसे स्वयं सुने और फिर एकान्त में बैठकर विचार करे कि जीवादि सात तत्त्व कहे हैं उनका स्वरूप क्या है ? उनके श्रद्धान को सम्यक्दर्शन का लक्षण कहा, वह किस प्रकार घटित होता है ? इसप्रकार स्वयं विचार करके निर्णय करना चाहिये। सात तत्त्वों की परीक्षा करके पहिचानना चाहिये।

"सम्यग्दर्शन"–ऐसा कहा वह नाम हुआ। "तत्त्वार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन"–ऐसा कहा वह सम्यग्दर्शन का लक्षण हुआ। "जीव"–ऐसा कहा वह नाम हुआ। "जीव ज्ञान स्वरूप है"–ऐसा कहा वह जीव का लक्षण हुआ। इसप्रकार तत्त्वों का नाम और उनका लक्षण जानना चाहिये। देव गुरु शास्त्र, मोक्षमार्ग, उपादान निमित्त, स्व पर हित अहित आदिके नाम तथा लक्षण सुनकर जानना चाहिये और स्वयं परीक्षा करके उनका निर्णय करना चाहिये। ज्ञानी ने कहा वह तो ज्ञानीके पास रहा, किंतु स्वयं निर्णय न करे तो स्वयं को तत्त्वका यथार्थ लाभ नहीं हो सकता। इसलिये नाम और लक्षण जानकर निर्णय करना चाहिये। सम्यक् चारित्र—यह नाम, वहाँ वीतरागभाव उसका लक्षण है। जीव-अजीवादि नाम कहना वह नाम निर्देश है, और फिर प्रत्येक का भिन्न भिन्न लक्षण बतलाना वह लक्षण निर्देश है।

नवतत्त्वों को तथा मोक्षमार्गादि को पहिचान कर स्वयं एकान्तमें विचार करना चाहिये। एकान्त में विचार करने को कहा, उसमें विचारकी एकाग्रता बताते हैं। क्षेत्रकी बात नहीं ली है कि

निर्णय करने के लिए जंगल में जाना चाहिये। भगवान के समवशरण में बैठा हो और अन्दर के विचारों में लीन होकर सम्यग्दर्शन प्राप्त करले, तो वहाँ भी उस एकान्त कहलाया। वहाँ युक्ति-अनुमान—प्रत्यक्षादि से उपदेशमें आये हुए तत्त्व वैसे ही हैं या अन्यथा हैं उसका निर्णय करना चाहिए। तथा विशेष विचार करना चाहिये कि उपदेश में तो यह कथन आया है, किन्तु यदि ऐसा न माना जाये तो क्या बाधा आयगी ?

एकद्रव्य दूसरे द्रव्य के आश्रित नहीं रहता, एक में दूसरे से किंचित लाभ हानि नहीं है —इसप्रकार जहाँ द्रव्य की स्वतंत्रता का उपदेश आये वहाँ भी बराबर विचार करके निर्णय करना चाहिये। धर्मास्तिकाय के निमित्त से जीव-पुद्गल गति करते हैं —ऐसा कथन जहाँ आये वहाँ विचार करना चाहिए कि जब जीव-पुद्गल स्वयं गति करते हैं तब धर्मास्तिकाय निमित्तमात्र है। वह कहीं जबरन् गति नहीं कराता,—इसप्रकार युक्ति द्वारा तत्त्व निर्णय करना चाहिये। पुनश्च, एक तत्त्व के सम्बन्ध में परस्पर विरोधी दो युक्तियाँ आयें, तो वहाँ कौनसी युक्ति प्रबल, तथा कौन निबल है—उसका विचार करना चाहिए। वहाँ जो युक्ति प्रबल भासित हो उसे सत्य मानना चाहिये और जो युक्ति निबल भासित हो उसे छोड़ देना चाहिये,—ऐसा विचार कर तत्त्व का निर्णय करना चाहिये।

[वीर० सं० २४७९ प्र० वैशाख शुक्ला १२ शनिवार २५-४-५३]

विकार जीव का उस समय का स्वकाल है, कर्म के कारण विकार नहीं है।

सम्यग्दर्शन का लक्षण तत्त्वार्थ श्रद्धान सहित निर्विकल्प प्रतीति, सम्यग्ज्ञान का लक्षण स्व पर प्रकाशकपना, सम्यक्चारित्र का लक्षण वीतरागता, जीवतत्त्व का लक्षण ज्ञान स्वभाव —इसप्रकार समस्त तत्त्वों के नाम और लक्षण जानना चाहिये। आस्रव आत्माकी विकारी पर्याय है, उस पर्यायमें आत्माके द्रव्य गुण विद्यमान हैं, क्योंकि गुण अपनी सब पर्यायोंमें रहता है। उसके बदले ऐसा माने कि कर्मके कारण रागादि विकार हुआ है, तो उसने अपने चारित्रगुण को सब पर्यायोंमें विद्यमान नहीं माना, इसलिये गुण को ही नहीं माना और द्रव्य को भी नहीं माना। [गुण तो उसे कहा जाता है जो द्रव्य के पूरे भाग में और उसकी सब अवस्थाओं में व्याप्त हो।] उसीप्रकार मिथ्यात्व भाव हुआ और वह भी जीव की पर्याय है, वह जड़ मोह-कर्म के कारण नहीं हुआ है। मिथ्यात्वपर्याय में जड़ कर्म नहीं रहता किन्तु उसमें श्रद्धागुण रहता है। राग पर्याय हुई तो वह कहां २ से आई? त्रिकाली द्रव्य गुण में राग नहीं है, तो क्या कर्म ने राग कराया? नहीं। कर्म में राग कहां है? कर्म में कहीं ऐसी शक्ति नहीं है कि वह विकार कराये। राग पर्याय भी चारित्रगुण का उस समय का स्वकाल है। चारित्रगुण अपनी सब अवस्थाओं में रहता है। देखो, ऐसा न जाने तो उसने गुण का लक्षण नहीं जाना है। राग कर्म के कारण होता है—ऐसा माने तो चारित्रगुण अपनी समस्त पर्यायों में व्यापक नहीं रहा। तो राग के समय चारित्रगुण कहां गया?—इसप्रकार तत्त्व का भाव भासन होने पर ऐसी प्रतीति करना चाहिये कि इन्द्र डिगाने आये फिर भी चलित न हो।

राग में जड़कर्म निमित्त है, किन्तु उस निमित्त के गुण अपनी

पर्याय में (निमित्तम) वत रहे हैं। निमित्त के गुण कहीं पर में नहीं जाते। उपादान के गुण उपादान की समस्त पर्यायों में रहते हैं और निमित्तके गुण उसकी समस्त पर्यायों में व्याप्त होते हैं,—एकके गुण दूसरे की पर्याय में व्याप्त नहीं होते।

गुण स्वतन्त्ररूप से वतते हुए-परिणमित होते हुए अपनी पर्याय में व्याप्त होते हैं। वे गुण ही अपनी पर्याय के स्वतन्त्ररूप से कर्ता हैं।

परमाणु में विकार हुआ अर्थात दो गुण चिकनाहट आदि परिणमित होकर अनन्त गुण चिकनाहट आदि हुई, तो उन किसी ने उसे परिणमित नहीं किया, किन्तु वह स्वयं परिणमित हुआ है, उसकी पर्याय में उसके गुण प्रवतमान हैं। दो गुण रूक्षता या चिकनाहट परिवर्तित होकर चार गुण रूक्षता या चिकनाहट वालेके साथ बँध, वहाँ चार गुण वाले ने उसे परिणमित नहीं किया है, किन्तु स्वयं अपने गुण से ही परिणमित हुआ है।—इसप्रकार समस्त तत्वों को स्वतन्त्र जानना।

त्रिकाली द्रव्य-गुण में विकार नहीं है, तथापि विकार कहाँ से आया?—तो कहते हैं कि अपने स्वरूप भाव से च्युत होकर पर्याय रुकी इसलिये रागादि विकार हुआ। पुनश्च, एक को सम्यग्दर्शन हुआ और सब को क्यों नहीं हुआ? दूसरे को सम्यग्दर्शन हुआ और मुझे क्या नहीं हुआ?—तो कहते हैं कि उसने पुरुषार्थ किया इसलिये हुआ।—इसप्रकार निर्णय करना।

समस्त तत्वों के यथार्थ निर्णय का उद्यम करते ही रहना चाहिये और स्वयं एकान्त में विचारना चाहिये तथा समझने के लिये विशेष

ज्ञानी के निकट प्रश्नोत्तर करना चाहिये। मैं पूछूंगा तो लोगों को खबर पड़ जायेगी कि "मुझे आता नहीं है'—ऐसा मान मन में नहीं रखना चाहिये, किंतु समझने के लिये पूछते ही रहना चाहिये तथा जो उत्तर दें उसे बराबर विचारना चाहिये। पूछने में शर्म नहीं रखना चाहिये, किन्तु निर्मानता होना चाहिये पुनश्च, अपने समान बुद्धि के धारक साधर्मी के साथ विचार और परस्पर चर्चा करना चाहिये तथा एकान्त में विचार करके निर्णय करना चाहिये। जिसे सम्यक्त्व की चाह हो, सम्यग्दर्शन प्रगट करने की गरज हो—उस जीवकी यह बात है। देखो, यह सम्यग्दर्शन का उद्यम!

अहो! चैतन्य वस्तु तो अपूर्व है। अनंतबार शुभभाव किये तथापि चैतन्य वस्तु लक्ष मे नहीं आई, तब फिर राग से पार चैतन्य वस्तु तो अंतर की अपूर्व वस्तु है उसके निर्णय में कोई बाह्यकारण या राग सहायक नहीं होता। अनंतबार द्रव्यलिंगी साधु होकर शुभ-भाव से नववें ग्रैवेयक तक गया, तथापि चैतन्यवस्तु की प्रतीति नहीं हुई। वह चैतन्यवस्तु राग के अवलम्बन से पार अपूर्व महिमावान है, तथा अंतर्मुख ज्ञान से ही उसे पकड़ा जा सकता है।—ऐसा विचार कर चैतन्य को पकड़ने का उद्यम करता है।

स्वानुभव प्रगट करने के लिये प्रेरणा

पहले तो उपदेश सुनकर, नामीस पूछकर, साधर्मीजनों के साथ चर्चा करके और विचारकर तत्त्वका बराबर निर्णय करता है। तत्त्व के निर्णयमें ही भूल हो तो अनुभव नहीं हो सकता। इसलिये कहा है कि तत्त्वनिर्णयका उद्यम करना चाहिये। "सम्यक्त्व सहज है,

कौन सा जीव कब सम्यक्त्व प्राप्त करेगा—वह सब केवली भगवान के रजिस्टरमें दर्ज है,"—ऐसा कहा जाता है किन्तु वहाँ सहज कहते ही उद्यम भी साथ ही है। केवली ने देखा होगा तब सम्यग्दर्शन होगा—ऐसा 'सहज" का अर्थ नहीं है। श्री समयसारमें कहा है कि हे जीव! तू जगतका व्यर्थ कोलाहल छोड़कर अंतरमें चैतन्य वस्तु के अनुभवनका 'छह महीने' प्रयत्न करतो तुझे अवश्य उसकी प्राप्ति होगी। रुचि हुई हो और अंतरमें अभ्यास करे तो अल्पकालमें उसका अनुभव हुए बिना नहीं रहेगा। इसलिये सम्यग्दर्शनके लिये अंतरमें तत्वनिर्णय और अनुभवका उद्यम करना चाहिये।

पुनश्च, अन्यमतियों द्वारा कल्पित तत्वका उपदेश दिया है, उसके द्वारा यदि जैन उपदेश अन्यथा भासित हो, उसमें संदेह हो तो भी उपरोक्तानुसार उद्यम करता है। इसप्रकार उद्यम करने से 'जैसा श्री जिनदेवका उपदेश है वही सत्य है, मुझे भी ऐसा ही भासित होता है"—ऐसा निर्णय होता है, क्योंकि जिनदेव अन्यथा वादी नहीं हैं।

सनातन दिगम्बर जैन मतके अतिरिक्त सब अन्यमती हैं। सर्वज्ञ भगवान को रोग होता है, दस्त लगते हैं और आहार दवा लेते हैं,—ऐसा जो मानता है वह अन्यमती है–जैनमती नहीं। दिगम्बर सम्प्रदाय में रह कर भी जो ऐसा माने कि–व्यवहार करते करते परमार्थ प्रगट हो जायेगा, निमित्त के अवलम्बन से धर्म होगा, वह अन्यमती जैसा ही है।

आठ वर्ष में केवलज्ञान प्राप्त करें और फिर करोड़ों अरबों वर्ष

तक शरीर बना रहता है। आहार जल आदि न होने पर भी शरीर ज्यों का त्यों रहता है,—ऐसा परमौदारिक शरीर का स्वभाव है, किंतु उस न स दह कर के भगवान को आहारादि मनाय तो वह मिथ्यादृष्टि अन्यमती है। सनातन सवज्ञ परम्परा में भगवान कुन्द-कुन्दाचाय, वीरसेनाचाय, समन्तभद्राचाय—इत्यादि संतो ने जैसा स्वरूप कहा है वही यथाथ है। उस परम्परा स जो विपरीत मनाये वह कल्पित मार्ग है।

शुभराग से ससार परिमित नहीं होता

मुनिको आहार दने स मिथ्यादृष्टि को ससार परिमित होता है-एसा मनाय, खरगोश आदि परजीवों दया पालन क शुभरागसे ससार परिमित होना माने मनाये तो वह कल्पित तत्त्व है। वह जन माग नही है। क्योंकि मिथ्यादृष्टि के तो अनतानुबधी राग द्वष विद्यमान हैं, उस दया दानादि के शुभराग से परिमित ससार (ससारका टूटना) नही होता। सम्यग्दशन स ही ससार परिमित होता है। उसके बदले जो राग से ससार परिमित होना मनाता है—वह बात मिथ्या है। यहाँ तो कहते है कि वसा मानने वाले जनमती नहीं किंतु अन्यमती हैं। इसप्रकार तत्त्वका यथाथ निणय करना चाहिये। महाविदेह क्षेत्र में सनातन सत्यमाग चलरहा है। जसा मार्ग वहाँ है वैसा ही यहाँ है, और जैसा यहाँ है वसा ही वहाँ है। भरत, ऐरावत और महाविदेह —सवत्र सनातन वीतराग मार्ग एक ही प्रकार का है। उसका जैसा भाव सवज्ञभगवान ने कहा है वसा ही अपने को भासित होना चाहिये। अपने को भाव भासन सहित प्रतीति हो वही यथाथ प्रतीति है। एक

मक्खी भी मिसरी और फिटकरी के स्वादका भेद करके विवेक करती है और मिसरी का स्वाद लेने जाती है। उसीप्रकार पचेंद्रिय सभी जीवों को तत्त्वनिर्णयकी शक्ति प्राप्त हुई है, इसलिये अपने ज्ञानसे तत्त्वनिर्णय करके उसका भावभासन होना चाहिये। सम्यग्दर्शनके लिये क्या उपादेय है? क्या हेय है?—इन सब तत्त्वोंका भावभासन होना चाहिये। विचार तो करे किन्तु विचार करके तत्त्वका अवाय (निर्णय) होना चाहिये। भगवान ने कहा इसलिये सच्चा है—ऐसा मानले, किन्तु स्वयं को उसका भाव भासित न हो तो वह प्रतीति यथार्थ नहीं है इसलिये 'भावभासन' पर मुख्यता भार दिया है।

भावभासनपूर्वक प्रतीति ही सच्ची प्रतीति है

प्रश्न—यदि जिनदेव अन्यथावादी नहीं हैं, तो जैसा उनका उपदेश है वैसा ही श्रद्धान कर लेना चाहिये परीक्षा किसलिये करें?

उत्तर—परीक्षा किये बिना ऐसा तो माना जा सकता है कि—'जिनदेव ने इसप्रकार कहा है वह सत्य है,' किंतु स्वयं को उसका भाव भासित नहीं हो सकता, और भाव भासन हुए बिना श्रद्धान निर्मल नहीं होता, क्योंकि—जिसकी किसी के वचनों द्वारा प्रतीति की हो, उसकी अन्य के वचनों द्वारा अन्यथा प्रतीति भी हो सकती है तो उन वचनों द्वारा की हुई प्रतीति शक्ति अपेक्षा से अप्रतीति समान ही है किंतु जिसका भावभासन हुआ हो उसे अनेक प्रकारों द्वारा भी अन्यथा नहीं मान सकता। इसलिये जो प्रतीति भावभासन सहित होती है वही सच्ची प्रतीति है।

ज्ञानमें भावभासन निर्णय निश्चय होगया हो तो सारी दृष्टि

बदल जाती है। कभी ग्र यथा कथन करके इन्द्र भी परीक्षा करता हो, तथापि उसकी प्रतीति बदल नही सक्ती—उसमें अडिग रहता है। भावभासनके बिना भूल हुए बिना नही रहती। उसका दृष्टान्त देते हैं—एकबार किसी लडके को मच्छरका ज्ञान कराने के लिये बड़ा चित्र बनाकर बतलाया कि—मच्छरकेऐसे चार पर होते हैं, ऐसी सूंड होती है—इत्यादि। कुछ दिनो बाद उस गावमें हाथी आया, और उस लडके से पूछा कि यह क्या है ?—लडकेने उत्तर दिया कि उस दिन चित्रमे बतलाया था, वसा ही यह मच्छर है! देखो, भाव भासित हुए बिना बडे भारी हाथी को मच्छर मान लिया। उसीप्रकार जिसे जीवादि तत्त्वोंका भाव भासित नही हुआ है वह क्षणिक राग को जीव मान लेता है, इसलिये जीवादि तत्त्वोंका भावभासन हुए बिना उनकी यथार्थ प्रतीति नही होती। यथार्थ भावभासन सहित जो प्रतीति होती है वह सच्ची प्रतीति है। कोई कहे कि—पुरुष प्रमाणता से वचन प्रमाण करते हैं, किन्तु पुरुषकी प्रमाणता भी स्वय नही होती। पहले उसके कुछ वचनोंकी परीक्षा कर लेने पर ही पुरुषकी प्रमाणता होती है।

उपदेशमें अनेक प्रकार के तत्त्व कहे हैं, उनमें कौन कौनसे तत्त्वो की परीक्षा करना चाहिये वह अब कहते हैं।

[वीर स० २४७९ प्र० वशाख शुक्ला १३ रविवार ता० २६-४-५३]

जो जीव मिथ्यादृष्टि होने पर भी सम्यक्त्व सन्मुख है, सम्यक्त्वकी तत्परता और उद्यम है—ऐसे जीवकी बात चल रही है। वह जीव तत्त्वनिर्णय करने का उद्यम करता है। कुदेवादिकी मान्यता

सो छूट ही गई है और सच्चे देव गुरु शास्त्रको पहिचानकर उन्हीं को मानता है, तथा उनके कहे हुए तत्त्वोंका निर्णय करता है। जिन वचनों में अनेक प्रकार के तत्त्वोंका उपदेश है, उनमें प्रयोजनभूत तत्त्व कौन-कौनसे हैं जिन जिन तत्त्वोंकी परीक्षा करके निर्णय करना चाहिये यह कहते हैं।

परीक्षा करके हेय-ज्ञेय-उपादेय तत्त्वों को पहिचानना चाहिये।

उपदेश में कोई तत्त्व उपादेय तथा कोई तत्त्व हेय हैं, उनका वर्णन है। आत्माकी संवर निर्जरा मोक्षरूप निर्मल पर्याय यह उपादेय तत्त्व है, तथा मिथ्यात्वादि बंध भाव ये हेय तत्त्व हैं। व्यवहारमें सच्चे देव गुरु शास्त्र उपादेय हैं और कुदेव कुगुरु कुशास्त्र हेय हैं। निश्चय में अपना शुद्ध आत्मा ही उपादेय है। अन्य जीव अजीव तत्त्व ज्ञेय हैं।—इसप्रकार नवों तत्त्वों में हेय ज्ञेय और उपादेयको परीक्षा करके निर्णय करना चाहिये।

उपदेश में किसी तत्त्वका उपादेयरूप और किसी का हेयरूप निरूपण किया जाता है। वहाँ उन उपादेय हेय तत्त्वोंकी परीक्षा अवश्य कर लेना चाहिये, क्योंकि उनमें अयथार्थपना होने से अपना अहित होता है, अर्थात् यदि उपादेय को हेय मानले तो अहित होता है, और हेयको उपादेय मानले तो भी अहित होता है।

अब, कोई पूछता है कि स्वयं परीक्षा न करे, और जिनवचन में कहे अनुसार हेयको हेय तथा उपादेय को उपादेय माने तो क्या आपत्ति है? उसका उत्तर देते हैं।

उत्तर—अथवा भाव भासित हुए बिना वचनो का अभिप्राय नही जाना जा सकता। स्वय तो मानले कि मैं जिनवचनानुसार मानता हूँ किन्तु भावभासित हुए बिना अन्यथापना हो जाता है।

तत्वका जैसा भाव है वसी ही श्रद्धा करना वह तत्व श्रद्धान है। प्रयोजनभूत तत्वका जैसा स्वरूप है वसा जाने बिना यथार्थ श्रद्धान नहीं होता। प्रयोजनभूत तत्वको तो परीक्षा करके श्रद्धा करता है, और कि ही सूक्ष्म तत्वोको परीक्षा करके उन्हें वहे अनुसार मान लेता है। इस सम्ब धमें स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ३२३ ३२४ म कहा है कि—इसप्रकार निश्चयसे सब जीव, पुद्गल, धम, अधम, आकाश और काल—इन छह द्रव्यो को तथा उन द्रव्योकी सब पर्यायो को सवनके आगम अनुसार जो जानता है—श्रद्धान करता है, वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि होता है तथा जो इसप्रकार श्रद्धान नही करता कि तु उसमें शका करता है वह सवज्ञके आगमसे प्रतिकूल है—प्रगटतया मिथ्यादृष्टि है।

प्रयोननभूत हेय—उपादेय तत्वों की परीक्षा करके यथार्थ निर्णय करना चाहिये

जो जीव ज्ञानावरणके विशिष्ट क्षयोपशम बिना तथा विशिष्ट गुरुके सयोग बिना सूक्ष्म तत्वार्थको नहीं जान सकता वह जीव जिन वचनमें इसप्रकार श्रद्धान करता है कि—'जिनेद्रदव ने जो सूक्ष्म तत्व कहा है वह सब मैं भलीभाँति इष्ट करता हूँ"—इसप्रकार भी वह श्रद्धावान होता है।

सामान्यतया तत्त्वोंका निर्णय तो स्वयं किया है, किन्तु विशेष क्षयोपशमज्ञान नहीं है इसलिये सूक्ष्म तत्त्वों को नहीं जान सकता। वह सबकी आज्ञानुसार मानता है। किन्तु जो मूलभूत तत्त्वोंका निर्णय भी न कर उसे यथार्थ प्रतीति नहीं होती। इसलिये यहाँ कहते हैं कि तत्त्वोंका भाव अपने ज्ञानमें भासित हुए बिना केवली के वचनका यथार्थ अभिप्राय समझमें नहीं आता और स्वयं परीक्षा करके जाने बिना अन्यथा प्रतीति हो जाती है। लोकमें भी किसी आदमी को काम के लिये भेजा हो वहाँ वह आदमी अगर उसका भाव न समझे तो कुछ के बदले कुछ कर लाता है। इसी आशयका एक दृष्टान्त है—एक सेठ ने अपने नौकर से कहा कि—जा, घोड़े को पानी पिला ला। वहाँ सेठ के कहने का तात्पर्य तो घोड़े को पानी पिला लाने का था, किन्तु वह नौकर उसे नहीं समझा और घोड़े को नदी किनारे ले जाकर कहने लगा कि—"देख घोड़ा पानी!"— इसतरह पानी दिखाकर उसने घोड़े को घर लाकर बांध दिया। घोड़ा प्यास के मारे हिनहिनाने लगा। तब सेठ ने नौकर से पूछा क्यों भाई! घोड़े को पानी पिलाया या नहीं? वह बोला कि—आपने तो पानी दिखलाने के लिये कहा था, पिलाने के लिये कब कहा?—नौकर का उत्तर सुनकर सेठ आश्चर्यमें पड़ गये और बोले कि—अरे मूरख! कहने का भाव तो समझ लेता। उसीप्रकार भगवान ने कहा है इसलिये मान लो—इसप्रकार परीक्षा किये बिना मान ले, किन्तु स्वयं उसका प्रयोजन न समझे तो लाभ नहीं हो सकता। इसलिये हेय और उपादेय तत्त्व कौन कौनसे हैं उसका बराबर निर्णय करके समझना चाहिये। भगवान ने कहा है तदनुसार अपने ज्ञानमें बराबर

उत्तर—अर्थका भाव भासित हुए बिना वचनों का अभिप्राय नहीं जाना जा सकता। स्वयं तो मानते कि मैं जिनवचनानुसार मानता हूँ, किन्तु भावभासित हुए बिना अयथापना हो जाता है।

तत्वका जैसा भाव है वैसी ही श्रद्धा करना वह तत्व श्रद्धान है। प्रयोजनभूत तत्वका जैसा स्वरूप है वैसा जाने बिना यथार्थ श्रद्धान नहीं होता। प्रयोजनभूत तत्वकी तो परीक्षा करके श्रद्धा करता है, और किन्हीं सूक्ष्म तत्वोंकी परीक्षा करके उन्हें वहे अनुसार मान लेता है। इस सम्बन्धमें स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ३२३-३२४ में कहा है कि—इसप्रकार निश्चयसे सब जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल—इन छह द्रव्यों को तथा उन द्रव्योंकी सब पर्यायों को सर्वज्ञके आगम अनुसार जो जानता है—श्रद्धान करता है, वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि होता है तथा जो इसप्रकार श्रद्धान नहीं करता किन्तु उसमें शंका करता है वह सर्वज्ञके आगमसे प्रतिकूल है—प्रगटतया मिथ्यादृष्टि है।

प्रयोजनभूत हेय—उपादेय तत्वों की परीक्षा करके यथार्थ निर्णय करना चाहिये

जो जीव ज्ञानावरणके विशिष्ट क्षयोपशम बिना तथा विशिष्ट गुरुके संयोग बिना सूक्ष्म तत्त्वार्थको नहीं जान सकता वह जीव जिन वचनमें इसप्रकार श्रद्धान करता है कि—"जिनेन्द्रदेव ने जो सूक्ष्म तत्त्व कहा है वह सब मैं भलीभांति इष्ट करता हूँ"—इसप्रकार भी वह श्रद्धावान होता है।

सामा यतया तत्वोका निणय तो स्वय किया है, कि तु विशेष क्षयोपशमज्ञान नहीं है इसलिये सूक्ष्म तत्वों को नहीं जान सकता। वह सवज्ञ की आज्ञानुसार मानता है। कि तु जो मूलभूत तत्वोंका निणय भी न कर उसे यथाथ प्रतीति नहीं होती। इसलिये यहाँ कहते हैं कि तत्वार्थका भाव अपने ज्ञानमें भासित हुए बिना केवली के वचनका यथार्थ अभिप्राय समझमें नहीं आता, और स्वयं परीक्षा करके जाने बिना य थार्थ प्रतीति हो जाती है। लोकमें भी किसी आदमी को काम के लिये भेजा हो वहाँ वह आदमी अगर उसका भाव न समझे तो कुछ का अन्य कुछ कर लाता है। इसी आशयका एक दृष्टान्त है—एक सेठ ने अपने नौकर से कहा कि—जा, घोड़े को पानी पिला ला। वहाँ सेठ के कहने का तात्पर्य तो घोड़े को पानी पिला लाने का था, किन्तु वह नौकर उसे नहीं समझा और घोड़े को नदी किनार ले जाकर कहने लगा कि—पीओ घोड़ा पानी!—इसतरह पानी दिखाकर उसने घोड़े को घर लाकर बाँध दिया। घोड़ा प्यास के मारे हिनहिनाने लगा। तब सेठ ने नौकर से पूछा क्यों भाई! घोड़े का पानी पिलाया या नहीं? वह बोला कि—आपने तो पानी पिलाने के लिये कहा था, पिलाने के लिये कब कहा?—नौकर का उत्तर सुनकर सेठ आश्चर्यमें पड़ गये और बोले कि—अरे मूरख! कहने का भाव तो समझ लेता। उसीप्रकार भगवान ने कहा है इसलिये मान लो—इसप्रकार परीक्षा किये बिना मान ले, किन्तु स्वयं उसका प्रयोजन न समझे तो लाभ नहीं हो सकता। इसलिये हेय और उपादेय तत्व कौन कौनसे हैं उसका बराबर निर्णय करके समझना चाहिये। भगवान ने कहा है तदनुसार अपने ज्ञानमें बराबर

निर्णय न हो, तबतक परीक्षा करके अपनी भूलको ढूँढता है और अन्यथा निर्णय करता है। चाहे जैसा देव–गुरु–शास्त्र को नहीं मान लेता।

जिन वचन और अपनी परीक्षा–इन दोनों की समानता हो, तो जानना कि सत्यकी परीक्षा हुई है। जबतक ऐसा न हो तबतक जिसप्रकार कोई हिसाब करता हो और रकम बराबर न मिले तो अपनी भूलको ढूँढता ही रहता है, उसीप्रकार यह भी अपनी परीक्षा में विचार करता रहता है। तथा जो ज्ञेयतत्त्व है उसकी भी परीक्षा हो सके तो करता है, नहीं तो अनुमान लगाता है कि—जिसने हेय-उपादेय तत्त्व ही अन्यथा नहीं कहे वह ज्ञेयतत्त्व अन्यथा किसलिये कहेगा? जिसप्रकार कोई प्रयोजनभूत कार्योंमें झूठ नहीं बोलता हो, तो अप्रयोजनभूत कार्यमें किसलिये झूठ बोलेगा? इसलिये ज्ञेयतत्त्वों का स्वरूप परीक्षा द्वारा तथा आज्ञा द्वारा भी जानना।

जैन शासनमें जीवादि तत्त्व, सर्वज्ञदेव–गुरु–शास्त्र आदि का मुख्यतया निरूपण किया है। उनका तो हेतुसे–युक्तिसे–अनुमानसे निर्णय हो सकता है, उन्हें तो परीक्षा करके पहिचानना चाहिये। तथा त्रिलोक, गुणस्थान, मार्गणास्थान और पुराणकी कथाओं को आज्ञानुसार समझ लेना चाहिये। समस्त सूक्ष्मतत्त्वोंकी परीक्षा न हो सके वहाँ सर्वज्ञकी आज्ञाका बहुमान करके मान लेना चाहिये।

लोग प्रश्न करते हैं कि भगवान ने ऐसा क्यों नहीं कहा जो हमारी समझमें आता? तो यहाँ कहते हैं कि—भगवान ने और मुनियों ने तो वही कहा है जो समझ में आये, किन्तु तुझे परीक्षा

करने की दरकार नहीं है। हेतु युक्ति आदि द्वारा निर्णय करने में तू उपयोग नहीं लगाता इसलिये तेरी समझमें नहीं आता। हेतु युक्ति आदि द्वारा यथा हो कथन किया है जो समझमें आजाय। जो समझने का प्रयास करे उसको समझम आता है।

अवश्य जानने योग्य तत्त्व

जीवादि द्रव्यों तथा तत्त्वों को जानना चाहिये। त्यागने योग्य मिथ्यात्व–रागादि तथा ग्रहण करने योग्य सम्यग्दर्शनादिक का स्वरूप बराबर जानना और निमित्त नैमित्तिकादिक को यथावत् समझना चाहिये। इत्यादिकमें उपादान निमित्त उपादान उपादेय आदि जानना। चिद्विलास में कहा है कि–जो कारण कार्य को यथार्थ रूप से जानता हो उसने सब जान लिया। श्री समयसार में निमित्त को हेय तत्त्व कहा है। यह सब तत्त्व मोक्षमार्ग मे प्रवृत्ति के लिये अवश्य जानने योग्य हैं। इसलिये उन्हें तो बराबर हेतु युक्ति प्रमाण नय द्वारा जानना चाहिये। तथा यदि विशेष क्षयोपशम हो तो निर्देश स्वामित्व द्वारा तथा सत् संख्यादि द्वारा उन तत्त्वों के विशेष भी जानना चाहिये, अर्थात् जसी बुद्धि हो और जैसा निमित्त बने तदनुसार सामान्य–विशेषरूप उन तत्त्वों को पहिचानना चाहिये।–इसप्रकार यहाँ द्रव्यानुयोग का प्रधान कहा है। पुनश्च, उन तत्त्वों को विशेष जानने के लिये उपकारी गुणस्थान मार्गणास्थान आदि जानना। यह करणानुयोग जानने को कहा तथा पुराणादि (प्रथमानुयोग), व्रतादि क्रिया को (चरणानुयोग को), भी जानना चाहिये, तथा जहाँ समझ में न आये वहाँ ज्ञानानुसार जानना।

इसप्रकार वह जानने के लिये विचार शास्त्र स्वाध्याय श्रवण-अभ्यासादि करता है। अपना कार्य-सम्यग्दर्शन प्रगट करने का जिसे अंतरंग उल्लास है, प्रमाद नहीं है, वह अंतरंग प्रीति पूर्वक उसका साधन करते हुये जबतक तत्त्वश्रद्धान अंतरंग प्रतीति न हो, तब तक उसीके अभ्यास में प्रवृत्त रहता है।

[वीर सं० २४७६ प्र० वैशाख शुक्ला १४सोमवार ता० २०-४-५३]

सम्यक्त्वसन्मुख जीव का उत्साह पूर्वक प्रयत्न

जो जीव सम्यक्त्वसन्मुख हुआ है, उसे अंतर में अपना सम्यग्दर्शनरूपी कार्य करने का महान हर्ष है, इसलिये उत्साह पूर्वक प्रयत्न करता है किन्तु प्रमाद नहीं करता। तत्त्वविचार का उद्यम करता है, और वह उद्यम करते करते मात्र अपने आत्मा में ही "यह मैं हूँ"— ऐसी अहं बुद्धि हो तब सम्यग्दृष्टि होता है। जैसे-शरीर में अहंबुद्धि है कि 'यह मैं हूँ' उसी प्रकार चैतन्य स्वरूप आत्मा में अनुभव पूर्वक अहंबुद्धि हो तभी सम्यग्दर्शन होता है। चौथे गुणस्थान से ही शुद्ध परिणति प्रारम्भ हो जाती है। शुद्ध उपयोग चौथे गुणस्थान में अल्पकाल तक ही रहता है। उस समय बुद्धि पूर्वक कषाय नहीं है। शुद्धोपयोग होने पर भी अभी बुद्धि पूर्वक राग भी है, सर्वथा वीतरागता नहीं हो गई है। स्वभाव मुख ही उपयोग है वहाँ बुद्धि पूर्वक राग नहीं है। अंतर में अनुभूति पूर्वक वेदन हो गया है कि-मैं तो ज्ञानमूर्ति आत्मा ही हूँ।-इसका नाम सम्यग्दर्शन है। जब तक ऐसा अनुभव न हो तबतक तत्त्वविचार का उद्यम करता ही रहता है। अपने भावों को बराबर जानता है। मैं ज्ञानानंद आत्मा हूँ, आत्मा के आश्रय से सम्यग्दर्शनादि हो वे मुझे हितरूप हैं—इस-

प्रकार अनुभूतिपूर्वक स्वसंवेदनप्रत्यक्ष ज्ञान से जाने तभी सम्यग्दृष्टि है। निर्विकल्प अनुभव में मति श्रुतज्ञान भी स्वानुभव प्रत्यक्ष है। ऐसे ज्ञान से आत्मा के स्वभाव को ही अपने रूप जाने वह जीव सम्यग्दृष्टि है। जो सम्यक्त्वसन्मुख जीव वैसा अभ्यास करता है वह अल्पकाल में ही सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है, इसी भव में प्राप्त करता है अथवा इस भव के संस्कार लेकर जहाँ जाये वहाँ प्राप्त करता है। तिर्यञ्च में भी कोई जीव पूर्व संस्कारों के बल से निमित्त बिना भी सम्यक्त्व प्राप्त कर लेता है। अंतर में स्व सन्मुख होने का अभ्यास करते करते मिथ्यात्व का रस एकदम कम होता जाता है, और ऐसा अभ्यास करते करते स्वरूप से मुख होने पर मिथ्यात्व का अभाव हो जाता है। यहाँ उद्यम करे और सामने कर्मोंका रस (अनुभाग) दूर न हो ऐसा नहीं हो सकता। यहाँ सम्यक्त्व हुआ वहाँ सामने मिथ्यात्व कर्मों का अभाव होना ही जाता है,—ऐसा निमित्त नैमित्तिक संबंध है। तथापि कोई किसी का कर्ता नहीं है। अंतर में स्वरूप सन्मुख होने का उद्यम करना ही सम्यक्त्व का मूल कारण है, तथा देव गुरु आदि बाह्य निमित्त हैं। किसी जीव को वर्तमान में वैसे निमित्त न भी हो तथापि पूर्व संस्कारों के बल से सम्यक्त्व को प्राप्त हो जाता है। पूर्वकाल में उसे देशनालब्धि तो अवश्य प्राप्त होना ही चाहिये यह तो नियम है। तत्त्वविचार करके यथार्थ तत्त्वनिर्णय का उद्यम न करे तो वह जीव सम्यक्त्व का अधिकारी नहीं है।

तत्त्वविचार होते ही सम्यक्त्व का अधिकारी

देखो, तत्त्व विचार की महिमा! तत्त्व विचार रहित देवादिक

इसप्रकार यह जानने के लिये विचार शास्त्र स्वाध्याय श्रवण-अभ्यासादि करता है। अपना कार्य-सम्यग्दर्शन प्रगट करने का जिसे अत्यंत हर्ष उल्लास है, प्रमाद नहीं है, वह अंतरंग प्रीति पूर्वक उसका साधन करते हुये जबतक तत्त्वश्रद्धान अंतरंग प्रतीति न हो, तब तक उसीके अभ्यास में प्रवृत्त रहता है।

[वीर सं० २४७६ प्र० वैशाख शुक्ला १४ सोमवार ता० २७-४-५३]

सम्यक्त्वसन्मुख जीव का उत्साह पूर्वक प्रयत्न

जो जीव सम्यक्त्वसन्मुख हुआ है, उसे अंतर में अपना सम्यग्दर्शनरूपी कार्य करने का महान हर्ष है, इसलिये उत्साह पूर्वक प्रयत्न करता है किन्तु प्रमाद नहीं करता। तत्त्वविचार का उद्यम करता है, और वह उद्यम करते करते मात्र अपने आत्मा में ही "यह मैं हूँ"—ऐसी अहं बुद्धि हो तब सम्यक्दृष्टि होता है। जैसे-शरीर में अहंबुद्धि है कि "यह मैं हूँ" उसी प्रकार चैतन्य स्वरूप आत्मा में अनुभव पूर्वक अहंबुद्धि हो तभी सम्यग्दर्शन होता है। चौथे गुणस्थान से ही शुद्ध परिणति प्रारम्भ हो जाती है। शुद्ध उपयोग चौथे गुणस्थान में अल्पकाल तक ही रहता है। उस समय बुद्धि पूर्वक कषाय नहीं है। शुद्धोपयोग होने पर भी अभी बुद्धि पूर्वक राग भी है, सर्वथा वीतरागता नहीं हो गई है। स्वभाव में मुख्य ही उपयोग है वहाँ बुद्धि पूर्वक राग नहीं है। अंतर में अनुभूति पूर्वक वेदन हो गया है कि-मैं तो ज्ञानमूर्ति आत्मा ही हूँ।-इसका नाम सम्यग्दर्शन है। जब तक ऐसा अनुभव न हो तबतक तत्त्वविचार का उद्यम करता ही रहता है। अपने भावों को बराबर जानता है। मैं ज्ञानानंद आत्मा हूँ, आत्मा के आश्रय से सम्यग्दर्शनादि हों वे मुझे हितरूप हैं—इस-

प्रकार अनुभूतिपूर्वक स्वसंवेदनप्रत्यक्ष ज्ञान से जाने तभी सम्यग्दृष्टि है। निर्विकल्प अनुभव में मति श्रुतज्ञान जो स्वानुभव प्रत्यक्ष है। ऐसे ज्ञान से आत्मा के स्वभाव को ही अपने रूप जाने वह जीव सम्यग्दृष्टि है। जो सम्यक्त्वसन्मुख जीव वैसा अभ्यास करता है वह अल्पकाल में ही सम्यग्ज्ञान प्राप्त करता है, इसी भव में प्राप्त करता है, अथवा इस भव के संस्कार लेकर जहाँ जाय वहाँ प्राप्त करता है। तिर्यञ्च में भी कोई जीव पूर्व संस्कारों के बल से निमित्त बिना भी सम्यक्त्व प्राप्त कर लेता है। अन्तर में स्व सन्मुख होने का अभ्यास करते करते मिथ्यात्व का रस एकदम कम होता जाता है, और ऐसा अभ्यास करते करते स्वरूप से सन्मुख होने पर मिथ्यात्व का अभाव हो जाता है। वहाँ उद्यम करे और सामने कर्मों का रस (अनुभाग) दूर न हो ऐसा नहीं हो सकता। वहाँ सम्यक्त्व हुआ वहाँ सामने मिथ्यात्व कर्मों का अभाव होना ही जाता है,—ऐसा निमित्त नैमित्तिक सम्बंध है। तथापि कोई किसी का कर्ता नहीं है। अंतर में स्वरूप सन्मुख होने का उद्यम करना ही सम्यक्त्व का मूल कारण है, तथा देव गुरु आदि बाह्य निमित्त हैं। किसी जीव को वर्तमान में वैसे निमित्त न भी हो तथापि पूर्व संस्कारों के बल से सम्यक्त्व को प्राप्त हो जाता है। पूर्वकाल में उस देशनालब्धि तो अवश्य प्राप्त होना ही चाहिये यह तो नियम है। तत्त्वविचार करके यथार्थ तत्त्वनिर्णय का उद्यम न करे तो वह जीव सम्यक्त्व का अधिकारी नहीं है।

तत्त्वविचार होते ही सम्यक्त्व का अधिकारी

देखो, तत्त्व विचार की महिमा! तत्त्व विचार रहित देवादिक

को प्रतीति करे, अनेक शास्त्राका अभ्यास करे, तथा व्रत तपश्चरणादि करे तथापि उस सम्यक्त्व होने का अधिकार नही है और तत्त्वविचार वाला उनके बिना भी सम्यक्त्वका अधिकारी होता है। पुनश्च किसी जीवको तत्त्वविचार होनेसे पूर्व किसी कारणवश देवादिककी प्रतीति होती है, तथा व्रत तप अगीकार करता है और फिर तत्त्वविचार करता है, किन्तु सम्यक्त्व का अधिकारी तो तत्त्वविचार होनेपर ही होता है।

अनादि मिथ्यादृष्टि को पहले एक बार ज्ञानी के पास से सीधी देशनालब्धि तो अवश्य प्राप्त होती ही है, फिर भले ही पूर्व भवमे देशनालब्धि प्राप्त की हो और उसके सस्कार से वर्तमानमे सम्यक्-दर्शन प्राप्त कर ले। वहाँ उसे निसर्गज कहा जाता है, किंतु निसर्गज का अर्थ ऐसा नही है कि ज्ञानी की देशना बिना सम्यक्त्व होगया। निसर्गज सम्यक्त्व वाले को भी एक बार पूर्वकालमें ज्ञानीके पासमे देशनालब्धि तो अवश्य प्राप्त हुई ही होती है। यहां तो कहना है कि—तत्त्वविचारके अभ्याससे जीव सम्यक्दर्शन प्राप्त करता है। सम्यग्दर्शन के लिये मूल तो तत्त्वविचारका उद्यम ही है। जिसे तत्त्व का विचार नही है और देव गुरु आदि की प्रतीति करता है, अनेक शास्त्रोका अभ्यास करता है, व्रत तपादि करता है, तथापि वह जीव सम्यक्त्व सन्मुख नही है, इसलिये तत्त्वविचार की मुख्यता है।

चैतन्य की निर्विकल्प अनुभूति ही सम्यग्दर्शन है।

प्रथम स्वरूप सन्मुख होकर निर्विकल्प अनुभूति हो—आनन्दका वेदन हो तभी यथार्थ सम्यग्दर्शन हुआ कहलाता है, उसके बिना

यथार्थ प्रतीति नहीं कहलाती। अनुभूति से पूर्व तत्त्वविचार करके दृढ निर्णय करना चाहिए, निर्णय में ही जिसकी भूल हो उसे यथार्थ अनुभूति कहाँ से होगी ? नहीं हो सकती। मात्र विकल्प तत्त्व विचार करता रहे तो वह जीव भी सम्यक्त्व को प्राप्त नहीं होता। अंतरमें चैतन्य स्वभाव की महिमा करके उसकी निर्विकल्प अनुभूति करना ही सम्यग्दर्शन है।

सम्यक्त्व के साथ देव-गुरु आदि की प्रतीति का नियम है।

पुनश्च, किसी का तत्त्वविचार होने पर भी तत्त्व प्रतीति न होने से सम्यक्त्व तो नहीं हुआ, किंतु मात्र व्यवहार धर्म की प्रतीति—रुचि हो जानेसे वह देवादिककी प्रतीति करता है अथवा व्रत तपको अंगीकार करता है। तथा किसी को देवादिक की प्रतीति और सम्यक्त्व एक साथ होते हैं। तथा व्रत तप सम्यक्त्व के साथ हो या न भी हो, किंतु देवादिक की प्रतीतिका तो नियम है। उसके बिना सम्यक्त्व नहीं होता। व्रतादिक होने का नियम नहीं है। अनेक जीव तो पहले सम्यक्त्व होनेके पश्चात् ही व्रतादिक धारण करते हैं, तथा किसी को एक साथ भी हो जाते हैं।

निमित्त की अपेक्षासे अभीतक तत्त्वविचार की मुख्यतासे कथन किया। अब अंतरंग में उतरनेके लिये तत्त्वविचार की प्रधानता को भी उडाते हैं।

किसी को तत्त्वविचार होने पर भी तत्त्वप्रतीति न होने से सम्यक्त्व तो नहीं हुआ किंतु मात्र व्यवहारधर्म की प्रतीति-रुचि हो जाने से वह देवादिक की प्रतीति और व्रत तप को अंगीकार करता है।

तत्त्व प्रतीति–अतरग अनुभूति नही की, ज्ञायक सन्मुख नही हुआ तो उसे तत्त्व विचार द्वारा व्यवहार धर्म की रुचि रह जाती है, किन्तु वस्तुस्वभाव को प्राप्त नही होना। इसलिये ज्ञायक सन्मुख अनुभूति ही प्रधान है, वही सम्यक्त्व है।

पुनश्च, किसी को देवादिक की प्रतीति और सम्यक्त्व एक साथ होते हैं। पहले कहा है कि देवादिक की प्रतीति करता है और फिर सम्यक्त्व होता है अथवा नहीं भी होता। यहाँ कहा है कि देवादिक की प्रतीति हुई वहाँ अतरग ज्ञायक स्वभाव की दृष्टि की, इसलिये दोनो एक साथ होते हैं। तथा सम्यक्त्व के साथ ही किसी को व्रत–तपादि होते है, किसी को नही भी होते, किन्तु सम्यक्त्व के समय देव गुरु शास्त्र की प्रतीति तो नियमरूप होती है। सच्चे देवादिक की प्रतीति के बिना तो सम्यक्त्व नही हो सकता। हाँ, सच्चे देवादिक की प्रतीति हो, किन्तु अतरग तत्त्व की अनुभूति न करे तो सम्यक्त्व नही हो सकता। अनेक जीव तो सम्यक्त्व होने के पश्चात् व्रतादि अगीकार करते हैं किन्ही के एक साथ भी होते हैं।

इसप्रकार तत्त्वविचार वाला सम्यक्त्वका अधिकारी है, किन्तु उसे सम्यक्त्व हो ही जावे–ऐसा नियम नही है। आत्मसन्मुख परिणाम न करे तो सम्यक्त्व नही होता, क्योकि सम्यक्त्व होने से पूर्व पाँच लब्धि का होना कहा है। सम्यक्त्व होते समय शुद्धोपयोग–निर्विकल्प ध्यान होता है। वहाँ बुद्धिपूर्वक के विकल्प छूट जाते हैं, अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन होता है।

पाँच लब्धियों का स्वरूप

क्षयोपशमलब्धि, विशुद्धिलब्धि, देशनालब्धि, प्रायोग्यलब्धि, और करणलब्धि–यह पाँच लब्धियाँ सम्यक्त्व होने से पूर्व होती हैं।

(१) क्षयोपशमलब्धि —जिसके होने से तत्त्वविचार हो सके—ऐसा ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षयोपशम हो, अर्थात् उदयकाल को प्राप्त सर्वघाति स्पर्द्धकों के निषेकों के उदय का अभाव वह क्षय है, तथा भविष्यकाल में उदय आने योग्य कर्मों का सत्ता रूप से रहना वह उपशम है। ऐसी देशघाती स्पर्धकों के उदय सहित कर्मों की अवस्था का नाम क्षयोपशम है और—ऐसे ज्ञान की प्राप्ति वह क्षयोपशम लब्धि है।

(२) विशुद्धिलब्धि —मोहका मंदता अर्थात् मंदकषायरूप भाव हो कि जिससे तत्त्वविचार हो सके वह विशुद्धिलब्धि है।

(३) देशनालब्धि —श्री जिनेन्द्रदेव द्वारा उपदेशित तत्त्वों की धारणा होना उनका विचार होना वह देशनालब्धि है। नरकादि में जहाँ उपदेश का निमित्त न हो वहाँ वह पूर्व संस्कारों से होती है। यहाँ 'उपदेश' कहा है। कोई उपदेश के बिना मात्र शास्त्र पढ़कर देशनालब्धि प्राप्त कर सके—ऐसा नहीं हो सकता। उपदेशित तत्त्वों का बराबर श्रवण, ग्रहण पूर्वक उसकी धारणा होना चाहिये।

(४) प्रायोग्यलब्धि —कर्मोंकी पूर्व सत्ता घटकर अंतःकोड़ा-कोड़ी सागर प्रमाण रह जाये तथा नवीन बंध भी अंतःकोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण के संख्यातवें भागमात्र हो, वह भी उस लब्धिकाल से लेकर क्रमशः घटता ही जाये और कुछ पाप प्रकृतियोंका बंध क्रमशः मिटता जाये,—इत्यादि योग्य अवस्था होनेका नाम प्रायोग्यलब्धि है। यह चारों लब्धियाँ भव्य और अभव्य दोनोंके होती हैं। यह चारों लब्धियाँ होनेके पश्चात् सम्यक्त्व हो तो हो, और न हो तो न भी

हो—ऐसा श्री लब्धिसार में कहा है, इसलिये उस तत्त्वविचारवाले को भी सम्यक्त्व होनेका नियम नही है। जैसे—किसीको हितशिक्षा दी, उसे जानकर वह विचार करे कि—यह जो शिक्षा दी है वह किस प्रकार है ? फिर विचार करने से उसे "ऐसी ही है"—इस प्रकार उस शिक्षा की प्रतीति होजाती है, अथवा अन्यथा विचार होता है, तथा अन्य विचारमें लीन होकर उस शिक्षाका निर्धार न करे तो उसे प्रतीति नही भी होती। उसी प्रकार श्री गुरुने तत्त्व उपदेश दिया, उसे जानकर विचार करे कि—यह जो उपदेश दिया वह किस प्रकार है ? फिर विचार करने से उसे "ऐसा ही है"—ऐसी प्रतीति हो जाती है, अथवा अन्यथा विचार होता है, तथा अन्य विचारमें लीन होकर उस उपदेश का निर्धार न करे तो प्रतीति नहीं भी होती। किंतु उसका उद्यम तो मात्र तत्त्वविचार करने का ही है।

प्रथम चार लब्धियाँ तो मिथ्यादृष्टि भव्य अभव्य दोनो जीवोको होती हैं, किन्तु सम्यक्त्व होनेपर तो यह चार लब्धियाँ अवश्य होती ही हैं। पाँचवी करणलब्धि होनेपर तुरन्त सम्यक्त्व अवश्य प्रगट होता है इसलिये तत्त्व विचारवाले को सम्यक्त्व होने का नियम नही है। जैसे—किसीने किसी को हित शिक्षा दी हो, उसे जानकर वह विचार करे कि—यह जो शिक्षा दी है वह किस प्रकार है ? फिर विचार करने पर "ऐसी ही है"—इसप्रकार उस शिक्षा की प्रतीति हो जाये।

अथवा अन्यथा विचार हो जाये या अन्य विचार मे लग जाये और उस शिक्षा का निर्धार न करे, तो प्रतीति नही होती। उसी

प्रकार श्री गुरुने उपदेश दिया हो, वहाँ पहले विचार करे और फिर अयथा विचारमें लग जाय, अथवा विशेष विचार करके निर्धार न करे तो अंतरग प्रतीति नही होती।

पांचवीं करणलब्धि होने पर सम्यग्दर्शन अवश्य होता है,—उसका अब वर्णन करेंगे।

[वीर सं० २४७१ प्र० वैशाख शुक्ला १४ बुधवार २६-४-५५]

यह सम्यक्त्व सन्मुख जीवका वर्णन चल रहा है। तत्त्वविचार का उद्यम करनेसे जीवको सम्यग्दर्शन होता है, तब पहले पाँच लब्धियाँ होती हैं। उनमें पहली चार लब्धियाँ तो प्रत्येक जीवको हो सकती हैं किन्तु पांचवी जो करणलब्धि है वह होने पर जीवको अंतर्मुहूर्त में अवश्य ही सम्यक्त्व होता है। उस करणलब्धि का यह वर्णन हो रहा है।

(५) करणलब्धि —पांचवी करणलब्धि होनेपर सम्यक्त्व अवश्य होता ही है—ऐसा नियम है, किन्तु वह करणलब्धि तो उसी जीवके होती है जिसके पूर्व कथित चार लब्धियाँ हुई हों और अंतर्मुहूर्त के पश्चात् सम्यक्त्व होना हो। उस करणलब्धिवाले जीवके बुद्धिपूर्वक तो इतना ही उद्यम होता है कि—उपयोग को तत्त्वविचार में तद्रूप होकर लगाता है और उससे प्रति समय उसके परिणाम निर्मल होते जाते हैं। जैसे—किसी को शिक्षा का विचार ऐसा निर्मल होने लगा कि जिससे उसे तुरन्त ही शिक्षा की प्रतीति हो जायेगी; उसीप्रकार तत्त्व उपदेशका विचार ऐसा निर्मल होने लगा कि जिससे उसे उसका श्रद्धान हो जायेगा। और उन परिणामो का तारतम्य

केवलज्ञान द्वारा देखा, उसीके द्वारा करणानुयोग मे उसका निरूपण किया है। उस करणलब्धि के तीन भेद हैं—अध करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण। उसका विशेष विवरण तो श्री लब्धिसार शास्त्रमे किया है, उससे जानना।

अतरमे चैत य स्वभाव स मुख परिणाम होने पर भीतर कोई सूक्ष्म परिणाम हो जात हैं वे केवलीगम्य हैं। "मैं अध करण करू", अनिवृत्तिकरण करू",—ऐसा लक्ष नही होता कि तु अ तरम चत य स मुख तत्वविचार का उद्यम करने पर वस अध करणादिके परिणाम हो जाते हैं, वे अपनेको बुद्धिगम्य नही है।

अध्यात्मदृष्टि से आत्मस मुख परिणाम हुए हैं, और आगमदृष्टि से तीन करण के परिणाम हुए हैं—ऐसा कहा जाता है। जीव को विशुद्ध परिणामो का निमित्त होन पर कर्मोका वैसा परिणमन हो जाता है, कि तु जीवका उद्यम तो अपने स्वभाव स मुख परिणाम का ही है।

सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेके पश्चात् फिर कोई जीव विपरीत अभिप्राय द्वारा भ्रष्ट होकर ससारमें परिभ्रमण करता है। मिथ्यात्व कर्म के उदयमें युक्त होने म सम्यक्त्वका अभाव हो जाता है और मिथ्यात्वकर्मका अभाव होने पर सम्यक्त्व हो जाता है—ऐसा कहा है वह निमित्तसे कथन है। जिस समय यहाँ जीवके परिणाम स्वभाव-स मुख होते हैं, और सम्यक्त्व होता है, उस समय सामने मिथ्यात्व कर्मोंका उदय नही होता—ऐसा जानना।

परिणामो की विचित्रता

देखो, परिणामोकी विचित्रता ! कोई जीव तो ग्यारहवें गुण-

स्थानमें यथाख्यात चारित्र प्राप्त करके फिर मिथ्यादृष्टि होकर किंचित् न्यून अर्ध पुद्गल परावर्तन काल तक संसारमें भटकता है और कोई जीव नित्य निगोदमें से निकलकर मनुष्य होकर आठ वर्ष की आयु में मिथ्यात्वसे छूटकर अन्तर्मुहूर्तमें केवलज्ञान प्राप्त करता है।—ऐसा जानकर अपने परिणामोंको बिगाड़ने का भय रखना तथा सुधारने का उपाय करना चाहिये।

अनादि निगोद में से निकलकर मनुष्य होता है और आठ वर्षमें सम्यक्त्व प्राप्त करके अन्तर्मुहूर्तमें ही केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है, और कोई जीव ग्यारहवें गुणस्थानसे गिरकर फिर निगोदमें जाता है। उसमें जीवके परिणामोंकी ही विचित्रता है, किसी अन्यके कारण वैसा नहीं होता। किसी जीवने निगोद और सिद्धपर्यायके बीच मनुष्यका एक ही भव किया—आठ वर्ष पहले निगोदमें और आठ वर्ष बाद केवली। और दूसरा कोई जीव ग्यारहवें गुणस्थानसे गिरकर फिर निगोदमें।—ऐसा जानकर स्वयं अपने परिणाम सुधारने का उपाय करना, सावधान होकर स्वसन्मुखतासे उद्यम रखना चाहिये। स्वयं अपने परिणामों को बिगाड़ने का भय और सुधारनेका उद्यम रखना चाहिये।

पुनश्च उस सादि मिथ्यादृष्टिको यदि कुछ काल मिथ्यात्वका उदय रहे तो बाह्य जैनपना नष्ट नहीं होता, तत्त्वोंका अश्रद्धान प्रगट नहीं होता तथा विचार किये बिना या अल्प विचारसे ही उसे पुनः सम्यक्त्वकी प्राप्ति हो जाती है, तथा यदि अधिक काल तक उसे मिथ्यात्वका उदय रहे तो जैसी अनादि मिथ्यादृष्टिकी दशा होती है वैसी ही दशा उसकी हो जाती है। गृहीत मिथ्यात्वको भी वह ग्रहण

करता है, तथा निगोदादिक मे भी भटकता है, उसका कोई प्रमाण नही है।

पुनश्च, कोई जीव सम्यक्त्व से भ्रष्ट होकर सासादनी होता है तो वहाँ जघन्य एकसमय तथा उत्कृष्ट छह आवली प्रमाण काल रहता है। उसके परिणामोकी दशा वचनद्वारा नही कही जा सकती। यहाँ सूक्ष्मकालमात्र किसी जातिके केवलीगम्य परिणाम होते हैं वहाँ अनन्तानुबन्धीका उदय होता है, किन्तु मिथ्यात्वका उदय नही होता। उसका स्वरूप आगम प्रमाणसे जानना।

पुनश्च कोई जीव सम्यक्त्वसे भ्रष्ट होकर मिश्र गुणस्थानको प्राप्त होता है। वहाँ उसे मिश्रमोहनीयका उदय होता है। उसका काल मध्य अन्तर्मुहूर्त मात्र है। उसका काल भी अल्प है इसलिये उसके परिणाम भी केवलज्ञानगम्य हैं। यहाँ इतना भासित होता है कि—जैसे किसी को शिक्षा दी, उसे वह कुछ सत्य तथा कुछ असत्य एक ही कालमे मानता है, उसीप्रकार इसे भी तत्त्वका श्रद्धान-अश्रद्धान एक ही कालमे होता है, वह मिश्रदशा है।

सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट होकर जो जीव अज्ञानी होकर निगोदमे गया है, उसकी दशा भी अनादि अज्ञानी की भाँति हो जाती है। हाँ, उसे संसार परिमित हो गया है, किन्तु वर्तमानमे तो उसे मिथ्याज्ञान ही है। सम्यक्त्व प्राप्त करके फिर भ्रष्ट हुआ उसके ज्ञानको 'मिथ्याज्ञान" न कहा जाये—ऐसा नही है। सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेवाले की दृष्टि तो स्वभाव सन्मुख ही है, उसके समय समय के सूक्ष्मपरिणामो छद्मस्थ नही पकड सकता।

तीसरा मिश्रगुणस्थान है, किन्तु वहाँ मिश्रका अर्थ ऐसा नहीं है कि सच्चे देव-गुरुको माने और कुदेव-कुगुरु को भी माने। कुदेव-कुगुरुको मानना है वह तो प्रत्यक्ष मिथ्यादृष्टि है।

प्रश्न—"हमारे तो जिनदेव तथा अन्यदेव सभी वंदन करने योग्य हैं"—इत्यादि मिश्रश्रद्धानको मिश्रगुणस्थान कहते हैं ?

उत्तर—नहीं, वह तो प्रत्यक्ष मिथ्यात्वदशा है। व्यवहाररूप देवादिकका श्रद्धान होने पर भी मिथ्यात्व रहता है, तब फिर यह तो देव-कुदेवका कोई निर्णय ही नहीं है, इसलिये इसके तो प्रगट विनय मिथ्यात्व है—ऐसा मानना।

सच्चे देव-गुरुको माने तथापि अंतरमें आत्माकी निर्विकल्प श्रद्धा न हो तो वह मिथ्यादृष्टि ही रहता है, उसे भी मिश्रगुणस्थान नहीं कहते, तब फिर जिसे अभी सच्चे सर्वज्ञदेव और कुदेव का विवेक नहीं है। और सबको समान मानता है वह तो विनयमिथ्यादृष्टि है। उसके मिश्रगुणस्थान नहीं है, किन्तु स्पष्ट पहला मिथ्यात्व गुणस्थान है।

—इसप्रकार सम्यक्त्व सन्मुख मिथ्यादृष्टियोंका कथन किया, तथा प्रसंगोपात अन्य कथन भी किया। इसप्रकार जैन मतावलम्बी मिथ्यादृष्टियों के स्वरूप का निरूपण किया। यहाँ नाना-प्रकार के मिथ्यादृष्टियों का कथन किया है, उसका प्रयोजन इतना ही जानना कि—उन प्रकारों को समझकर अपने में वैसा कोई दोष हो, तो उसे दूर करके सम्यक्श्रद्धान युक्त होना, किन्तु अन्य के ऐसे दोष देखकर कषायी नहीं बनना चाहिये, क्योंकि अपना भला-बुरा तो अपने

करता है, तथा निगोदादिक मे भी भटकता है, उसका कोई प्रमाण नही है।

पुनश्च, कोई जीव सम्यक्त्व से भ्रष्ट होकर सासादनी होता है तो वहाँ जघन्य एकसमय तथा उत्कृष्ट छह आवली प्रमाण काल रहता है। उसके परिणामोकी दशा वचनद्वारा नही कही जा सकती। यहाँ सूक्ष्मकालमात्र किसी जातिके केवलीगम्य परिणाम होते हैं वहाँ अनन्तानुबन्धीका उदय होता है, किन्तु मिथ्यात्वका उदय नही होता। उसका स्वरूप आगम प्रमाणसे जानना।

पुनश्च, कोई जीव सम्यक्त्वसे भ्रष्ट होकर मिश्र गुणस्थानको प्राप्त होता है। वहाँ उसे मिश्रमोहनीयका उदय होता है। उसका काल मध्य अन्तर्मुहूर्त मात्र है। उसका काल भी अल्प है इसलिये उसके परिणाम भी केवलज्ञानगम्य हैं। यहाँ इतना भासित होता है कि—जसे किसी को शिक्षा दी उसे वह कुछ सत्य तथा कुछ असत्य एक ही कालमें मानता है, उसीप्रकार इसे भी तत्त्वका श्रद्धान-अश्रद्धान एक ही कालमें होता है, वह मिश्रदशा है।

सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट होकर जो जीव अज्ञानी होकर निगोदमे गया है, उसकी दशा भी अनादि अज्ञानी की भाँति हो जाती है। हाँ, उसे ससार परिमित हो गया है, किन्तु वर्तमानमे तो उसे मिथ्याज्ञान ही है। सम्यक्त्व प्राप्त करके फिर भ्रष्ट हुआ उसके ज्ञानको "मिथ्याज्ञान" न कहा जाये—ऐसा नही है। सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेवाले की दृष्टि तो स्वभावसन्मुख ही है, उसमें समय समय के सूक्ष्मपरिणामों छद्मस्थ नही पकड सकता।

तीसरा मिश्रगुणस्थान है, किन्तु वहाँ मिश्रका अर्थ ऐसा नहीं है कि सच्चे देव-गुरुको माने और कुदेव-कुगुरु को भी माने। कुदेव-कुगुरुको मानता है वह तो प्रत्यक्ष मिथ्यादृष्टि है।

प्रश्न—"हमारे तो जिनदेव तथा अन्यदेव सभी वन्दन करने योग्य हैं"—इत्यादि मिश्रश्रद्धानको मिश्रगुणस्थान कहते हैं?

उत्तर—नहीं, वह तो प्रत्यक्ष मिथ्यात्वदशा है। व्यवहाररूप देवादिकका श्रद्धान होने पर भी मिथ्यात्व रहता है, तब फिर यह तो देव-कुदेवका कोई निर्णय ही नहीं है, इसलिये इसके तो प्रगट विनय मिथ्यात्व है—ऐसा मानना।

सच्चे देव-गुरुको माने, तथापि अंतरमें आत्माकी निर्विकल्प श्रद्धा न हो तो वह मिथ्यादृष्टि ही रहता है, उसे भी मिश्रगुणस्थान नहीं कहते, तब फिर जिसे अभी सच्चे सर्वज्ञदेव और कुदेव का विवेक नहीं है। और सबको समान मानता है वह तो विनयमिथ्या-दृष्टि है। उसके मिश्रगुणस्थान नहीं है, किन्तु स्पष्ट पहला मिथ्यात्व-गुणस्थान है।

—इसप्रकार सम्यक्त्व सन्मुख मिथ्यादृष्टियोंका कथन किया, तथा प्रसंगोपात अन्य कथन भी किया। इसप्रकार जैन मता-वलम्बी मिथ्यादृष्टियों के स्वरूप का निरूपण किया। यहाँ नाना प्रकार के मिथ्यादृष्टियों का कथन किया है, उसका प्रयोजन इतना ही जानना कि—इन प्रकारों को समझकर अपने में ऐसा कोई दोष हो तो उसे दूर करके सम्यक्श्रद्धान युक्त होना, किन्तु अन्य के ऐसे दोष देखकर कषायी नहीं बनना चाहिये, क्योंकि अपना भला-बुरा तो अपने

परिणामों से होता है। यदि अन्य को रुचिवान देखे तो उसे उपदेश देकर उसका भी भला करना।

जड़ चेतन के परिणाम प्रतिसमय स्वयं अपने से क्रमबद्ध होते हैं—ऐसा वस्तुस्वरूप सर्वज्ञ के अतिरिक्त अन्य मतों में कहाँ है?—कहीं नहीं है। आत्मा का ज्ञायक स्वभाव है स्वयं ज्ञायक है, एकद्रव्य दूसरे पदार्थ का भी कार्य कर सकते नहीं, प्रत्येक जड़-चेतन के प्रति समयके परिणाम सदा स्वतन्त्र होते हैं।—ऐसी यथार्थ वस्तुस्थिति दिगम्बर जैनमत में ही है।

मिथ्यादृष्टि जीवों का कथन किया है उसे सुनकर अपने में यदि कोई दोष हो तो उसे दूर करने के लिये यह वर्णन किया है। आत्महित के लिये स्वयं अपना विचार कर आत्माकी रुचि करके मिथ्यात्व टालकर सम्यक्त्वको प्रगट करना यह प्रयोजन है।

संसार का मूल मिथ्यात्व है

अपने परिणामों को सुधारने का उपाय करना योग्य है, इसलिये सर्वप्रकार के मिथ्यात्व भाव छोड़कर सम्यग्दृष्टि होना योग्य है, क्योंकि संसार का मूल मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व के समान दूसरा कोई पाप नहीं है। एक मिथ्यात्व और उसके साथ अनन्तानुबंधी का अभाव होने पर इकतालीस कर्म प्रकृतियों का बंध तो मिट ही जाता है, तथा कर्मों की स्थिति अंतःकोड़ाकोड़ी सागर की रह जाती है और अनुभाग भी अल्प रह जाता है। अल्पकाल में ही वह मोक्षपद प्राप्त करता है, किन्तु मिथ्यात्व का सद्भाव रहने से अन्य अनेक [illegible]य करने पर भी मोक्ष नहीं होता। इसलिये प्रत्येक प्रयत्न द्वारा [illegible] प्रकार से इस मिथ्यात्व का नाश [illegible] है।

कर्मादि पर के कारण जीव के परिणाम बिगड़ते-सुधरते नहीं हैं, किंतु अपने ही उद्यम से बिगाड़ सुधार-होना है, इसलिये ऐसा उपदेश है कि अपने परिणामों को सुधारने का उद्यम करना योग्य है।

इसलिये सब प्रकार के मिथ्याभाव छोड़कर स्वभावसन्मुख होना योग्य है। सम्यग्दर्शन ही परम हितका उपाय है। सम्यकदर्शनके बिना शुभभाव करे तो भी कल्याण नहीं है, क्योंकि संसार का मूल मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व के समान अन्य कोई पाप नहीं है। सम्यग्दर्शन होने से मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी का अभाव हुआ तथा जीवकी इतनी शुद्ध परिणति हुई कि उस जीव को ४१ कर्म प्रकृतियों का बंध तो होता ही नहीं, और पूर्वकर्म की स्थिति अन्त कोड़ा कोड़ी सागर ही रहती है, तथा घातिकर्म आदिमें अनुभाग भी अल्प ही रह जाता है। देखो, यह सम्यग्दर्शन का प्रताप! सम्यग्दर्शन होने पर अवश्य ही अल्पकालमें मोक्षपद प्राप्त करता है और मिथ्यात्ववाले जीवको चाहे जितने उपाय करने पर भी मोक्ष नहीं होता। इसलिये हर किसी प्रयत्न द्वारा सब प्रकारसे उस मिथ्यात्वका नाश करके सम्यग्दर्शन प्रगट करना योग्य है—इस उपायसे जीवका कल्याण होता है।

—इसप्रकार श्री "मोक्षमार्ग प्रकाशक" की किरणों में जैनमतावलंबी मिथ्यादृष्टियों का निरूपण करनेवाला सातवाँ अधिकार समाप्त हुआ।

❀ समाप्त ❀

शुद्धि पत्र

पृ०	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
३८	१६	सबध	सम्बन्ध
५०	३	त्रिकाल हू,	त्रिकाल भिन्न हू,
५८	अंतिम	नगवान	भगवान
७७	४	स्वबोध	स्वरबोध
७७	५	सयप	सबर्पं
१०४	२	भार	भौर
११६	४	व्यवह्	व्यवहार
११६	२०	स्वर	स्व
१४५	४	ब्रह्मचय	ब्रह्मचर्य
१५४	२०	माजनादि	भोजनादि
१५५	१०	भात्मां	भामां
१५५	अंतिम	भा भ	भात्ममान
१५६	अंतिम	कम	कम
१८३	५	अज्ञानी	अज्ञानी
१८७	१७	सवेदन	सवेदन
२०५	६	भात्माकी	भात्माकी
२०७	५	जजीव	अजीव
२५८	५	सवेगादि	संवेगादि
२६४	५	सह श्री	सहस्री
२६४	२	माता	जाता
३१८	६	मिथ्यादृष्टि	सम्यग्दृष्टि
३४६	अंतिम	मिथ्या	अभूताथ
३६५	१६	कम	काम
	अंतिम	का	कारण
	६	का भी	का